

तृतीय परिवर्द्धित संस्करण १९६१

ॐ डॉ० नामवर सिंह

मूल्य ८००

प्रकाशक :

लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

मुद्रक :

भागवत प्रेस, इलाहाबाद ।

गुरुवर
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
को

।

तृतीय संस्करण की भूमिका

यह संस्करण द्वितीय संस्करण का संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप है। नवीन सामग्रियों के आलाप में पुस्तक के प्रथम खण्ड के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में परिवर्धन किया गया है साथ ही द्वितीय संस्करण का मूल भी यत्र-तत्र ठीक कर दी गयी है। आशा है प्रस्तुत रूप में पुस्तक और भी उपयोगी होगी। जिन विद्वानों से सहायता ला गई है उनके प्रति लेखक कृतज्ञ है।

सीताक कुंभ
वाराणसी
जून, १९६१

नामवर मिश्र

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का बाजारोपार्ण मई १९५१ ई० में काशी विश्वविद्यालय का एम० ए० परीक्षा के लिए प्रस्तुत निबन्ध कम्प में हुआ था। पाछे वह निबन्ध भाषा और साहित्य संस्था कुल्ल परिशिष्टों के साथ मात्र १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ। अरु पाँचों बाद इसका द्वितीय संस्करण अत्यधिक संशोधन और परिवर्धन के साथ प्रकाशित हो रहा है। फिर से लिखी जाने के कारण यों वा पूर्ण पुनर्क एकदम नया हो गया है, फिर भी इस संस्करण का कुल्ल मुख्य विशयनाए उल्लखनाय हैं -

१ परवर्त्तों अरु अरु और आरम्भिक हिंदा संस्था नवान सामग्री का समावेश।

२ अरु अरु और हिंदा वाक्य-विन्यास का तुलनात्मक विवेचन।

अरु अरु के कुल्ल परिशिष्ट तद्वय तथा देसी शब्द और उनके हिंदा रूपों की सूचा।

५ अरु अरु के प्राय सभी सूचित और ज्ञान ग्रथों की सूची।

५ अरु अरु के मुख्य कवियों, काव्यों और काव्य प्रवृत्तियों का विस्तृत समाचा।

६ अरु अरु और हिंदा साहित्य के ऐतिहासिक संबध पर विशय विचार।

इन विशयनाओं के साथ साथ प्रथम संस्करण का प्राय सभी आवश्यक भागों का समाहार कर लिया गया है और अनावश्यक भागें हटा दे दया हैं।

पुस्तक लिखन में जिन प्रथकारों से सहायता मिली है, उन सबके प्रति सन्धक कृतज्ञता जारित करता ह। आचाय कशवप्रसाद मिश्र डा० हजारप्रसाद द्विवेदा, डा परशुराम वैद्य और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे गुरुवरुनों से समय-समय वा कुल्ल मिला है उसक लिए आमार प्रदर्शन धृष्टता होगी। डा० वैद्य न प्रथम संस्करण के लिए वा प्राक्कषण लिखा है, वह उनक स्नेहाशा का प्रताक ह। भाई नमदेरवरु वा ने जिस आग्रह से यह पुस्तक तयार करवाई है उसक लिए धन्यवाद देना उचित हागा।

अत में निवेदन है कि विश पाठक अपने सवरामश द्वारा लेखक का अनुग्रहात करेंगे।

हिंदी विभाग

काशी विश्वविद्यालय

सितम्बर, १९५४ ई०

नामपर सिंह

भाषकथन

अभी कुछ ही दिनों से विद्वानों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास के अध्ययन की ओर ध्यान देना आरम्भ किया है। अध्ययन की इस दिशा में सबसे प्रमुख श्रद्धालु ऐसे भाषा-विद्वानों के अध्ययन की है जो प्राकृत नाम से अभिहित है और जिसके अन्तर्गत पाली, महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पशाची एवं अपभ्रंश आदि भाषाएँ आती हैं। इनमें पाली का वाङ्मय बहुत विशाल है जो विद्वानों द्वारा मुसम्मादित तथा प्रमथ रामन, सिंहला, उर्मा एवं क्यामा लिपि में मुद्रित है। समय-समय पर नागराक्षरों में भी पाली-साहित्य प्रकाशित होता आ रहा है। महाराष्ट्री, विशेषतः जैन महाराष्ट्री का बहुत विशाल साहित्य भी वर्तमान है जिसमें से कुछ विद्वानों को उपलब्ध भी है किन्तु शौरसेनी, मागधी एवं पशाची आदि अन्य प्राकृत भाषाओं का साहित्य अल्प है जो संस्कृत नाटकों एवं सट्टिका के कथन प्रारम्भिक दा चरणों में है। कहा जाता है कि गुणादय की वृत्तका एक विशालकाय ग्रंथ रहा है जो पशाची प्राकृत में था, किन्तु अब प्राप्य नहीं है। अपभ्रंश-साहित्य बहुत विशाल है और कुछ ग्रंथ प्रकाशित भी हुए हैं, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि श्राव से पचास वर्ष पूर्व १९०२ ई० में विशाल का 'मंडरियल्स ऑफ द नालेज अथ अपभ्रंश' नामक पुस्तक में अपभ्रंश के कुछ अर्थों का उपयोग करके ही संक्षुप्त ज्ञान पड़ा था।

'अपभ्रंश' का सटीक शाब्दात् अर्थ अचिन्तित अनुमान का विषय रहा है। पतञ्जलि का इस शब्द का ज्ञानकारा भी और उन्होंने अपने व्याकरण महामाध्य में इसका प्रयोग भी किया है, तहाँ यह विद्वत वा एम शब्दों का व्यापकता है जो संस्कृत के पाणिनि आदि विचारकों द्वारा स्वीकृत नहीं है अथवा जो अपभ्रंश या परपराच्युत हैं, या जो परित्र कमकायदों के अन्तर्गत पर प्रयोग का दृष्टि के अन्तर्गत हैं। इस बात का हमारे पास पुष्ट प्रमाण नहीं है कि शब्दों के अपभ्रंश रूप पतञ्जलि के समय तक शास्त्र-सम्मत थे या नहीं। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में तो पाणिनाय संस्कृत में अपभ्रंश लग सकता है, किन्तु उनके समय में उनकी संस्कृत शिष्टों की भाषा मान ला गयी थी। पृथ्वीय विचारकों द्वारा प्रयुक्त द्वाभ्या और भाषायाम् न स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में वैदिक संस्कृत अपभ्रंशित था और एक नयी भाषा आदिभूत हुई थी। मर विचार में इस प्रकार पुर्ण रूप का

अप्रचलित होना और नवीन रूपों द्वारा गोलचाल की भाषा का निमाण होना आज भी प्रचलित है। इस प्रकार वैदिक सस्कृत विकसित होकर शास्त्रीय अथवा पाणिनीय सस्कृत बनी जिसे हम 'भाषा' की सजा देते हैं। गण्य के समय में भी उक्त सस्कृत प्रचलित थी, किन्तु वह अपने मित्र ईशान का भाषा-कवि बतलाता है। (पुण्यदन्त न भी अपनी रचना महापुराण में इनका उल्लेख किया है।) भगत ने अपने नाट्य शास्त्र में सस्कृत और अपन समय में प्रचलित प्राकृत और उसकी विभाषाओं का उल्लेख किया है और द्धी आदि परास्त्री लेखकों ने महाराष्ट्र का भाषा का खड्गेठ प्राकृत के रूप में उल्लेख किया है। रुद्रट ने अपभ्रंश ष भेदों का प्रान्तीय भाषाओं के रूप में उल्लेख किया है। भरत अपभ्रंश शब्द का प्रयोग नहीं करते थे विभाषा और विशेषत आभीरों की विभाषा का उल्लेख करते हैं। वे एक एसी भाषा का भी उल्लेख करते हैं जिसमें नाम और आख्यात दोनों प्रकार के उकारान्त शब्दों की प्रधानता है जैसा कि शास्त्रीय अपभ्रंश में भा है। किन्तु उल्लेखनीय यह है कि केवल शास्त्रीय अपभ्रंश में हा 'उ' कारान्त शब्द नहीं मिलते। मैं भाषाशास्त्रियों का ध्यान, बौद्ध-साहित्य की सस्कृत पुस्तक 'ललित विस्तर' और 'सद्धमपुबरीक' का और आकृष्ट करना चाहता हूँ जिनमें 'उ' कारान्त नाम और आख्यात शब्दों का प्रयोग मिलता है। क्या हम इन पुस्तकों की भाषा का सस्कृत की विभाषा नहीं कह सकते? प्रसिद्ध 'धम्मपद' का एक प्राकृत रूपान्तर भी है जिसमें 'उ' कारान्त शब्द प्रायः आते हैं। तारानाथ ष प्रमाण पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बौद्ध त्रिपिटक में कई रूपों में पाये जाते हैं। उसमें पाली और अशत सरस्कृत रूप भी मिले हैं जिनसे हम परिचित हैं। 'धम्मपद' का प्राकृत रूप, जिसकी चचा हो चुकी है, त्रिपिटक का ही एक खण्ड है। बौद्धों के सामंतीय मत का भी एक त्रिपिटक अपभ्रंश में रहा है जो दुभाग्यवश उपलब्ध नहीं है और इसका खण्ड रूप भी अभी तक प्रकाश में नहीं आये हैं। तारानाथ ष प्रमाण पर हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि इसका अपभ्रंश रूप भी रहा है। जा हा, आदेश भाषा के साथ-साथ भाषाओं का अपभ्रंश रूप भी रहा है वैदिक सस्कृत के साथ उसका अपभ्रंश रूप में शास्त्रीय सस्कृत शास्त्रीय सस्कृत के साथ उसका अपभ्रंश रूप में 'ललित विस्तर' का बौद्ध सस्कृत और यह क्रम इसी प्रकार आगे भी चलता रहा है। अतएव, यह अनुमान ठीक ही है कि एक प्रकार का अपभ्रंश वैदिक सस्कृत के विकास के साथ-साथ रहा है और इसकी विशेषताएँ तत्कालीन प्रचलित शास्त्रीय रूपों पर आधारित रही हैं।

आज अपभ्रंश से हम एक प्राकृत भाषा का बाध होता है जिसका विशेषताएँ चड, हेमचंद्र, विविक्तिम, पुरुषोत्तम, माकण्डेय तथा अन्य वैयाकरणों द्वारा

निश्चित हैं। अपभ्रंश का अध्ययन भारत की आधुनिक भाषाओं व—विशेषतः हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला तथा उनकी उपभाषाओं के विकास को ठीक ठीक समझने के लिए अत्यावश्यक है। मुझ हार्ग है कि काशी विश्वविद्यालय के प्रतिभ सम्पन्न विद्यार्थी श्री नामवर सिंह, एम० ए०, जिन्होंने १९५१ ईस्वी में एम० ए० की पराक्षा में शीघ्र स्थान प्राप्त किया था, की धीसिध 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' पुस्तक रूप में आ रही है। लेखक ने अपभ्रंश भाषा सम्पत्तियों की सारी समस्याओं का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन उपस्थित किया है, यह नहीं अपने पूर्ववर्ती लेखकों की उन धाराणाओं की आलोचना भी का है जो उसे अमन्तापप्रद जान पड़ीं। पुस्तक के अन्त में उन्होंने कुछ परिशिष्ट भी जो दिये हैं या पाठकों के लिए उपयोगी हैं। मैं उनकी इस उत्तम कृति के लिए उन्हें बधाई देता हूँ और भाषाशास्त्रियों, विशेषतः स्वतंत्र भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी के विद्वानों को इसे पढ़ने के लिए आह्वाण करता हूँ।*

हिन्दू विश्वविद्यालय,
धनारस
१६ फरवरी १९५२

(डा०) पी० एल० वर्त

FOREWORD

It is only in recent years that scholars of Modern Indian Languages started taking interest in problems concerning the origin and growth of these languages. One of the most important links in this branch of studies is a scientific study of a group of languages known as the Prakrit languages such as Pali, Maharashtrai, Sauraseni, Magadhi, Paisachi and Apabhramsa. Of these Pali has got vast literature which is available to scholars in carefully prepared editions printed in Roman-script and laterly in Singhalese, Burmese and Siamese. Pali books in the Devanagari script are also appearing off and on. The literary works in Maharashtrai, particularly in Jain Maharashtrai exist in large number and some of them are available to scholars but works in other Prakrit languages such as Sauraseni, Magadhi and Paisachi is very scanty covering in the first two passages found in the Samskrit dramas and sattakas only. It is said that Gunadhya Brihat Katha reported to be a voluminous work was written in Paisachi Prakrit but is no longer extant. Literature in Apabhramsa is vast and a few works are available in print but it should be noted that in 1902 just fifty years back Pischel had to remain content with a few bits which he put into a small publication known as Materials for the knowledge of Apabhramsa.

The exact connotation of the term Apabhramsa has been a matter of considerable speculation. The term is known to Patanjali and used by him in his Vyakaran Mahabhasya where it signifies corrupt words or words not sanctioned by Samskrit grammarians like Panini and words which being Apabhrasta or degenerated are unfit to be used on occasions of sacred rituals. Whether the Apabhrasta forms in the age of Patanjali were standardised or not we have no sufficient evidence. To vedic seers even Panini's Samskrit might appear as Apabhrasta but in his age his Samskrit attained the status of a Bhasa of the ristas. Chhandasi and Bhasyam as used by early grammarians clearly indicate that in the age of Panini Vedic language had gone out of use and a new

निहित हैं। अपभ्रंश का अध्ययन भारत की आधुनिक भाषाओं में—विशेषतः हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला तथा उनको उपभाषाओं के विकास का ठीक-ठीक समझने के लिए अत्यावश्यक है। मुझे हर्ष है कि काशी विश्वविद्यालय के प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी श्री नामवर सिंह, एम० ए०, जिन्होंने १९५१ ईस्वी में एम० ए० का पराक्षा में शीर्ष स्थान प्राप्त किया था, की यीतिष्ठ 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' पुस्तक रूप में आ रही है। लेखक ने अपभ्रंश भाषा सम्बन्धी सारी समस्याओं का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन उपस्थित किया है, यही नहीं अपने पूर्ववर्ती लेखकों का उन धाराणाओं की आलाचना भी का है ता उसे अमन्तापप्रद जान पड़ें। पुस्तक के अन्त में उन्होंने कुछ परिशिष्ट भी जोड़ दिये हैं जो पाठकों के लिए उपयोगी हैं। मैं उनकी इस उत्तम कृति के लिए उन्हें बधाई देता हूँ और भाषाशास्त्रियों, विशेषतः स्वतंत्र भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी के विद्वानों को इस पढ़ने के लिए आह्वान करता हूँ।*

हिन्दू विश्वविद्यालय,
बनारस
१६ परवरी, १९५२

(डा०) पी० एल० वैद्य

FOREWORD

It is only in recent years that scholars of Modern Indian Languages started taking interest in problems concerning the origin and growth of these languages. One of the most important links in this branch of studies is a scientific study of a group of languages known as the Prakrit languages such as Pali, Maharastri, Sauraseni, Magadhi, Paisachi and Apabhramsa. Of these Pali has got vast literature which is available to scholars in carefully prepared editions printed in Roman-script and laterly in Singhalese, Burmese and Siamese. Pali books in the Devanagari script are also appearing off and on. The literary works in Maharastri, particularly in Jain Maharastri exist in large number and some of them are available to scholars but works in other Prakrit languages such as Sauraseni, Magadhi and Paisachi is very scanty covering in the first two passages found in the Samskrit dramas and sattakas only. It is said that Gunadhya Brihat Katha reported to be a voluminous work was written in Paisachi Prakrit but is no longer extant. Literature in Apabhramsa is vast and a few works are available in print but it should be noted that in 1902 just fifty years back Pischel had to remain content with a few bits which he put into a small publication known as Materials for the knowledge of Apabhramsa.

The exact connotation of the term Apabhramsa has been a matter of considerable speculation. The term is known to Patanjali and used by him in his Vyakaran Mahabhasya where it signifies corrupt words or words not sanctioned by Samskrit grammarians like Panini and words which being Apabhrasta or degenerated are unfit to be used on occasions of sacred rituals. Whether the Apabhrasta forms in the age of Patanjali were standardised or not we have no sufficient evidence. To vedic seers even Panini's Samskrit might appear as Apabhrasta but in his age his Samskrit attained the status of a Bhasa of the sistas. Chhandasi and Bhasyam as used by early grammarians clearly indicate that in the age of Panini Vedic language had gone out of use and a new

form of the language had made its appearance. In my view this process of old form becoming obsolete and new forms constituting a Bhasa i.e. a current language has continued even up to our age. So we have Vedic Samskrit and it developed into classical or Panini's Samskrit which was called Bhasa we have classical Samskrit current in the days of Bana but he mentions his friend Isan as Bhasa Kavi (he is also referred to by Pushpadant in his Mahapurana) Bharata in his Natyasastra has mentioned Samskrit as also Prakrit and its Vibhasa which were current in his times and subsequent writers like Dandi have referred to the language of Maharashtra as the best Prakrit. Rudrat refers to varieties of Apabhramsa as provincial forms. Bharata does not use the term Apabhramsa he mentions Vibhasa and particularly the Vibhasa of the Abhiras. He also mentions a Bhasa in which u as ending vowel of words both nouns and verbs figures prominently as in classical Apabhramsa. But it should be noted that classical Apabhramsa is not the only language which uses u ending words. I should like to draw the attention of linguists to the fact that Buddhist Samskrit e.g. the verses in Lalit Vistar and Sadharm Pundarika use several forms of nouns and verbs ending in u. We cannot call then the language of these works as Vibhasa of classical Samskrit. There is a version of the famous Dhammapad known as the Prakrit Dhammapad in which u ending forms figure prominently. We may even assume on the authority of Taranath that the Bauddha Tripitak exists in versions. The Pali and samskrit versions the latter in fragments are discovered and known to us. The Prakrit version of the Dhammapad which is a work of the Tripitak has been just mentioned. The Samitivya School of the Buddhists had their Tripitak in the Apabhramsa version unfortunately it is not extant and even fragments of this version have not yet come to light. We can still assume on the authority of Taranath that the Apabhramsa version was in existence. In any case Apabhramsa form of a language existed side by side with the standard form the classical Samskrit figuring as the Apabhrast form by the side of Vedic Samskrit. Buddhist Samskrit of Lalit Vistar figured as Apabhrast by the side of classical Samskrit and the Process went on further. It is therefore right to assume that

a type of Apabhramsa existed throughout the development of the Vedic Sanskrit its characteristic depending on the classical form current at the time-

Today however we understand by the term Apabhramsa a Prakrit language whose characteristics have been fixed by grammarians like Chand, Hemachandra Trivikrama Purusottama Markandeya and others The study of the Apabhramsa is essential for correctly mastering the growth of the languages of Modern India particularly Hindi Gujrati, Bengali Marathi and all their sub-dialects I am therefore glad to find Shri Namavara Singh M A a brilliant student of the Banaras Hindu University who topped the list of M A students in 1951 to come out with his thesis he offered at that examination on Hindi ke Vikas men Apabhramsa Ka Yoga and to make it available in a book form He has studied the entire problem of the Apabhramsa language scientifically and historically and has not hesitated to criticise the views of his predecessors where they appeared to him to be unsatisfactory To his thesis he has added a few appendices to make his study more useful to the readers. I congratulate him on his excellent work and commend it to linguists and particularly to the scholars of the Hindi language which has now rightly attained the status of the Rastrahhsa of free India

Hindu University Banaras }
16th February 1952

(Dr) P L. VAIDYA

12

विषय-सूची

प्रथम खण्ड भाषा

अध्याय

पृष्ठ

१ अपभ्रंश भाषा उद्भव और विकास

१६

अपभ्रंश सहा—अपभ्रंश का अर्थ—अपभ्रंश शब्द का प्राचीनता—संस्कृत व्याकरण में अपभ्रंश शब्द—गावी-गोणा आदि अपभ्रंश शब्दों का विश्लेषण—भाषा विशेष के लिए अपभ्रंश शब्द का प्रयोग—अपभ्रंश और देशभाषा—प्राकृतमेवापभ्रंश—अपभ्रंश का प्रकृति—प्रकृति संस्कृतम्—अपभ्रंश की विशिष्टता—उच्चार-बहुला भाषा—अपभ्रंश भाषा की आरम्भिक अवस्था—पश्चिमोत्तर भारत की वाली और अपभ्रंश—आमारी बोली और अपभ्रंश—आमारादि में आप्ति कौन ?—क्या अपभ्रंश मूलतः पञ्जाब, राजस्थान और गुजरात की वाली थी ?—अपभ्रंश के उत्थान का ऐतिहासिक कारण—अपभ्रंश के भेद—अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेद—दक्षिणी अपभ्रंश—पूर्वी अपभ्रंश—परिनिष्ठित अपभ्रंश और उसका मुख्य विशेषताएँ—लिपि-शैली का कठिनाइयाँ—ध्वनि-परिवर्तन के नियम—रूप-निर्माण की मुख्य प्रवृत्तियाँ ।

२ परवर्ती अपभ्रंश और उसमें हिन्दी के धोज

६५

परिनिष्ठित अपभ्रंश में देसी बोलियों का मिश्रण—परवर्ती अपभ्रंश में देशभेद—परवर्ती अपभ्रंश का पश्चिमी साहित्य—पश्चिमी प्रदेश के परवर्ती अपभ्रंश की विशेषता—ध्वनि संधी प्रवृत्तियाँ—रूप-निर्माण-संबंधी विशेषताएँ—पूर्वी प्रदेशों का परवर्ती अपभ्रंश साहित्य—पूर्वी प्रदेश के परवर्ती अपभ्रंश की विशेषता—उक्ति-व्यक्ति प्रकरण और मध्यदेशीय अपभ्रंश—उक्ति-व्यक्ति प्रकरण का भाषा का नमूना—ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति—रूप-रचना—कारक विभक्ति—सर्वनाम—क्रियापद—‘राउल बल’ और ग्यारहवीं शती का प्रादेशिक बालिया—आधुनिक भाषाओं का उदय—क्षेत्रीय भेद का कारण—गुजराती, मराठी और बंगला के उदय का कारण—हिन्दी बालियों का उदय—मैथिली और राजस्थानी अथवा ब्रजभाषा और राजी बोली—हिन्दी बोलियों के उदय पर प्रकाश डालने वाली सामग्री—राजी बोली की प्राचान्तम सामग्री ।

३ अपभ्रंश से हिंदी का उद्भव और विकास

१०६

कारक प्रिमक्ति—परसग—सर्वनाम—साधनामिक विशेषण—
 मंथ्यावाचक विशेषण—क्रिया—काल रचना—तिङन्त-उद्भव—शृङ्खल
 तद्भव—संयुक्त काल—संयुक्त क्रिया—अभ्यय—वाक्य विन्यास—
 शब्द-कोश ।

द्वितीय खण्ड साहित्य

१ अपभ्रंश साहित्य

१६६

अपभ्रंश साहित्य की सामग्री—पुराण साहित्य—रामकाव्य
 रघुवंश—विभुवन—पुष्पवंत—रामकाव्य के अथ कवि—कृष्णकाव्य
 और स्वयम्—कृष्णलाला और पुष्पवंत—पुष्पवंत का आदि पुराण—
 जैन परम्परा के अन्य पौराणिक पुरुषों-संघर्षी काव्य—चरित काव्य—
 नाग कुमार चरित—जसहर चरित—करकड चरित—कथा काव्य—
 भविष्यत् कथा—जैन मुनियों का रहस्यवादी काव्य—जोरदु का परमात्म
 प्रकाश और यागसार—रामसिंह का पादुङ्गाहा—बौद्ध सिद्ध कवियों का
 रहस्य साधना—दोहा काव्य—गुंजार और शीघ्र का रामायण काव्य—हेम
 प्राकृत व्याकरण के दोहे—मुंज के दोहे—सदेश रासक—नीति और
 सूक्ति काव्य—गद्य साहित्य—अपभ्रंश साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व ।

२ अपभ्रंश और हिंदी का साहित्यिक संबंध

२३६

हिंदी साहित्य के इतिहासकार और अपभ्रंश—अपभ्रंश और
 हिंदी का ऐतिहासिक सम्बन्ध—हिंदी साहित्य का आदिकाल और
 अपभ्रंश—आदिकालीन हिंदी साहित्य के अन्तगत अन्तर्विरोध—
 अपभ्रंश साहित्य के अन्तगत अन्तर्विरोध—परवर्ती अपभ्रंश का रुद्र
 काव्य और हिंदी के चारण काव्यों में उसका निर्वाह—हिंदी में अपभ्रंश
 की जायत परम्परा का विकास—अपभ्रंश लोकगीत और हिंदी के शृङ्गारी
 मुक्तक—वीरलदेव रास—दोहा मारू रा दूहा—अपभ्रंश कथाएँ और
 हिंदी के श्राव्यानाक काव्य—गम और कृष्ण मक्ति काव्य—अपभ्रंश का
 सिद्ध साहित्य और हिंदी सत काव्य—काव्य-रूप—छन्द—हिंदी में
 अपभ्रंश छंदों का निर्वाह और सुधार—हिंदी में अपभ्रंश के काव्य रूपों
 का निर्वाह और सुधार—काव्य रूढियाँ—कथानक-सम्बन्धी 'मादिक' या
 रूढि ।

अपभ्रंश

२८१

चरितशास्त्र अपभ्रंश दोहा संग्रह

२८७

सहायक साहित्य

१—५

संक्षिप्त रूप

हिन्दी

उक्ति	उक्ति व्यक्ति प्रकरण
कवार०	कवीर-अपावली
कीर्ति०	कार्तिलता
जस०	जसहर चरित
पद्मा०	पद्मावत
प च०	पउम चरित
महा	महापुराण
मानस	रामचरितमानस
वण०	वखर नाकर
स० रा	सदेश रासक
सुदामा०	सुदामाचरित
हि० प्रै० अ०	हिस्टोरिकल ग्रैमर अँव अ०प०अ०
हेम	हेमचन्द्र-कृत प्राकृत व्याकरण अंग्रेजी
BSOAS	Bulletin of the School of Oriental and African Studies
DCRI	Deccan College Research Institute
GOS	Garkwar Oriental Series
JRASB	Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal
SJS	Singhi Jain Series

1111

21

प्रथम खण्ड : भाषा

अपभ्रंश भाषा

उद्भव और विकास

भारतीय आर्यभाषा के विकास की जो अवस्था अपभ्रंश नाम से जानी जाती है, उसके लिए प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में अपभ्रष्ट और अपभ्रश तथा प्राकृत अपभ्रंश ग्रंथों में अयमस, अयहस, अवहत्य, अवहृह, अवहठ, अवहट, 'अपभ्र ग' सहा आदि नाम मिलते हैं। संस्कृत में प्रायः अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग किया गया है, 'अपभ्रष्ट' शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण जैसे दो एक ग्रंथों ने ही 'अपभ्रष्ट' शब्द का व्यवहार किया है।^१ अयमस और अवहंस शब्द अपभ्रंश के ही उद्भव रूप हैं। प्राकृत अपभ्रंश के ग्रंथों में जहाँ संस्कृत के लिए सकृय और प्राकृत के पाइय, पाउंअ आदि रूप व्यवहृत हैं, वहाँ अपभ्रंश का अयमस और अवहंस हो जाना स्वाभाविक है। उचातन की 'सुचलय माला कहा'^२ (८वीं शताब्दी ईस्वी) तथा पुष्पदन्त क महापुराण^३ (१०वीं शताब्दी ईस्वी) में ये दोनों शब्द मिलते हैं।

इसी प्रकार अवहत्य, अवहृह, अवहट, अवहट, आदि रूप अपभ्रष्ट के उद्भव हैं और इनका प्रयोग परवर्ती कवियों में विशेष पाया जाता है। स्वयम्भू ने अपनी रामायण^४ (८वीं शताब्दी ईस्वी) में 'अवहत्य' शब्द का प्रयोग किया है। शप शब्दों का प्रयोग अहहमाण क सदेसरासक^५ (१२वीं शताब्दी ईस्वी),

१ अपभ्रष्ट तृतीयं च तानन्त नराधिप । (खण्ड ३ अध्याय ३)

२ किं चि अवहंस-कथादा (मल्लेह मास्टर द्वारा B S O A S XIII २ में उद्धृत) ता कि अवहंस होहि ? (अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृ० १७ पर उद्धृत)

३ सकृय पापउ पुण अवहंसउ । (सप्त ५ कदवक १८)

४ अवहत्ये वि सन-मणु शिरवसेसु । (रामायण—१।४ हिंदी काव्यधारा में उद्धृत)

५ अवहृह्य-सकृय-यादयैमि पेसादयैमि भासाए ।

मस्तण छाहरण सुकइत भूसिम जहि ॥ (प्रथम प्रक्रम ६६६)

ज्योतिरिवर के वर्ण-रत्नाकर^१ (१४वीं शताब्दी ईस्वी का पूषाद) विद्यापति की कीर्तिलता^२ (१४वीं शताब्दी ईस्वी का उत्तराद) और प्राकृतपैद्गलम् की धरोहर वृत् टीका^३ (१६वीं शताब्दी ईस्वी) में मिलता है ।

अपभ्रंश अर्थ समान होते हुए भी अनेक कारणों से इस भाषा के लिए संस्कृत की अपभ्रंश संज्ञा ही गृहीत हुई ।

अपभ्रंश का साधारण अर्थ स्पष्ट है । अपभ्रंश अर्थात् भ्रष्ट, व्युत्, स्तलित, विकृत अथवा अशुद्ध । भाषा के सामान्य मानदण्ड से जो शब्द-रूप प्युत हों, वे अपभ्रंश हैं । यह अर्थ है कि भाषा का एक सामान्य मानदण्ड बोलियों के अनेक विकृत शब्द रूपों से ही स्थिर होता है, किन्तु उसके साथ ही यह भा निश्चित है कि लोक व्यवहार में उस सामान्य मान का भी विकार होते रहते हैं ।

संभव है, प्रतिमान पर दृष्टि रखने वाले विद्वानों ने ऐसे विकारों को अपभ्रंश कहने की परिपाटी बना दी हो । लेकिन इस तरह के अर्थ तथा ऐसे ही दूसरे अर्थ अनुमान के ही विषय हो सकते हैं । अपभ्रंश शब्द का सटाक अर्थ जानने के लिए उसके प्रयोग का इतिहास देखना अधिक संगत होगा ।

प्राचीन ग्रंथों से पता चलता है कि समग्रकार व्याडि को अपभ्रंश शब्द की जानकारी थी । मत्सरि ने वाक्यपदीयम् की वृत्ति में शब्द प्रकृति पर विचार करते हुए लिखा है कि समग्रकार के अनुसार अपभ्रंश की प्रकृति अपभ्रंश शब्द की शब्द अर्थात् संस्कृत शब्द हैं ।^४ समग्रकार व्याडि का उल्लेख पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया है ।^५ इससे इतना ही स्पष्ट है कि व्याडि महाभाष्यकार के समय (दूसरी शती ईस्वी पूर्व) से पहले हुए थे । लेकिन अभी तक व्याडि का अर्थ उपलब्ध नहीं हो सका है,

१ पुनः कइसन भाट संस्कृत पराकृत अथवहठ पेशापी सौरसेनी भागवी छह भाषाक तत्वज्ञ (पण्ड कस्तोभ पृ० ४४)

२ देविल वचना सबजन मिट्टा । छँ संसन जम्पजी अथवहट्टा ॥ (पृ० ६)

३ प्रथमो भाषा तरह प्रथम भाषा भाषा अथवहट्ट भाषा (प्रथम भाषा की टीका)

४ शब्द प्रकृतिरपभ्रंश इति समग्रकारो । (वाक्यपदीयम्-काण्ड १ कारिका १४८ का वार्तिक)

५ महाभाष्यम्—कीलहार्न संस्करण भाग १ पृ० ६ और ४६८ भाग १ पृ० ३५६ ।

इसलिए परोक्ष प्रमाण के आधार पर अपभ्रंश शब्द का इतिहास इतना पहले दिखाना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता ।

अपभ्रंश शब्द का स्पष्ट उल्लेख पतञ्जलि के महामाष्य में मिलता है^१ । पतञ्जलि ने उदाहरण देकर अपभ्रंश-संबंधी अपना विचार और भी स्पष्ट कर दिया है । उनका अनुसार गौ जैसे शब्द 'शब्द' हैं अर्थात् साधु शब्द हैं और लोक में इसके गावी, गाणी, गोता, गोपोतलिका आदि जो विविध रूपान्तर मिलते हैं, वे अपशब्द अथवा असाधु शब्द हैं । इन्हें ही महामाष्यकार ने अपभ्रंश कहा है ।

पतञ्जलि जैसे लोकवादी मुनि के मुख से बोली के शब्दों के लिए अपशब्द और अपभ्रंश शब्द का प्रयोग सुनकर आश्चर्य होता है क्योंकि उन्होंने स्थान स्थान पर लोक-प्रचलित शब्द-रूपों को लक्षित ही नहीं किया है बल्कि शब्द-प्रयोग के विषय में लोक का ही प्रमाण माना है । महामाष्य का वैयाकरण और सूत सवाद प्रसिद्ध है जिसमें शब्द प्रयोग को लेकर वैयाकरण को सूत के सम्मुख मुँह की खानी पड़ती है । यही नहीं, महामाष्यकार ने अनेक जगह शब्द को 'लोक विज्ञान' कहा है । 'लोकतो अथ प्रयुक्ते शब्द-प्रयोगे शास्त्रेण धमनिदमो क्रियते' यार्तिक पर माष्य करते हुए जो यह कह सकता हो कि 'अभ्यन्तरोऽहं लाके न त्वहं लोकः' उसके द्वारा लोक में व्यापृत बोली के शब्दों के लिए अपशब्द का प्रयोग किया जाना कुछ विरम्यकर ही लगता है ।

एसा प्रतीत होता है कि महामाष्यकार ने उक्त कथन के द्वारा देववाणी संस्कृत के तत्कालीन आचार्यों का सामान्य विचार व्यक्त किया है । अपशब्द अथवा अपभ्रंश से उनकी घृणा का नहीं, बल्कि दृष्टिकोण विशेष का पता चलता है ।

आगे चलकर हम देखते हैं कि व्याकरण में अपभ्रंश शब्द का यह अर्थ रुद्ध हो गया । यही नहीं, वैयाकरणों ने प्रायः 'गौ' वाले यही उदाहरण भी दुहराये हैं । दण्डी (७वीं शती ईस्वी) ने इसी परंपरा की ओर संकेत संस्कृत व्याकरण में करते हुए कहा है कि शास्त्र में संस्कृत से इतर शब्द को अपभ्रंश शब्द अपभ्रंश कहा जाता है ।^२ यहाँ शास्त्र से दण्डी का अभिप्राय संस्कृत के व्याकरण शास्त्र से है । दण्डी के इस कथन की

१ भ्यासोऽपभ्रंशः अस्वीयांस शब्दा इति । एकस्मिन् हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तत्रथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्यथमादयोऽपभ्रंशाः (यही पदपराङ्मिक)

२ शास्त्रेषु संस्कृतान्ध्यापभ्रंशतयोन्मितम् । (काव्याश्रय १।३६)

३ समानशब्दं विभ्रष्ट देशगतमपि च । (नाट्यशास्त्रम्—१०।३)

पुष्टि श्लोक वैयाकरणों द्वारा होती है। भरतमुनि ने समान शब्द क अतिरिक्त जिष्ठ विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग किया है, यह वही अपभ्रंश है। मट्टहरि (५ वीं शती) ने संस्कारहीन शब्दों का अपभ्रंश कहे जाने का उल्लेख किया है।^१ महामाध्यक टीकाकार कैयट (१० वीं शती ईस्वा) ने भी उन शब्दों को अपभ्रंश कहा है जो साधु शब्दों व समान अथ म लाक मं प्रयुक्त हात हैं।^२ इसी तरह अथ रुक्मिणी वैयाकरणों का भी मत उद्धृत किया जा सकता है। इनसे व्याकरण शास्त्र म प्रचलित अपभ्रंश शब्द की उक्त अथ परंपरा सहज ही पुष्ट होती है।

यहाँ एक बात की और विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना अनुचित न होगा कि इन वैयाकरणों ने रुक्मिणी से इतर भाग अथवा बोलों के लिए ता प्राकृत शब्द का प्रयोग किया, लेकिन संस्कृत से इतर शब्द के लिए अपभ्रंश शब्द का।

एहना ही प्रश्न उठता है कि गाथी, गोथी आदि अपभ्रंश शब्द किस लोक भाषा के थे ? इन शब्दों का सम्बन्ध किन प्राकृतों से था ? इस प्रश्न का समाधान महामाध्यक में तो नहीं मिलता, लेकिन प्राकृतिक-व्याकरणों में गाथी-गोथी आदि इनको समझने के कुछ सूत्र अथवा प्राप्त होते हैं। चण्डने अपभ्रंश व शब्दों का प्राकृत-लक्षणम् में गा के प्राकृत रूप 'गाथी' का उल्लेख विवक्षित किया है।^३ हेमचन्द्र ने भी गोथी आदि प्राकृत रूपों का समर्थन किया है।^४ श्वेताम्बर जैनों के अध्यात्मगी प्राकृत में लिखित ग्रंथों में भी गाथी और गोथी रूपों को लक्षित किया गया है।^५ इस प्रकार अपभ्रंश शब्दों पर विचार करते हुए वैयाकरणों का ध्यान क्रमशः संस्कृततर भाषाओं अथवा बालियों की ओर गया और शास्त्र ही अपभ्रंश शब्द भाषा विशेष के लिए भी प्रयुक्त होने लगा।

बहुत संभव है गाथी, गोथी आदि अपभ्रंश शब्द मूलतः गोपालक आमीर

१ शम्भरसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुज्यते ।

समपभ्रंशानि चन्ति विशिष्टापनिधिशिनम ॥ (भाष्यपरदीपक भाष्य १ वारिका १४८)

२ अपभ्रंशो हि लोके प्रयुज्यते साधुशब्दसमानधरम् ।

३ गौर गाथी । (प्राकृतसंज्ञणम् २ १६)

४ गोथान्य । (सिद्ध हेम शम्भानुशासन ८ २ ७)

५ श्रीरीखियामो गाथीमो (भाष्याराङ्ग श्रु० २ ७० ४)

गोथीणं समेहल (व्यवहारसूत्र उ ४) इत्यादि ।

[अपभ्रंशकाव्यप्रपी भूमिका पृ० ७२ पर उद्धृत]

जाति का चोभियों में प्रयुक्त हात रहे हों। दण्डी का यह कथन कि काव्यों में
 आमीर आदि की भाषा को अपभ्रंश नाम से स्मरण किया
 भाषा विनोय क जाता है,^१ इस प्रसंग में विशय महत्व रखता है। दण्डी के
 लिए अपभ्रंश ग इसा कथन से यह भा अनुमान किया जाता है कि भरत मुनि
 शब्द का प्रयोग ने जिस आभारात्ति का नाम लिया है^२ वह अपभ्रंश हा थी।
 लेकिन भरतमुनि द्वारा अपभ्रंश शब्द का प्रयोग न किया
 जाना कुछ तो श्रय रखता हा है। कहा ना सकता है कि तीसरी शती तक भाषा
 विशय के श्रय में अपभ्रंश शब्द का स्याक प्रसार नहीं हुआ था।

भाषा-विशय क श्रय में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग प्राय छठी शती इस्वी
 के आस-पास मिलता है। प्राकृत वैराकरणों में चण्ड प्रथम हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप
 से अपभ्रंश भाषा का नामोल्लेख किया है।^३ इसा तरह सस्कृत आलकारिकों में
 मामह का अपभ्रंश के प्रथम नामोल्लेख का श्रेय है।^४ इन सबक साथ ही बलमी
 के राजा घरसेन द्वितीय क तास्रमत्र (छठी शता ईस्वा) से भा अपभ्रंश नामक भाषा
 क अस्तित्व का पुष्टि हाता है, तिसमें द्वितीय घरसेन ने अपने पिता गुहसेन का
 सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की प्रवच-रचना में निपुण कहा है।^५ इन
 सभी उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि ईसा की छठी शतादी तक आते आते
 भाषा क श्रय में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग होने लगा था। यही नहीं, बल्कि
 सस्कृत आलकारिकों द्वारा अपभ्रंश में काव्य-रचना भी लक्षित का गयी। इसक
 साथ हा यह भी पता चलता है कि सस्कृत के आचार्यों ने सस्कृत और प्राकृत
 (महागान्धा) क याद तासरा ध्यान अपभ्रंश का ही दिया, शौरसेना मागधी पैशाची
 आदि किसा प्राकृत को नहीं। ध्यान देने की बात है कि जो अपभ्रंश शब्द ईसा
 स दा शतादी पूव अगणिनाय अपभ्रंश के लिए प्रयुक्त हाता था, वही इसा की
 छठी शतादी तक आते आते एक साहित्यिक भाषा का सज्ञा बन गया।

फिर भा इस भाषा को बहुत दिनों तक देशभाषा ही समझा जाता रहा।

१ आमीरात्तिर काव्यप्यपभ्रंश इति स्मृता । (काव्यांश १ ३६)

२ आभोरोक्तिः शावरो स्यात् प्राविद्धो द्विहात्तु ।

(नाटयशास्त्रम् १७-५५)

३ न सोपोपभ्रंशो रफस्य । (प्राकृतलक्षणम् २ ३७)

४ शम्भार्यो संहितौ काव्य गद्यपद्य च सन्धिः ।

सस्कृत प्राकृत धातुप्यपभ्रंश इति विधा ॥ (काव्यालङ्कार १ १६)

५ सस्कृतप्राकृतप्यपभ्रंश भाषात्रय प्रतिबद्ध प्रवचरचना-निपुणान्त करण

संस्कृत के आचार्यों ने तो इसे देशभाषा कहा ही,^१ स्वयं अपभ्रंश कवियों ने भी अपनी भाषा को देशभाषा के रूप में स्वीकार किया। स्वयंम् अपभ्रंश और देशभाषा ने अपनी रामायण को 'प्रामीण भाषा' अथवा 'देशी भाषा' में रचित बसलाया है।^२ अपभ्रंश के दूसरे महान कवि पुण्यदन्त न भी 'देशी' नाम से अपभ्रंश को और संकेत किया है।^३ इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अपभ्रंश से पहले प्राकृत का देशी कहने की प्रथा थी^४ और प्राकृत से भी पहले पालि के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता था। भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश देशभाषा (पालि) में ही किया था और उही भाषा में उन्हें सुरक्षित रखने का आदेश भी दिया था। इसी तरह पालि से पूर्व पाणिनीय संस्कृत भी केवल 'भाषा' कहलाती थी क्योंकि छद्मस् की भाषा की तुलना में वह लोक भाषा थी। स्वयं पाणिनि भी अपने समय की योलचाल की भाषा संस्कृत का व्याकरण लिखते समय बीच-बीच में छद्मस् की आर्य-भाषी की भी विशेषताएँ आँकते गये।

वास्तव्य यह है कि प्रत्येक युग में साहित्य-रूढ़ भाषा के समानान्तर कोई न कोई देशी अवश्य रही है और यही देशी भाषा उस साहित्यिक भाषा का नया जीवन प्रदान कर सदैव विकसित करती चलती है। छद्मस् की भाषा ने तत्कालीन देशी भाषा से शक्ति अर्जित करके संस्कृत का रूपग्रहण किया और फिर संस्कृत अपने समय की देशी भाषा के सहयोग से प्राकृत के रूप में दली। अक्सर आने पर प्राकृत को भी अपनी आन्तरिक रूढ़ि दूर करने के लिए लोक भाषा की सहायता

१ षष्ठीऽत्र भूरिभेत्ते देशविशेषादपभ्रंशः । (हण्टकृत काव्यालङ्कार २१२)
लोकेषु परस्वान्ध्रभ्रष्टयज्ञं नयं हि तद्देशविशेषविहारम् ।

(विष्णुधर्मोत्तर ३७)

२ देशी भाषा उभय तद्गुणसु । कवि दुषकर धण्ड-सहृत्तिनायल । (रामायण १)
धुक्तं होति सुहाविय-वयणाह । नामेल्ल भास परिहरणाह ॥

(रामायण १३)

३ एत हतं होमि विवक्षणु ए मुखमि लक्षणु धंडु देशि ए विवाणमि ।

(महापुराण १८)

४ पाणिनिएण रदया विस्परभो तद् य देशियणो हि ।

नामेण तटेङ्गवई कहा विधिसा य विठला य ॥ (पाणिनिए तरङ्गवती
कथा पाहुङ्ग दोहा की भूमिका में उद्धृत)

सेनी पत्री फलत भारतीय आयभाषा की अपभ्रंश अवस्था उत्पन्न हुई, जिसने आगे चलकर सिंधी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज, अवधी आदि आधुनिक देशी भाषाओं का जन्म दिया।

विकास के इस क्रम में ऐसी अवस्था आती है जब आरंभिक देश भाषा शिष्टों की साहित्यिक भाषा बन जाती है और वैयाकरण लोग उसका नियम लिखते समय शिष्टों के प्रयोग को सामने रखते हैं। जिस अपभ्रंश को महाकवि स्वयंमू ने 'गामल्ल मास' कहा या उसे हा ११वीं शताब्दी ईस्वी के वैयाकरण पुरुषोत्तम ने शिष्टों के प्रयोग से जानने की सलाह दी।^१

फिर भा आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों में इस प्रश्न को लेकर काफी विवाद हुआ है कि अपभ्रंश वास्तविक देशभाषा अर्थात् बोलचाल का भाषा थी या नहीं। एक आर दिशेल प्रियसन, भण्डारकर, चटर्जी, बुलनर जैसे विद्वान हैं जो अपभ्रंश को 'देशभाषा' मानते हैं। दूसरी ओर याकोबी, कीथ, ज्यूल ब्लाख, अल्सटाफ प्रमृति विद्वान हैं जो अपभ्रंश को देशभाषा मानने से इनकार करते हैं।

देशभाषा-पद की स्थापना करते हुए दिशेल ने अनक प्राचीन प्रमाणों के अतिरिक्त 'प्राकृत पैगलम्' के टाकाकार रयिकर का एक कथन उद्धृत किया है जिसमें अपभ्रंश के दो प्रकार बताए गए हैं एक तो वह अपभ्रंश जो प्राकृत से उत्पन्न हुए है और जो शब्द-रचना तथा रूप-रचना में प्राकृत को लीक से नहीं हटती दूसरी अपभ्रंश वह है जो 'देशभाषा' है।

प्रियसन ने प्रसंगात् अनक स्थानों पर अपभ्रंश की चर्चा की है और किसी-न किसी रूप में उसे देशभाषा स्वीकार किया है किन्तु उन बच्चों में कुछ-न-कुछ अंतर है। जैसे 'लैंग्वेजेज आफ इंडिया' निबंध में उन्होंने अपभ्रंश की इतनी व्यापक परिभाषा की है कि उसका अंतगत बोलचाल की प्राकृतों का भी सम्मिलित कर लिया है और उन्हें आरंभिक अपभ्रंश कहा है लेकिन इसके साथ ही परवर्ती अथवा वास्तविक अपभ्रंश से उसे भिन्न माना है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' (विल् १, पृ० १२३) में प्रियसन ने अपभ्रंशों का प्राकृत का स्थानाप अथवा प्रादेशिक विकार कहा है। इस प्रकार 'ऑन द माइन् इंडा आयन बनाव्जुलस' (इंडियन एटान्वरी, जिल्द ६०) में उन्होंने अपभ्रंश के अन्तगत बोलचाल का प्राकृतों कालने से इनकार करते हुए अपभ्रंश का साहित्यिक प्राकृतों के बाद की देशभाषा माना है।

चटर्जी आदि अन्य अन्य परवर्ती भाषाविदों ने दिशेल तथा प्रियसन का

१ शय शिष्टप्रयोगान । (पुरुषोत्तम १७-६१)

अनुगमन करत हुए अपभ्रंश व देशभाषा स्थापित कर लिया है।

परंतु याकाशी ने 'मविभक्त कहा' का भूमिका^१ लिखत हुए १९१८ में ही विशाल व मन का इत्यादि विरोध किया था। याकाशी व अनुसर भारत की अपेक्षा अपभ्रंश में 'श' शब्द तथा धातु निगमदेव बहुत अधिक हैं किन्तु उन देशी शब्दों और धातुओं का एकमात्र सार देशभाषाओं का मानना ठीक न होगा क्योंकि अपभ्रंश में प्राप्त होने वाले व देशी शब्द आधुनिक भाषाओं में बहुत कम मिलते हैं। यदि अपभ्रंश व देशी शब्द देशभाषाओं से प्राप्त होते तो उन शब्दों को देशभाषाओं से विकसित होने वाली आधुनिक भाषाओं में भी मिलना चाहिए था। वृत्ति एसा नहीं हुआ इसलिए अपभ्रंश का देशभाषा मानना कठिन है।

याकोशी ने 'मविभक्त कहा' व शब्दों की सम्यक् परीक्षा करके निम्नलाया है कि इस ग्रंथ व लगभग चार हजार शब्दों में देशी शब्द मुश्किल से पाँच प्रतिशत हैं, इसलिए अपभ्रंश का देशभाषा-जैसा मानना असंगत होगा।

याकाशी ने वाग्मट के उस कथन की भी अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है जिसका विशाल न अपभ्रंश का देशभाषा प्रमायित करने के लिए उद्धृत किया था। वाग्मट ने कहा था कि 'अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धतत्पदशंभु भाषितम्।' इसका अर्थ विशाल ने यह लिया था कि अपभ्रंश भिन्न देशों अथवा प्रदेशों की शुद्ध को दुर्द भाषा है। याकाशी की राय में वाग्मट व कथन का तात्पर्य यह है कि अपभ्रंश यह है जो एक एक देश में शुद्ध रूप से बोली जाता है अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का मिश्रण नहीं होता। याकोशी के अनुसार इस कथन में अपभ्रंश तथा देशभाषा का एक नहीं माना गया है। इससे एसा आभास होता है कि स्थानीय अथवा लोक-प्रचलित बोली तो शुद्ध है किन्तु अपभ्रंश शुद्ध नहीं है क्योंकि वह प्राकृत से प्रमायित है। इस प्रकार याकोशी अपभ्रंश में कुछ देशी तत्वों का मिश्रण या स्वीकार करत हैं किन्तु अपभ्रंश का पूर्णतः देशभाषा नहीं मानते।

प्यूल ब्लाख ने 'लॉ लाग मराठा' तथा 'ल इंदोआया दो प्रयोग प्रमगान्' अपभ्रंश की चर्चा की है। मराठी भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने अपभ्रंश को अन्तःप्रताय विचार विनिमय की भाषा कहा है। ब्लाख के विचार से अपभ्रंश का संबंध किसी विशेष क्षेत्र से नहीं था। उनका अनुसर अपभ्रंश व आ रूप आधुनिक भाषाओं अथवा देशभाषाओं से समानरूपता प्रकट करत हैं उसका कारण आधुनिक भाषाओं की लेखनशैली में उनका लिखा जाना है, न कि प्राकृत क

१ डा एस० एन० घोषाल इत अंग्रेजी अनुवाक जनन भाक दि मोरिएटल इन्स्टीट्यूट बंगौरा १९५५, ५५, ५६ इ०।

रूपों में होने वाले ध्वनिविकार जो कि भाषा की विकास प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं।
वैसे एक स्थान पर ब्लाख यह स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश आरम्भिक रूप में एक क्षेत्र की वास्तविक देशभाषा से ही उत्पन्न हुई थीं किन्तु शायद ही प्राकृत से अत्यधिक प्रभावित हो गईं और कालक्रम से उसका एक परिनिष्ठित रूप स्थिर हो गया।

अल्सडॉर्फ अपभ्रंश को इसलिए देशभाषा मानने से इनकार करते हैं कि अभी तक अपभ्रंश का कोई गद्य-ग्रन्थ नहीं मिला है। यद्यपि वे अपभ्रंश की मुख्य भाषा प्रकृति को देशभाषा से ही उत्पन्न मानते हैं किन्तु उस पर प्राकृत का गहरा रंग देखकर अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा मानना ही सरल समझते हैं।

कीथ ने 'हिस्ट्री आफ़ सस्कृत लिटरेचर' (पृ० २२) में अपभ्रंश पर विचार करते हुए साफ़ शर्तों में अपभ्रंश को देशभाषा मानने से इनकार किया है और साथ ही दृढ़ता से यह स्थापना भी की है कि अपभ्रंश आधुनिक भाषाओं के विकास का आवश्यक सोपान नहीं था। अपने मत की पुष्टि में फायन हम्मचंद्र का प्रमाण के रूप में उपस्थित किया है जो, कीथ के अनुसार, अपभ्रंश को देशभाषा-ग्रंथ नहीं मानते। कीथ के विचार से अपभ्रंश प्राकृत को सरल करने का एक प्रयास है जिसमें प्रधान रूप से प्राकृत शब्द तथा बहुत कुछ प्राकृत व्याकरण के रूप मौजूद थे। अपभ्रंश और पुरानी गुजराती के कुछ रूपों में समानता देखते हुए भी कीथ ने चेतावनी दी है कि इससे प्रेरित होकर अपभ्रंश को गुजराती का स्रोत मानना भ्रम होगा क्योंकि जो समान तत्व दिखाई पड़ते हैं वे यस्तुत उस पुरानी देशभाषा के हैं जो प्राकृत और अपभ्रंश से भी पुरानी है और कालक्रम से प्राकृत तथा अपभ्रंश में आ मिल। इसलिए ब्लाख ने भी मराठी का उद्भव दिखलाते हुए अपभ्रंश का उपयोग नहीं किया है।

कीथ के इन विचारों का खंडन काशी हिंदू विश्वविद्यालय के परिद्वत केशव प्रसाद मिश्र ने 'इंडियन एटिक्वेरी (१९३१) में प्रकाशित करवाया था। उन्होंने हम्मचंद्र प्राकृत व्याकरण के कुछ अपभ्रंश दोहों को आधुनिक देशभाषा के अनुसार यत्किंचित् रूपान्तर करके प्रमाणित कर दिया था कि अपभ्रंश आम की एक जावित बालचाल की भाषा के कितना निकट है।^१

यस्तुत यह सारा विवाद इसलिए है कि अपभ्रंश संबंधी प्रस्तुत ज्ञान जिन सामग्रियों पर आधारित है उनमें से कुछ तो आलंकारिकों एवं वैयाकरणों के सुदृढ विचार हैं और शेष काव्य-साहित्य और यह साहित्य भा अधिकारत एक विशय

१ प्रस्तुत समस्या पर विभिन्न विद्वानों के मतों की विस्तृत जानकारी के लिए दक्षिण डा एम० एन० घोषाल का निबंध बन्नेवर्सी मोनर द मिनिस्त्रिक्स प्राकृत अपभ्रंश (जनरल आफ़ एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता जिल् २२ वॉइ १९५६ई०)

सम्प्रदाय-परंपरा से प्राप्त है। जब तक उस समय की बालबाल की भाषा का पता देने वाली कोई अन्य प्रामाणिक सामग्री नहीं मिलती तब तक हमें अपभ्रंश के प्राप्त साहित्य से परीक्षण से ही देशभाषा का निश्चय करना होगा। और जो विद्वान अपभ्रंश को देशभाषा मानने से इनकार करते हैं उनके कथन में भी इतना तो निश्चित है ही कि अपभ्रंश में देशभाषा के पयाप्त तत्व प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि देश भाषा अपभ्रंश एकत्र नय त्रिरे से उत्पन्न नहीं हुई थी बल्कि उसकी पूर्ववर्ती साहित्यिक प्राकृत है। देशी भाषाओं का योग से अपभ्रंश की उत्पत्ति में विकसित हो गई। नमिसाधु ने इसी प्राकृतमेवापभ्रंश श्रुत को अपने ढंग से इस प्रकार लिखा है कि प्राकृत ही अपभ्रंश है।^१ परंतु विद्वानों ने इस कथन को बहुत दूर तक स्वीचकर प्राकृत और अपभ्रंश की अमेदता स्थापित करने की चेष्टा की है। उही बात का पता लगाने के लिए नमिसाधु के कथन का पूरा प्रसंग समझना आवश्यक है।

नमिसाधु का उक्त कथन छदट की जिस कारिका में संबद्ध है, यह इस प्रकार है—

प्राकृत संस्कृत-भाषण विगाधभाषाश्च सूरसेनी च ।

पठोऽत्र भूरिभेरी देगविशयः।५५५५ ॥।

इस पर टीका करते हुए नमिसाधु ने सबसे पहले प्राकृत को संस्कृत से भी पूर्व तथा सर्वप्रथम स्थान दिए जाने का कारण बतलाया है और इसका साथ ही प्राकृत की परिभाषा भी दी है। पश्चात् संस्कृत की परिभाषा भी है। इसके बाद क्रमशः मागधी, पेशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश का लक्षण कहा गया है।

उदाहरण-स्वरूप मागधी की विशेषता बतलाते हुए नमिसाधु ने लिखा है कि 'प्राकृतभाषणं क्रिचिद्विशेषलक्षणा भागधिका भवते।' अर्थात् प्राकृत भाषा ही कुछ विशेष लक्षणों के साथ भागधिका कही जाती है। इसके बाद नमिसाधु ने मागधी के उन विशेष लक्षणों को सादाहरण निर्दिष्ट कर दिया है। इसी तरह उन्होंने पेशाची, सूरसेनी आदि को भी कितित् विशेषता के साथ प्राकृत कहा है।

जब भाषा क्रम में अपभ्रंश का नाम आया तो उसी तरह अपभ्रंश को भी उन्होंने प्राकृत बतलाया। अपभ्रंश का लक्षण बतलाते समय नमिसाधु ने इतनी विशेषता दिखलाई कि उसके मान भदों का भा उल्लेख किया और उसके लक्षण के लिए विशेष रूप से लाफ का ही मुल्य खोत माना। इतना ही नहीं, उन्होंने इस लक्षणों का उल्लेख भी विस्तार से किया।

उपयुक्त प्रसंग में 'प्राकृतनेवापभ्रंश' कथन को देखने से स्पष्ट हो जाना कि —

१ प्राकृत से नमिसाधु का अमिप्राय महाराष्ट्री प्राकृत है ।

२ अन्य प्राकृतों की भाँति अपभ्रंश की भा प्रकृति महाराष्ट्री प्राकृत ही है ।

३ किन्तु महाराष्ट्री प्राकृत पर आघारित होते हुए भी अपभ्रंश मागधी आदि अन्य प्राकृतों से विशिष्ट है ।

अपभ्रंश की प्रकृति क विषय में नमिसाधु के विचार बहुत कुछ दूसरे वैयाकरणों द्वारा भा समर्पित हैं । अपभ्रंश के सबसे बड़े वैमाकरण हेमचन्द्र ने भी लिखा है अपभ्रंश में विशेष प्रयोग दिखाई पड़ते हैं अपभ्रंश की वहाँ कहीं महाराष्ट्री प्राकृत और कहीं शौरसेना प्राकृत प्रकृति का भाँति कार्य हाता है ।^१ सत्रहवीं शता के प्राकृत-वैयाकरण माकण्डेय ने भा इसी कथन का समर्थन किया है । माकण्डेय के अनुसार नागर अपभ्रंश महाराष्ट्री और शौरसेनी पर प्रतिष्ठित है ।^२ इसका यही मतलब है कि कतिपय विशेष व्याकरणिक नियमों के अतिरिक्त अपभ्रंश प्रायः महाराष्ट्री प्राकृत के व्याकरण की परंपरा का पालन करता है । अपनी पूर्ववर्ती भाषा से प्रत्येक भाषा का प्रायः यही सम्बन्ध हाता है कुछ दूर तक तो वह पूर्ववर्ती भाषा पर हा आघारित हाता है परन्तु भाषा विकास के अपने नियमों के अनुसार वह पूर्ववर्ती भाषा का विकसित अथवा परिष्कृत और परिवर्धित रूप भी हाती है । इस प्रकार प्रत्येक भाषा अपना प्रकृति से कुछ विशिष्ट और विभिन्न हो जाता है । प्रकृति संस्कृति से विकृति प्राकृत का यही सम्बन्ध है और प्राकृत अपभ्रंश का भी ।

वात बड़ी सीपी है, फिर भा विद्वानों ने इस पर बड़ा विवाद किया है । प्राचान काल के प्राकृत और अपभ्रंश के पक्षपर आचार्यों ने भी बड़े हा सहाज ढंग से संस्कृत की प्रकृति मानकर प्राकृत-व्याकरण का आरंभ किया प्रकृति संस्कृतम् है । लेकिन आधुनिक युग के प्राकृत प्रेमी विद्वानों ने इस सामान्य कथन के सामने भी प्रश्न चिन्ह लगा दिया । 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी की संस्कृत भूमिका में भा लालचन्द्र गाधी ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है ।^३

१ यस्य अपभ्रंशे विराधो बस्यते तस्यापि कश्चित्प्राकृतवत् शौरसेनोवन्व कार्य भवति । (सिद्धहेमराजानुशासन ८४ ३२६ की व्याख्या)

२ नागर तु महाराष्ट्री शौरसेनो प्रतिष्ठितम् । (प्राकृतसंघस्यम्, सप्तम पाद)

३ अपभ्रंशकाव्यत्रया भूमिका पृ० ८१-८४

यस्तुन प्रकृति सस्कृतम् याने कथन में आधुनिक भाषा वैज्ञानिक दृष्टिवाले विद्वानों के लिए गटकने वाली यस्तु यह है कि यहाँ प्राकृत का संस्कृत में उतरना कहा गया है।^१ विद्वान् प्राकृत का लाख भाषा तथा संस्कृत का उस लाख भाषा का गुयारा-मंवारा हुआ परिकृत अथच कृत्रिम रूप मानते हैं, उनक लिए प्राकृत ही यानि है न कि संस्कृत।

यदि नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत का लें, ता साग मालूम हो जाता है कि यह संस्कृत धार्यों का ही यत्किचित् प्वनि-परिवर्तन किया हुआ रूप है। नाटकों क प्राकृत गद्य-पद्य को संस्कृत छाया क साथ मिलाकर दंगने स यह बात स्पष्ट हो जाती है। सम्भव है संस्कृत का प्रकृति कहत समय वैयाकरणों के मस्तिष्क में यह तथ्य भी रहा हो। लेकिन इसके अतिरिच ऐसा भी मालूम होना है कि संस्कृत में प्रकृति प्रत्ययादि नियमों के स्पष्ट विधान के कारण भी वैयाकरणों ने प्राकृतों के विवेचन में संस्कृत का आधार बनाया हो।

प० चन्द्रधर शमा गुलेरी ने इस विषय में एक और युक्ति उपस्थित की है। उनक विचार से प्रकृति का अर्थ है साधारण, नियम, मॉडल उत्सर्ग आदि, और इससे जा विशेष, असौकिक, भिन्न, अन्तरित और अपवाद है यह 'निकृति' को संज्ञा पाता है।^२ गुलेरी जी ने 'मीमांसा' से इन शब्दों का ऐसा अर्थ उद्धृत किया है। हेमचंद्र न अपने 'सिद्धहेम शब्दानुयासन' में प्राकृतों का अप्पाय समाप्त करते हुए जो शेष संस्कृत-वर्षिषद्म् लिखा है,^३ उसस मा गुलेरी जी की उक्त युक्ति का समर्थन हावा है। स्पष्ट है कि हेमचंद्र न प्राकृतों के विशेष लक्षणों का निर्देश करने के बाद अत में यह लिखना आवश्यक समझा कि प्राकृतों क जा अन्य सामान्य लक्षण हैं वे संस्कृत के ही अनुसार समझे जायें।

यस्तु संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति मानने स आपत्ति उठाने का मुख्य कारण है संस्कृत और प्राकृत का पूर्वमह-मस्त अर्थ। कुछ लोगों ने यह धारणा बना ली है कि प्राकृत का अर्थ है अन साधारण की प्राकृतिक भाषा और संस्कृत का अर्थ है उस जन-बोली का संस्कार किया हुआ रूप। इस तरह की धारणा फैलाने में प्राचीन आचार्योंका भी बहुत कुछ हाथ है।

नमिसाधु ने सम्पूर्ण सभार क जन्तुओं की व्याकरण आदि के संस्कार से

१ प्रकृति सम्स्कृतम्। तत्र भवं सत प्रागत वा प्राकृतम्।

(सिद्धहेम० ८ ११ व्याख्या)

२ रानी हिंदी प्रथम संस्करण पृ० ७७।

३ सिद्धहेम० ८ ४ ४४८।

रहित सहज वचन व्यापार से उत्पन्न भाषा का प्राकृत कहा है। इसका विपरीत सस्कृत का उन्होंने पाणिनि आदि वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट शब्द लक्षण से सत्करण का हुए भाषा का सस्कृत सजा दी है।^१

परन्तु सस्कृत और प्राकृत का जा साहित्य प्राप्त है उससे वस्तु स्थिति कुछ और हा मालूम जाना है। नमिकाधु ने प्राकरण आदि क सत्कार से रहित पिस सहज वचन व्यापार का आदर्श प्राकृत का उल्लेख किया है उसमें रचे हुए साहित्य की जानकारा हमें नहीं है। साहित्य में प्रयुक्त हात ही वह 'सहज व्यापार' कुछ न कुछ सस्कृत तो हो हा उठता है। इसलिए नाटकों और काव्यों की प्राकृत उन सहज वचन व्यापार का काइन-काई परिष्कृत रूप हा है और वैयाकरणों ने प्रकृति प्रत्यय आदि सत्कार का भी सत्कार किया है। यदि सस्कृत को पाणिनि कात्यायन, पतञ्जलि आदि मिले तो प्राकृत को भा वररुचि और ह्रमचन्द्र जैसे वैयाकरण प्राप्त हुए। सस्कृत मी किसा-न-किसी सहज वचन व्यापार का ही परिष्कृत रूप है। बाला का सत्कार करके उसे समय और व्यवहित रूप देना घुरा बात नहीं है। वह ता मान्य मनाया का महत्वपूर्ण काय है। लेकिन आनकल सहजता, स्वच्छदता आदि का ऐसी हवा बरी है कि भाषा क क्षेत्र म व्याकरण की व्यवस्था का अधिक कल्या नहीं समझा जाता। सस्कृत क विरुद्ध प्राकृत की कालानिक सहजता क गौरव-भाव का भा यहा कारण है।

इसलिए भारतीय आद्यभाषा क क्रम विकास का ध्यान में रखते हुए सस्कृत का, प्राकृत से पूर्ववर्ती भाषा होने क कारण, साहित्यिक प्राकृत की प्रकृति मानन में वैज्ञानिक दृष्टि से कोई बाधा नहीं है।

इस प्रकार पिस अथ में प्राकृत की प्रकृति सस्कृत है उसी अथ में अनभ्रंश का प्रकृति प्राकृत है—प्राकृत अथान् शौरसेना आदि भदों से युक्त मुख्यत म्हराष्ट्रा प्राकृत।

परन्तु अनभ्रंश की प्राकृत भाषाओं में से एक मानते हुए भी इसका विशेष सत्ता क प्रति प्राचीन दैवाकरण सतक थे। जहा कहीं प्राकृत क भदों क नाम गिनाये गये हैं, शौरसेना भागधा पेशाचा चूलिका-मैशाचा तथा अनभ्रंश की कमी-कमा आबन्दा और अधभागधा का भा नाम लिया गया है विगिष्टता परन्तु उन स्थलों पर अथ 'अ' का नाम किसा न नहीं लिया है। प्राय वैयाकरणों ने अनभ्रंश का इन सबसे स्वतंत्र भाषा मान

१ सर्वसम्प्रदायानूना व्याकरणान्मिरनाहितसम्कार सहजो वचन-व्यापार प्रकृति। तत्र भव सर्व वा प्राकृतम्।.. पाणिनिव्याकरणखोदितशब्द मचक्षण मस्करखालकृतमुच्यते। (सस्कृत काव्यानन्दार २ १२ की टीका)

कर उसके भेदों की चन्ना अलग से की है। प्रमुख भाषाओं में संस्कृत, (महाराष्ट्री) प्राकृत और अपभ्रंश केवल तीन का नाम लेना ध्यान देने योग्य लक्ष्य है। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से आधुनिक भाषाओं के आरंभ से पूरे भारतीय भाषा भाषाओं के इतिहास में यही तीन महत्वपूर्ण मंजिलें हैं।

किन्तु कुछ विद्वानों का भारतीय आयभाषा के विकास में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश यौगिक इतनी मंजिलें गिनाना असंगत प्रतीत होता है। उनका कहना है कि जितनी मंजिलें हमारे सामाजिक विकास ने भी तब नहीं की थीं, उससे अधिक मंजिलें भाषा के इतिहास में दिखाना अर्थशानिक है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन की तुलना में भाषा-सम्बन्धी परिवर्तन बहुत मन्द होता है। उनके अनुसार हिंदी भाषा के जन्मकाल का इतनी मंजिलों के बाद रखने का एक कारण सामन्ती और साम्राज्यवादी भाषाशास्त्रियों में ग्राम जनता के प्रति घृणा भाव भी था।^१

प्राकृत और अपभ्रंश को लोकभाषा मान कर अध्ययन करने वालों के मन में ग्राम जनता के प्रति घृणा भाव था या प्रेम भाव, इसका निश्चय तो सामान्य जन ही करेंगे लेकिन इन तमाम मंजिलों को तोड़कर संपूर्ण भारतीय आयभाषा को हिंदी घोषित कर देने से ग्राम जनता के प्रति प्रेम किस प्रकार प्रकट हो जाता है यह समझ में नहीं आता।

यदि भाषा परम्परा की एकता और प्राचीनता पर जोर देना ही जनता के प्रति प्रेम प्रकट करने का प्रमाण है तो यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक मंजिलें गिनाई हैं उन्होंने भी इनमें एकसूत्रता की तरह एक भाषा-परम्परा—'भारतीय आयभाषा का स्वीकार किया है। 'भारतीय आयभाषा' के सिद्धान्त से जनता की भाषा-परम्परा की एकता और प्राचीनता दोनों की पुष्टि होती है। भारतीय आयभाषा के इतिहास में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि विकास-क्रम की अनेक मंजिलें गिनाने से भाषा-परम्परा की एकता को पकड़ा नहीं लगता।

लेकिन असल खवाल तो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि मंजिलों की वैशानिकता का है। क्या यह समभव नहीं है कि समाज-अवस्था के अपरिवर्तित रहते हुए उसकी भाषा में परिवर्तन होता चले।

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक युग (१९वीं शती ईस्वी) से पूरे भारतीय समाज का मूल ढाँचा बहुत कुछ स्थिर सा रहा। इस ढाँचे की नींव ग्राम सगठन है जिसके ढाँचे में पिछले दस हजार वर्षों तक किसी प्रकार के मौलिक परिवर्तन का

१ हमारी जातीय भाषा के विकास की समस्या—डा० रामविलास शर्मा (लेख सप्ताह, ४ • १ मार्च १९५३) जन प्रकाशन गृह बम्बई।

पता नहीं चलता। फिर मा हम देखते हैं कि उत्तर भारत की सातहवीं शती का भाषा में पहला शता का भाषा से मौलिक अंतर है। तुलसादास का भाषा बाल्माकि श्री भाषा से बहुत भिन्न है शब्दांश में बाह्य-बहुत सम्य मल हा मिल जाय लेकिन दोनों के वाक्यगठन में महान अन्तर है, दोनों के आकारण को हैं। एक हिंदी है और दूसरा संस्कृत। इस अन्तर का न देखना अथवा देखन से इनकार करना भाषा-सवधा विवक का पाठ देना है।

इससे सिद्ध होता है कि भाषा का विकास सदा अपने नियम होते हैं। समाज के स्थिर होते हुए मा भाषा बदल सकता है और समाज का बदल-बदल बदलते रहने पर मा भाषा अपभ्रंशित स्थिर रह सकता है। सामाजिक परिवर्तन धीरे धीरे भाषा को प्रभावित करते चलते हैं लेकिन सामाजिक क्रान्ति भाषा में सहसा क्रान्ति नहीं ला सकता। परम्परा अनुसार संभवत भाषा में अपने अधिक विस्वाह पड़ता है।

इसलिए प्राकृत भाषाओं में अपभ्रंश का स्वतंत्र सत्ता का स्वरूप करना अवैज्ञानिक नहीं है।

वस्तुतः अपभ्रंश भारतीय आयभाषा में महत्वपूर्ण तथा कुछ मौलिक परिवर्तन का सूचना देती है। विद्वानों ने इस तथ्य का लक्षित किया है। संस्कृत का बाद प्राकृत में वैसा परिवर्तन नहीं हुआ वैसा अपभ्रंश में विस्वाह पड़ा। महानद्वित राहुल साहूत्यायन ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि मुबन्त, विहन्त या शब्द-रूप और पाठ रूप का शैली में दोनों (पालि और प्राकृत) ही न संस्कृत का अनुसरण नहीं हुआ। और अपभ्रंश ? यहाँ आकर भाषा में असाधारण परिवर्तन हो गया, सने नये मुबन्तो, विहन्तो की सृष्टि का। राहुल साहूने लिखते हैं कि वस्तुतः संस्कृत से पालि और प्राकृत तक भाषा विकास क्रमिक या अविच्छिन्न प्रवाह-युक्त हुआ, मगर आगे यह क्रमिक विकास नहीं, बल्कि विच्छिन्न प्रवाह-युक्त विकास—जात परिवर्तन हा गया।^१

वास्तविकता यह है कि किसी भाषा के विकास-सूचक समा परिवर्तनों का क्रम लिखित रूप में नहीं मिलता, क्योंकि भाषा का निर्माण समाज के दैनंदिन जीवन में होता रहता है और साहित्य में तो उन छोट-छोटे परिवर्तनों का संक्षिप्त रूप ही सामने आ जाता है। इसलिए साहित्य में प्रयुक्त भाषाओं के बीच शताब्दियों में कुछ-कुछ अन्तराल मिलते हैं। इन अन्तरालों के कारण क्रम-क्रम भाषा में जाति-परिवर्तन अथवा गुणात्मक परिवर्तन का भान होन लगता है। राहुल सा

ने अपभ्रंश में भाषा का जो जाति-परिवर्तन लक्षित किया है, यह समस्त इसी कारण।

विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि अपभ्रंश तक आते आते भाषा में जिस जाति परिवर्तन का आभाव होता है उसका आरम्भ प्राकृत में ही हो चुका था और शताब्दियों के परिवर्तनों का गरित रूप अपभ्रंश में सद्यः पहली बार दृष्टिगोचर हो उठा।

फिर भाइतना अग्रश्य है कि अपभ्रंश ने मरुत-व्याकरण के विस्तार का अत्यंत सक्षिप्त करके भाषा के ढाँचे का बहुत गरल बना दिया। अपभ्रंश तक आते आते मरुत और प्राकृत की तरह शब्द-रूप और धातु-रूप का रटन से जान बची। विभक्ति चिह्नों की मर्यादा बहुत घट गई, विभक्तियों के विष्कारी रूप कारण निमाख में समथ समझ जान लग कारणों के लिए परसग प्रयोग का बहुलता आई। नियापदों में तिङन्त रूपों का गमह वृद्धन्त रूपों का प्रयोग बढ़ गया। पाक्य विन्यास में शब्दों का स्थान और क्रम भी महत्वपूर्ण हो उठा।

इसी तरह की और भाइतना अग्रश्य है कि अपभ्रंश का भारताय आर्यभाषा के विकास में विशेष स्थान प्राप्त हुआ।

अपभ्रंश की इहा विशेषताओं में से उकारान्त प्रवृत्ति का बहुलता भी एक है। भगत मुनि ग सथसे पहल एक उकार-बहुला भाषा का उकार बहुला सूचना ग। उनक अनुतार हिमवत् सिंधु और सौर में उकार भाषा बहुला भाषा का प्रयोग हाता था।^१ विद्वानों ने इस भाषा के विषय में अनुमान किया है कि यह आभाराति अथवा अपभ्रंश भाषा रही होगी।

लेकिन डा० परशुराम ल वैद्य ने विद्वानों का ध्यान इस आर आकृष्ट किया है कि अपभ्रंश के अतिरिक्त 'प्राकृत धम्मपद' 'ललित विम्बर' और 'मद्धर्म पुएडरीक' जैसे बौद्ध ग्रन्थों में भी उकार की प्रगति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति की बहुलता इन ग्रन्थों में भले ही न हो परन्तु डा० वैद्य के अनुतार यह अपभ्रंश की एकदम अपनी विशेषता नहीं है।

धम्मपद के प्राकृत रूपान्तर में से, जिसका रचनाकाल इसा की पहली शताब्दी पूव अथवा अधिक से अधिक पहली शताब्दी यवलाया जाता है, कहीं से छद्म लेकर उकारान्त प्रवृत्ति का देखा जा सकता है। यहाँ नमूने के लिए प्रथम दो श्लोक दिए जा रहे हैं।

१ हिमवत्सिंधुसौराष्ट्रयज्ञान येऽवदेशान समाभिता ।

उकारबहुला सिंधु नित्य भाषा प्रयोजयेत ॥

(भाटपद्यात्मम्)

उन्नतो नाम तो मनु धर्मय नमु स वि० ।
 रघो धर्ममनो नमु धर्मवर्हि सहतो ॥
 हिरि तमु धर्मसु स्मति स परिवर न ।
 धर्मह सरधि शोमि समेविठिपुरेनवु ॥^१

उपयुक्त श्लोकों में 'मनु' और 'नमु' क्रमशः पालि शब्द 'मन्यो' और 'नाम' के रूपान्तर हैं तथा 'धर्मसु', 'धर्मह' और 'पुरेनवु' क्रमशः 'धर्मसु', 'धर्मह' और 'पुरेनव' के ।

प्राकृत धम्मपद का दूसरा शती सूत्रा में लिखित प्रति पशावर के आशवास खानान के निकट गाशुग अथवा गाशार्प विहार में प्राप्त हुई था । इसके कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस रूपान्तर का भाषा पर उस प्रदेश का बाला का प्रभाव निश्चित रूप से होगा और यह उकारान्त का प्रवृत्ति उन्हीं प्रभावों में से एक है । इस अनुमान का समर्थन भरत के नाट्यशास्त्र से मा हा जाता है क्योंकि उन्होंने हिमवत्, सिंधु, सौधार का ही भाषा का उकार-यहुला कहा है जो प्रदेश प्राकृत धम्मपद के रचना स्थान से बहुत-कुछ भिन्न तुल्य हैं ।

इस प्रकार ललित-विस्तर का संस्कृत में मा स्थान-अर्थान पर इस उकारान्त प्रवृत्ति का भलक मिल जाता है । यहाँ ललित विस्तर के सचादनापरिवत से वान छद उद्धृत किए जा रहे हैं—

पुरि तुम नरवर सुनु नृपु यम्भू
 मरु तत्र भूमिभुज इम गिरमववो ।
 इव मम इम महि सनगरनिगमां
 रघवि तद प्रमुदितु न च मनु सुभिनो ॥
 पुरि तुम नरपति स्वहु द्विज यदनु
 गुरुजनि परिचरि न च द्रहि परता ।
 स्थपयितु द्विजवर बहुजन बुगने
 च्युनु तनु मगधतु मरुतरनितय ॥
 पुरि तुम नरवर त्यजिसुनु यदनु
 मणि तव प्रपनितु जतपरि विनुषे ।
 स्यवयितु सुपयितु त्वय महजवधि
 सन्नि तद धनमणि दृडबल वृषभो ॥^२

१ प्राकृत धम्मपद—सपाक बदमा धोर नित्रा
 (कमरुता विरविघानय १६०१ ६०)
 २ ललित-विस्तर प० १६५ १६६ (सपाक ४० एव तेजमान हान
 १६०२ ६०)

ललित-विस्तर में कहीं कहीं चेरक भी अवरय हुआ है और सचोदना परिवर्त में ता चेरक का संभावना करते अधिक है फिर भी विद्वानों का अनुमान है कि ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से पहले ही ललित विस्तर का अंतिम रूप स्थिर हो चुका होगा। तात्पर्य यह कि इन उदाहरणों से उस समय तक उकार-बहुला भाषा का व्यापक प्रभाव प्रकट होता है। चूंकि अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति बहुत मिलता है, इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि उक्त प्रवृत्ति का शायद भाग मुखरत अपभ्रंश का ही प्राप्त हुआ होगा।

अपभ्रंश की ये तथा इनके अतिरिक्त दूसरी विशेषताएँ धीरे धीरे एतिहासिक विकास के परिणाम-स्वरूप आती गईं। अपभ्रंश भाषा किस प्रकार एक छोट स क्षेत्र की छोटी सी जाति की बोलों से विकसित होती हुई समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा हो गई—इसका इतिहास यका मनारंजक है।

अपभ्रंश का जा साहित्य इस समय प्राप्त है उससे भाषा की आरंभिक अवस्था का पता लगाना यका मुश्किल है क्योंकि वे सभी रचनाएँ यकी ही प्रौढ़ भाषा में लिखी हुई हैं। इसलिए अपभ्रंश की आरंभिक अवस्था का पता लगाने के लिए संस्कृत अथवा प्राकृत भाषाओं में प्राप्त उन उदाहरणों की छान-बीन करनी होती जिनका भाषा में अपभ्रंश के बीज दिखाई पड़ते हैं। नाट्यशास्त्र के ३२ वें अध्याय में छ-दों के उदाहरण देते हुए भरत मुनि ने कुछ ऐसी कविताएँ उद्धृत की हैं जिनमें अपभ्रंश की कतिपय विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।^१

१ मोरससउ नभन्तउ । महामे संभतउ ॥

२ मेहउ हर्तुं रोई ओरहउ । गिन्च गिन्पहे एह चंदहु ॥

३ एसा हसयहूहि इच्छाकारणउ ।

गर्तुं तु उत्सुइया कत संगदया ॥

४ पिय वाह वापतुं उमुदतत कामउ ।

पियकामुको।पय धरण अर्णतउ ॥

५ वामदि बादो एह पवाहि रसिद इष ॥

उपसुक्त छ-दों में उकार-प्रवृत्ति का स्पष्ट है ही, मेह, जोरह आदि सहा शब्द तथा एह, एह जैसे सवनाम रूप और मोरल्लनउ में उल्ल स्वायिक प्रत्यय आदि विशेषताएँ एसी हैं जा अपभ्रंश की आरंभिक अवस्था की सूचना देती हैं। किन्तु इनका पान ठीक नहीं है, इसलिए निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है

१ भविसयस कहा की भूमिका पृ ५१ पर का गुणद्वारा उद्धृत।

फिर भी यदि यह अंश पर्यती नहीं है तो इन छन्दों को अपभ्रंश के बीज रूप में ग्रहण किया जा सकता है ।

आरंभिक अपभ्रंश का दूसरा नमूना कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में मिलता है । उन छन्दों की प्रमायिकता को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है । अधिकांश पंडितों का कहना है कि वे अपभ्रंश छन्द कालिदास-रचित नहीं हैं । जो ही, कालिदास के नाटक में उन ललित छन्दों का स्थान पाना कम महत्वपूर्ण बात नहीं है, और दीर्घ परपरा से उन्हें विक्रमोर्वशीय का एक अंग समझा जा रहा है । ईसा की पाचवीं शताब्दी में वैसी भाषा में काव्य का पाया जाना कोई असंभव बात नहीं है । समय है यह कोई लोकगीत रहा हो जिसके माधुर्य से प्रभावित होकर कवि ने अपने नाटक में उसका उपयोग कर लिया है । विक्रमोर्वशीय के वे छंद इस प्रकार हैं—

मदं जणिम मिम-लोमणि एतिमरु ऋद हरेद ।

जाव ए एव-सडि सामसो धाराहृ वरिसेद ॥१

गधुम्माइय महुमर गोएहि ।

रुमन्तेहि परहुम रव-जुरेहि ॥

पसरिय पवणुवेक्लिर पस्तव निमरु ।

सुलबिम,विबिह-पमारे एवद कप्प मरु ॥२

पट्टिए पद इम ममन्त्यमि म्पमरुहि म ता ।

एत्तु रएणे भमन्ते मद पई दिट्ठो सा महुकरता ॥

तिसमपहि मिमंरु तरिसें पमणें हंस-पद ।

ई चिएहं जणिहसि म्पमरुसुठ सुग्ग मद ॥ ३

परहुम महुर-पसाविणि कन्ति ।

मवण-वण सच्छन्द भमन्ति ॥

अद पई विममम सा महु,दिट्ठो ।

ता म्पमरुसुहि महु पर पुट्ठि ॥ ४

रे रे हसा कि गोविग्गद ।

गद म्पसारे म्द सक्खिग्गद ॥

अद पद तिक्खिज ए गद-सालस ।

सा पई दिट्ठो अहण म्पमरुसुठ ॥ ५

हउ पई पुक्खिमि म्पमरुसुहि म्पम-वरु ।

सलिस-पहारे एतिम-सर-वरु ॥

सभ्य विचार में कही कही धृक् भी अक्षय हुआ है और गनादना परिवर्तन में ता धृक् का संभावना मयत अधिक है फिर भी विज्ञानों का अनुमान है कि ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी में पहले ही सभ्य विचार का अंतिम स्वर स्थिर हो चुका होगा। तात्पर्य यह कि इन उपर्युक्तों से ठम समय तक उच्चारण-संज्ञा भाषा का व्यापक प्रमाण प्रकट होता है। शून्य अक्षय में यह प्रवृत्ति बहुत मिलता है, इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि उक्त प्रवृत्ति का दाय भाग मुख्यतः अक्षय का ही प्रमाण हुआ होगा।

अक्षय की व तथा इनके अतिरिक्त दूसरा विशेषण भी धरे ऐतिहासिक विकास व परिणाम-स्वरूप आता है। अक्षय भाषा किंग प्रकार एक ही ध्वनि की टाटी से पात्रिका से रिकमित होती है। समूचे उत्तर भाग का साहित्यिक भाषा हो गई—इसका इतिहास यथा मनारंजक है।

अक्षय का वा साहित्य इतने समय प्राप्त है उतने भाषा की अक्षय अक्षय का पता लगाना यथा मुश्किल है क्योंकि यथा रचनायें यथा ही प्रौढ़ भाषा में लिखी हुई हैं। इतने अक्षय की अक्षय अक्षय का पता लगाने के लिए संस्कृत अक्षय प्राचीन प्रयोगों में प्राप्त उन उद्धरणों की ध्यान-धीन परनी होती जिनका भाषा में अक्षय व पात्र दिशाई पकट है। तात्पर्य यह व २ वें अध्याय में ध्वनों व उच्चारण देते हुए भारत मुनि ने कुछ ऐसा कृतियों उद्धृत का है जिनमें अक्षय का कतिपय विशेषताएँ स्पष्टिगार होता है।^१

१ ओरुत्तु नक्षयतु । महामने संमतु ॥

२ मेहुत हर्तु रोई ओरुत्तु । लिप्य लिप्ये एहु चंरुहु ॥

३ एता हस्यहृहि इच्छावाणुतु ।

चंतुं तु उस्तुइया कत सगदया ॥

४ विष वाइ वायतु उस्तुत वासतु ।

विषकामुकी ल्य मरुण जलंतु ॥

५ वायदि वाइ एहु पवाहि रुतिह इव ॥

उपरोक्त ध्वनों में उच्चारण प्रवृत्ति तो स्पष्ट है ही, मह, जोरु आदि संज्ञा शब्द तथा एहु, एइ जैसे मधनाम रूप अक्षय-मादुल्लु में उल्लेख स्वार्थिक प्रत्यय आदि विशेषताएँ ऐसी ही जा अक्षय का अक्षय अक्षय का सूचना देती हैं। किंतु इनका पाठ ठीक नहीं है, इसलिए निष्पातक रूप से कुछ भी कह सकता कठिना है

१ मविषयत कहा की भूमिका पृ० ५१ पर का गुणद्वारा उद्धृत ।

फिर मा यदि यह श्रंश परवती नहीं है तो इन छद्मों को अपभ्रंश के बीच रूप में ग्रहण किया जा सकता है ।

आरंभिक अपभ्रंश का दूसरा नमूना कालिदास के विक्रमोवशीय नाटक के चतुर्थ अंक में मिलता है । उन छद्मों की प्रमाणिकता का लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है । अधिकांश पंडितों का कहना है कि वे अपभ्रंश छद्म कालिदास-रचित नहीं हैं । जो हो, कालिदास के नाटक में उन ललित छद्मों का स्थान पाना कम महत्वपूर्ण बात नहीं है, और दाध परंपरा से उन्हें विक्रमोवशीय का एक अंग समझा जा रहा है । ईसा की पाँचवीं शताब्दी में वैसा भाषा में काव्य का पाया जाना कोई असंभव बात नहीं है । संभव है यह कोई लोकगाय रहा हो जिसके माधुर्य से प्रभावित होकर कवि ने अपने नाटक में उसका उपयोग कर लिया है । विक्रमोवशीय के ये छद्म इस प्रकार हैं—

मइ जणिमं निघ्न-तोमणि एणिसिभठ कोइ हरेइ ।

जाव ए एव-सडि सामसो घाणहठ वरिसेइ ॥१

गघुम्माइय महुधर गोएहि ।

बज्जन्तोहि परहुम एव-तुरेहि ॥

पसरिय पवणुध्वेज्जिर पत्तव निघ्न ।

सुलज्जिम,विधिह-पमारे एणवइ रूप्य धर ॥२

वटिण पइ इम भवभत्यमि घाणसुत्तहि म ता ।

एत्यु रणणे ममन्ते जइ पई विट्ठो'ता महुकंता ॥

सिसग्महि मिन्नरु-सरिसें पमणें हंस-वाइ ।

एं विणहें जाणिहति घाणसिखउ तुग्ग मइ ॥ ३

परहुम महुदर-पलाविण कम्ति ।

नन्दण-वण सच्छन्द ममन्ति ॥

जइ पई विघ्नमम सा महु,विट्ठो ।

ता घाणसुत्तहि महु पर पुट्ठि ॥ ४

रे रे हंसा वि गोविज्जइ ।

गइ भणुसारें मई सक्खिज्जइ ॥

बइ पइ सिक्खिउ ए गइ-सालस ।

सा पइ विट्ठो जहण-भरातस ॥ ५

हउ पई पु'दमि घणसहि गण-वठ ।

सलिघ्न-पहारें एणसिघ्न-तर-वठ ॥

दूर विदित्प्रिय सगर-वंती ।

विद्वे विष यह संभव जनी ॥ ६

गुर-गुग्गरि अहम-भरातम पीतुतद्ग परा-रपति ।

विर मोरवण मनु-जरीरि हत गद ॥

मप्रगुग्गर-बाणलोमिप्रलोमलि ममत विद्वि परं ।

तह विर-मामुग्गरे उतारहि परं ॥ ७

सर्प वेरित्तविपु हिंसं भावमि ।

जय विहि माए पुण तहि वावमि ॥

ता ररणे वि ए वरिमि लियमन्तो ।

पुण एह मेस्तमि बाह वपतो ॥ ८

मोरा परदुम हत विद्वन्म ।

धति मय पन्वम सरिष बुरंगम ॥

गुम्भह कारणें ररणे ममन्ते ।

को ए ह पुच्छिउ परं रोमते ॥ ९

इन वंशियों में प्रसुप्त छन्द अक्षरों के एकदम अने लक्ष हैं, प्राहन में इस प्रकार के शब्दों लक्षों का प्रयोग प्रायः नहीं हुआ था। ज्यति और पन्वम शब्दों ही दृष्टियों से इनका भाषा परिनिष्ठित अक्षरों के बहुत निकट है, फिर भी इसके कुछ पदों पर प्रायः का प्रमाण स्पष्ट है।

आरंभिक अक्षरों के शिखर हुए उदाहरणों में उद्योगगुरि-वृत्त 'बुधलयमाला कदा' के कुछ शब्दों का उद्धृत किया जा सकता है। स्वयं कवि ने अक्षरों के रचना का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो देना भाषा के लक्षण और पाठ जानता है वह विविध यंत्रों की गाथाओं से मंत्रन 'बुधलयमाला' रहे—

जा आण्ड देसीमो हातामो सवन्तलाइ पाऊ इय ।

वयण्य गाहा ऐम बुधलयमालं वि सो पडउ ।

देना भाषाओं में भी निरन्तर ही कवि ने अक्षरों के विशेष रूप से अने सामने रखा है जिसका सन्तुष्ट बतलाते हुए उद्योग कहा है कि अक्षरों के बोलचाल की ऐसी भाषा है जो संस्कृत और प्राहन के उद्भूत अक्षरों के तरंगों से तरंगित रहती है।

सबकय-पाय-उमय-मुद्ग-मुद्ग-यव-समतत्तद्ग-वर्णारं ।

इस महत्वपूर्ण प्रश्न में जहाँ अक्षरों के पथ के नमूने आए हैं, वे वा परिनिष्ठित अक्षरों के एकदम निकट हैं जैसे—

जो जसु मायसु वल्लहउ त जइ बएणु रमेइ ।
जएणु सो जाएणु जीवइव, तो तहु प्राण लएइ ॥

अपवा

जो एवि विहुरे वित्तएणउ धवलउ कइइ भाउ ।
सो गोट्टु गणमएणउ सेस उएव ज सारु ॥

इनमें से पहला दोहा एक ग्राम-नटी द्वारा गाया गया है और दूसरा एक गुजर-पथिक द्वारा। प्रसंग से दोनों की भाषा का भ्रंशपूर्ण पुष्ट हो जाता है।

इन पद्यों के अतिरिक्त उक्त ग्रंथ में अपभ्रंश गद्य के भी नमूने मिलते हैं जो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि अपभ्रंश का जितना भी साहित्य प्राप्त हुआ है, उसमें गद्य के नमूने नहीं के बराबर हैं।

भणियं मायाइच्चण 'अहो गाममइत्तरा । महागव मए कय मित्तदोज्जम याम ता अइ णलियं कुआसण पविस्सामि । देह मअ पविअइ कइइ जलण व' ति । तउ भणिय एक्केण गाम-मइत्तरेण—

(१) एहु एहुउ दुम्मणस्साहु । सउ ने थुजा आरिदु । तुक्काणउ वव धलितउ । पारइउ । एउ प्रइ सुगइ, धाउ-वर, भ्राति सप्रतु ।

तउ अएणेण भणिय—

(२) थुज विरइदु घण लवाय सुह-सपडे, एउ प्रइ दुत्थइ-मण-मोह सुदउ तु सप्रति बालतउ । एतु एतु मारदु मल्लउ । तउ अएणेण भणियं चिर जराजुएणइइण—

(३) एण मुज्जति फिर सुवएण ए वइसाणर-नुइ गतउ कउ पाउ मित्त वचण । कामाणिअ वन घरणे एउ पाउ तुक्क षणु हिय । तउ मयल-द्रुग-सामिणा भणियं जेहु महा मयहरेण—

(४) धवल-याहण धवलदेहस्म सिरि भ्रमति जा विमल जल धवलजल मा मटारी-यनि-नाग प्रावेमि तुहु मिअ द्राकु वा याम मु-भ्रति ।

मायादित्त और ग्राममइत्तरो का इस कथानकथन में जितना अंश कथानकथन का है वह वा अपभ्रंश भाषा में है और शेष विवरण प्राकृत भाषा में। जहाँ तक तद आदि दन्त्य ध्वनियों का परिवर्तन का संधान है, ध्वनियमिन इ और सौरसेन ध्वनि-समूह से प्रभावित प्रतात हाता है। 'विरवानर स 'वइसाणर' हान में जा 'ये का 'आइ हा गया है वह ध्यान देन योग्य ठठ अपभ्रंश का लक्षण है। इस अतिरिक्त एहुउ, दुम्मणस्साहु आदि प्रयोग अपभ्रंश के अंश हैं।

'कुवलसमाला' का दूसरा उदाहरण इससे भी अधिक मनोरञ्जक तथा भाषा के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कथा का नायक राजकुमार मयुर

के एक अनाप गृहण में पहुँचकर यहाँ के दान हान कोढ़ी, लूने आदि रागमग्न गैयार लागी से निम्न प्रकार बातचीत करता है इगका पका हा गजान निप्रगु उपायन गुरि । किये है ।

(१) गदल पुहर्भडभं परिमामऊगु संरनी गृहुराउराण । एरय एकमिम अणाहभडय पविडा । अयि य तय ताप मिनिपानए काट्णप, यलवग गदयए, दाण, कुगय, अथलय, वंगुलय, गदुलय, मडय, गामगुय, निरगु-प्यातर तादिय-कगुय, विगुगुय, ठणिय, कणदिय दरिय, निगुयणिय, लहाराय पमिन, गुगुणिय भाया कि थ वदुला जा माउ मिउ रडेस्लउ, सो सो सयो यि सत्य मिलिणस्लउ ति । ताह च गयु मिनिणलय सह समाणह पकरवप मडा आलाया पयसा । “भो, भो, कयरदिं तित्थ इ [थ] धा गयार् कयर वादि पाय वा पिट्ठ” ति ।

(२) एकरण भणियं—“अमुक्का पाणारमी कान्पिदि । तेण पाणा सीगयाण काउ पिट्ठ” ति ।

(३) अण्येण भणियं—“इ इ । कदिउ बुतंतउ तण जणिणस्लउ । कदि कां, कदि पाणारणि । मूलत्पाणु भदारउ कांई ज देर उरालइ साघु ।”

(४) अण्येण भणियं—“रे र । जइ मूलत्पाणु देइ उहालइज्जं कांइ वा पुणु कांई कञ्जु अणाणु काणि अत्तनउ अण्णर ।”

(५) अण्येण भणियं—“जा गु कान्पिणस्लउ अण्णर ता गु कार कगु । महाकालु भदारउ एग्गाग-संवाण कुणुर तेण गुलदरग निर ।”

(६) अण्येण भणियं—“कार इमणु जाय निरारुण पाउ पिट्ठ, गुग्गे उदियाह तित्थ ।”

(७) अण्येण भणियं—“प्रयाग पडपडिअह चिरपणु पायवि इत्य वि निट्ठति ।”

(८) अण्येण भणियं—“अरे । पाय पुब्बिदय पाय साहदि ?”

(९) अण्येण भणियं—“रादु मत्तहं जइ परमाद रिइवहकयर रि महायावइ गगासगम यहायहं भैरवभणारय-पडिअह पासइ ति ।”

शरसेन प्रदेश के केन्द्र मथुरा में स्थिति अनायालय के लागी द्वारा शौरसेनी प्राकृत न बालवाकर अपभ्रंश में बातचीत कराना ध्या देने योग्य है । नि संदेह भाया पर प्राकृत का यत्र तत्र प्रमाथ दष्टिगोचर हाता है किन्तु ध्वनि में उकार प्रवृत्ति और पक्षों में प्राकृत विभक्तियों के निचरे रूप रूप भाया की गति को अपभ्रंश की ओर उन्मुख बतलाते हैं । इन बातों के अतिरिक्त उपर्युक्त उद्धरण के शब्द

नूह में ठठ देशी शब्दों का बाहुल्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है।^१

आरम्भिक अपभ्रंश के ये सभा बिखरे हुए उद्धारण माट तीर से इसा का सिरा शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक क हैं। इनसे स्पष्ट है कि उस समय तक अपभ्रंश की ध्वनियों और वर्णों का रूप स्थिर नहीं हो सका था क्योंकि उनमें प्राकृत क रूपों की परिपाटी का पालन दिखाई पड़ता है और कहीं सरलाकरण का नई दिशा का आरम्भ नहीं। स्पष्ट रूप से इसका आधार मुख्यतः शौरसेना प्राकृत है। इसका कारण शायद यह है कि इनमें ने लगभग सभी उद्धारण शूरसेन प्रदेश तथा उसके आसपास क क्षेत्र क हैं। संभव है, दूसरे स्थानों से अन्य सामग्री प्राप्त होने पर किसी और आधार का पता चले।

अप विचारणीय बात यह है कि यह कौन सा वाला था, जिसका आभ्यन्तर शौरसेना अथवा महाराष्ट्र प्राकृत अपभ्रंश भाषा के रूप में विकसित हुई।

भरत मुनि ने कितना उकार-बहुला भाषा का क्षेत्र हिमवत्, सिन्धु, सीवार आदि प्रदेश अथवा पश्चिमात्तर भारत कतलाया है। विद्वानों ने इसे आरम्भिक

अपभ्रंश बोला का क्षेत्र प्रमाणित किया है। यदि इसे सब पश्चिमोत्तर भारत मानें तो कहना पड़ेगा कि तीसरी शताब्दी में या पश्चिमोत्तर की बोली और भारत की वाला थी वही क्रमशः विकसित होती हुई एक अपभ्रंश दिन पश्चिमात्तर भारत तथा मध्य देश का साहित्यिक भाषा बन गई। लेकिन उतनी दूर का वाला का प्रसार इन प्रदेशों तक किस प्रकार हुआ और यहाँ नहीं बल्कि यह वाला अपने उन मूल प्रान्तों से सरककर दूसरे क्षेत्रों में किस प्रकार प्रतिष्ठित हो सकी, इन प्रश्नों का समाधान आवश्यक है।

पण्डितों ने इसका समाधान करते हुए दण्डी क प्रमाण पर कहा है कि अपभ्रंश मूलतः आमासी वाला थी और महाभारत के अनुसार इस्वी-पूर्व दूसरी शताब्दी तक पश्चिमात्तर भारत में आभार जाति क पाए जाने का उल्लेख मिलता है। नकुल क प्रतीचा-विनय प्रमाण में आमारों का सिन्धु के किनारे रहने वाला कहा गया है।^२ शक्यतः बलदेव की ताथयात्रा क सप्तम में आता है कि राजा ने

१ विशय अध्येयन के लिये रचिते प्रो० एल्फ्रेड मास्टर द्वारा लिखित निबंध 'ग्लोनिंग फॉर्म कुवलयमाता कथा (बुनेटिन धव नि स्मृत धँव धोरिएटल एट् पश्चिम स्टडीज जिल्ला १३ खड २ और ४। १९५०—

उस विराट में प्रवेश किया वहाँ शूद्र आभारों व कारण सरलता पष्ट है १^१ ।
 अर्थात् जब अर्जुन परित्रियों का विषयाद्यो का लक्षर दारका
 आभारी बोधो से तब १ गुण अमनद २ प्रसू करत है ता अर्जुन लाभ और
 और अमनद ता वारणाभी आभार हम ता पर व महिलाद्यो का छान से गत
 है १^१ इस प्रसंगों व अर्जुनिय आभाराय व मुक्त प्यूर में भी
 उक्त दशा है १^१

व्याख्यान है कि सरलता व योग विराट और अमनद में आर्य-जाति
 वाली इन गुण-आभार जाति व अमनद बोधा का भा प्रभार प्रकृत किया है ।
 किन्तु यह बात कलता से पर प्रसू व दाना है कि बाहर से आता गया जाति न उस
 प्रदेश का पूणवती भाग का मिटाकर अना का १^१ यह भाग बना ता है । किन्तु
 जाति की भाग पराजित जाति का भाग का स्थान से है ल एगा अनियाय नहीं
 है, और उस दशा में ता इसका गंगापना और भा गीक्ष्य है उठता है जब
 पराजित जाति विराट की अमनद अधिक मुगर्हता है तथा उसका भाग भा
 अधिक समद है । आभारों को गुला म अमनद का पूणवती जाति और भाग की
 भेदता स्वयंमिद है ।

इसलिये जैसा कि भारत में बाहर से आन वाला समा जातियों का विपन
 में गत है आभार जाति मा यहाँ आकर वराभम व्यवस्था व भारत का गई और
 इस तरह उगत यहाँ का स्थानाप वाली भा प्रहण कर ली १^१ इतना गुर है कि
 आभारों ने उस क्षेत्र का बाला में अर्जुन मुक्त निजी शार्दों का मिश्रण कर दिया
 और मुक्त दूर तक उसकी धनियों का भा प्रभावित किया । परंतु इगम अमनद यदना
 गलत है । दो जातियों की भागाद्यो व मिश्रण न मयथा क्रिती गई तामरी भाग का
 जन्म नहीं होता कि उन दोनों में से विजया भाग का है व्याकरण आभार
 भूमि का काम करता है, दूसरा भाग उमम विलान है जाता है । तारर्थ यह कि
 यदि आभारों का अपनी कोई बाली रहा भी हागा ता वजाय क्षेत्र की भाग में
 विलान हो गई होगी ।

दिर भा यह प्रश्न ता रह है गया कि पश्चिमात्तर भारत की बाला मयपेश
 और पश्चिमी भारत का साहित्यिक भाग कित प्रकार बना ? इगक समाधान
 स्वरूप विज्ञानों न आभार जाति व प्रसार व ऐतिहासिक आंकड़ दिए हैं । इसी

१ पव ६, अध्याय ३७ श्लोक १

२ पव १६ अध्याय ७ श्लोक ४४ ४७

३ पव ७ अध्याय २० श्लोक ६

४ हा गुण—मविस्मयत कहा की भूमिका प० ५३

सन् की दूसरी शताब्दी में काठियावाड़ में आभीरों के रहने की बात कही जाती है। इसका आधार यह है कि काठियावाड़ के 'सुद' नामक स्थान में प्राप्त महात्तप चद्रदमन व एक अभिलेख में उसके एक आभीर सेनापति चद्रमूति के दान का उल्लेख है।^१ विद्वानों के अनुसार उक्त अभिलेख का समय १८२ ई० है।

महात्तप की सेना में एक आभार सरदार का होना काठियावाड़ में समूचे आभारों के निवास का काद टोस प्रमाण नहीं है। इससे अधिक से अधिक यह अनुमान लग सकता है कि शायद शकों से आभारों का कुछ संबंध स्थापित हो गया हो और इस तरह आभीरों ने शक्ति संचित करके अपना प्रसार किया हो। इस आभार जाति के मावी विस्तार का भूमिका मात्र माना जा सकता है।

एथोवेन ने ईसा की तीसरी शताब्दी के अंत में काठियावाड़ में आभारों के आधिपत्य को प्रमाणित करते हुए नासिक अभिलेख (३०० ई) के आभीर राजा इश्वर सेन की श्राद्ध ध्यान आह्वय किया है।^२ समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले लौह स्तम्भलेख (४६० ई०) के अनुसार आभीर जाति उस समय गुप्त साम्राज्य का सीमा पर राजस्थान, मालवा, दक्षिण पश्चिम तथा पश्चिमी प्रदेशों में बँटा हुई थी। पुराणों के अनुसार आभारों के बाद दक्षिण आभार जाति के ही हाथ आया और छठी शती के बाद से निकल गया। उस समय ताती व देवगढ़ तर्क का प्रदेश इहाँ के नाम पर प्रख्यात था। जैन इतिहास के अनुसार छठी शताब्दी में जब काठी जाति में गुजरात में प्रवेश किया तो उसने देखा कि उसका अधिकांश भाग आभीरों के हाथ है।^३ एथोवेन ने सिद्ध किया है कि खानदेश में आभीरों का स्थायी निवास महाबलपुर तथा है। १५वीं शताब्दी में अहमदाबाद का किला आशा अहमद द्वारा स्थापित बताया जाता है। अहमद मध्यदेश में मिर्जापुर जिले का अहिरौरा आभारों के ही नाम से प्रसिद्ध माना जाता है।

इन ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि एक समय इस दुष्प्रजाति ने बड़ा तेज़ी से समूचे उत्तर भारत में छा जाने का उद्योग किया था। यदि इस प्रवाह के साथ अपभ्रंश का भी प्रसार हुआ होता तो कोई आश्चर्य नहीं। समय है दरही जैसे आचार्यों ने इस जाति के आतंक और प्रभाव का देखकर ही समस्त आभार बोली के लिए आभीरादि गिरा सजा का प्रयाग कर दिया हो क्योंकि भाषायें या तो प्रभावशाली जाति के नाम से जानी जाती हैं अथवा उस

१ बी० धार० भगवतकर इण्डियन ऐंटीक्वरी, १९११ ई० पृ १६

२ धार० ई० एथोवेन ट्राइब्स एंड कास्टम ऑफ़ इण्डिया भाग १ पृ २१
(गुण द्वारा भवि० की भूमिका में उद्धृत)

३ सप्लिमेंटरी क्लॉसरो एम बी० अहिर।

समय है, आभीरों और गुजरातियों के अतिरिक्त ऐसी ही अन्य गोपालक जातियों ने अपभ्रंश के प्रसार में भाग दिया है।

इस तरह यदि अपभ्रंश मूलतः पश्चिमोत्तर भारत का बोली न मी रहा हो, तो मा पश्चिम भारत की बोली से उसका सर्वप्रथम होने की कल्पना की जा सकती है। यहाँ राजशेखर के कथन को ध्यान में रखना क्या अपभ्रंश मूलतः आवश्यक है कि अपभ्रंश सकल मूर्खभूमि, टक्कर और पञ्जाब, राजस्थान भादानक देशों में प्रयुक्त होता है।^१ भाषावैज्ञानिकों ने प्रायः और गुजरात की अपभ्रंश से राजस्थान और गुजरात का घनिष्ठ संबंध बोली थी? दिखलाया है। यद्यपि साधे अपभ्रंश से पञ्जाबी का सम्बन्ध दिखाने की आरंभियों का ध्यान बहुत कम गया है, तथापि

राजस्थान और पञ्जाब की निकटता के उदाहरण प्रायः दिए जाते हैं। यदि यह सच है तो इन क्षेत्रों में बहुतायत से रचे हुए अपभ्रंश साहित्य की भाषा का यहाँ का बोली से शक्ति ग्रहण करना स्वाभाविक है। अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य इस क्षेत्र के प्रमुख नगरों और जैन मठों में प्राप्त हुआ है जैसे अहमदाबाद जैसलमेर, पाटण्ड आदि। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि अपभ्रंश के अधिकांश कवि इसी क्षेत्र के रहने वाले थे अथवा उन्होंने इसी क्षेत्र में अपने साहित्य की रचना की है। धनपाल, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, हरिमद्र, जिनदत्त आदि न गुजरात में, देवसेन ने मालवा में, रामसिंह ने राजपुताना तथा अद्दुल रहमान न मुल्तान में, अपने ग्रन्थ रचे।

फिर मा डा० मुनीनि कुमार चटर्जी जैसे भाषावैज्ञानिक का विचार है कि पश्चिमी या शौरसेना अपभ्रंश शूरसेन या मध्यदेश का चालू बोली के आधार पर मुख्यतया बना थी। उनका अनुसार शूर राजस्थान गुजरात तथा पञ्जाब का और उधर काशाल का अपभ्रंश या अतिम युग का प्राकृत का उस पर प्रभाव भर पड़ा था।^२

लेकिन डा० चटर्जी ने उसी पुस्तक में अपने उक्त मत के विपरीत विचार प्रकट करत हुए कहा है कि शौरसेनी अपभ्रंश का भाषा प्रारम्भ ही से किछा खास प्रान्त की अविभक्त लौकिक कथ्य या चालू भाषा नहीं था—यह भाषा मुख्यतया गुजरात, राजस्थान, अन्तर्वेद तथा पञ्जाब में प्रचलित अपभ्रंश बालियों के आधार पर स्थापित एक मिश्रित साहित्यिक भाषा या बोली ही थी।^३

१ सापभ्रंशप्रयोगा- सकलमूर्खभूमि-टक्कर-भाषानकारण ।

२ राजस्थानी भाषा पृ० ६०

३ राजस्थानी भाषा पृ० ३५

सम्भव है, आमीरों और गुर्जरों के अतिरिक्त ऐसी ही अन्य गोरालक जातियों ने अपभ्रंश का प्रचार में योग दिया हो।

इस तरह यदि अपभ्रंश मूलतः पश्चिमोत्तर भारत की बोली न भी रहा हो, तो भा पश्चिमो भारत की बोली से उसका संबंध होना ही कलाना की जा सकती है। महा राजशेखर के कथन को ध्यान में रखना क्या अपभ्रंश मूलतः आवश्यक है कि अपभ्रंश सकल भूमि, टक्क और पञ्जाब, राजस्थान भाषानक देशों में प्रयुक्त होता है।^१ भाषावैज्ञानिकों ने प्रायः और गुजरात को अपभ्रंश से राजस्थानी और गुजराती का घनिष्ठ सम्बन्ध बाली थी? दिखलाया है। यद्यपि सीधे अपभ्रंश से पञ्जाबी का सम्बन्ध दिखाने की श्रम लागों का ध्यान बहुत कम गया है, तथापि राजस्थानी और पञ्जाबी को निकटता के उदाहरण प्रायः दिए जाते हैं। यदि यह सच है तो इन क्षेत्रों में बहुतायत से रचे हुए अपभ्रंश साहित्य की भाषा का यहाँ का बाली से शक्ति ग्रहण करना स्वाभाविक है। अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य इसी क्षेत्र के प्रमुख नगरों और नैन भवनों में प्राप्त हुआ है जैसे अहमदाबाद, जैसलमेर, पाटण आदि। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि अपभ्रंश का अधिकांश कवि इसी क्षेत्र के रहने वाले थे अथवा उन्होंने इसी क्षेत्र में अपने साहित्य की रचना की है। धनपाल, हमचन्द्र, सोमप्रभ, हरिमद्र, जिनदत्त आदि न गुजरात में, देवसेन ने मालवा में, रामसिंह ने राजपुताना तथा अद्दुल रहमान ने मुल्तान में, अपने ग्रंथ रचे।

फिर भी डा० सुनाति कुमार चटर्जी जैसे भाषावैज्ञानिक का विचार है कि पश्चिमो या शौरसेनी अपभ्रंश शूरसेन या मध्यदेश की चालू बोली के आधार पर उत्पन्न बना थी। उनके अनुसार इधर राजस्थान, गुजरात तथा पञ्जाब की और उधर काशाल का अपभ्रंश या अंतिम युग की प्राकृत का उस पर प्रभाव पड़ा था।^२

लल्लिन डा० चटर्जी ने उसी पुस्तक में अपने उक्त मत के विपरीत विचार प्रकट करते हुए कहा है कि शौरसेनी अपभ्रंश का भाषा प्रारम्भ ही से किसी खास प्रान्त की अधिकतम लौकिक कथ्य या चालू भाषा नहीं थी—यह भाषा मुख्यतया गुजरात, राजस्थान, अन्तर्वेद तथा पञ्जाब में प्रचलित अपभ्रंश बालियों के आधार पर स्थापित एक मिश्रित साहित्यिक भाषा या शैली ही थी।^३

१ अपभ्रंशप्रयोगा सकतमहमुवष्टकभाषानकारण ।

२ राजस्थानी भाषा प ६०

३ राजस्थानी भाषा, पृ० ३५

विचारना बात है कि पश्चिम भारत का बोला का सपूत उत्तर भारत को साहित्यिक भाषा हान का गौरव किस प्रकार प्राप्त हुआ ! यह कौन सा शक्ति है जिसके कारण उत्तर भारत का समस्त बालियाँ मिल जुल कर नवीं दसवीं शताब्दी के आस पास एक विशाल राष्ट्रिय अथवा जातीय भाषा के रूप में कन्द्रामृत हो गयी !

यह एक भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि राजनातिक और आर्थिक कन्द्रान्मुखता के कारण विविध स्थानीय बालियाँ एक विशाल राष्ट्र भाषा के रूप में ढल जाती हैं। नवीं शताब्दी में उत्तर भारत के राजनातिक मानचित्र पर प्रथम के उत्पन्न दृष्टि डालने से मालूम होता है कि बंगाल में पाल, कान्चकुब्ज का ऐतिहासिक म प्रविहार तथा मान्यभट्ट में राष्ट्रकूट राजाओं ने अथवा कारण आभितल जना लिये या और इनमें कान्चकुब्ज के लिए आरसा सधन परापर चल रहा था। मौगालिक दृष्टि से कान्चकुब्ज का राज उत्तर भारत का कन्द्र था और राजनातिक दृष्टि से मा प्रतिहारों ने उस कन्द्र का साधकता प्रमाणित कर दा था। उनके छत्र के नाच आने के समतय राजपूताना, गुजरात तथा मध्यभाग से कान्चकुब्ज तक सारा उत्तर भारत बहुत कुछ एक सूत्र में बँधा हुआ था।

दोना हाठ हुए भी कान्चकुब्ज के दरबार में वहाँ का देशभाषा का वैसा राजाभय प्राप्त न था वैसा सस्कृत का प्राप्त था। इनका अपना पाल और राष्ट्रकूट राजा देशभाषा के कहीं अधिक सरलरूप थे। सरह काण्ड आदि चौरासा सिद्ध कवि पलों के हाँ पासने काल में हुए। उधर पुनर्दत्त और स्वयम्भू जैत महान अभ्रंश कवियों का शक्ति का प्रस्तुदन राष्ट्रकों का ही छत्र छाया में हुआ। इसलिए आरम में तत्कालीन बालियों का अभ्रंश के रूप में कन्द्रित करन आर इस तरह उसे निकसित करन का भेय मुख्यतः राष्ट्रकों का है।

राष्ट्रकूट राजा लाट, सौराष्ट्र से लेकर कान्चकुब्ज तक घाना बान्ते रहते थे वहाँ तक कि लाट और साराष्ट्र ता बहुत दिनों तक उनको एक शाखा के अधिनार में भा था। गहल ना के अनुसार दिल्ली के पास न पुनर्दत्त का तथा कम्पन से स्वयम्भू का अगन यहाँ ल जाने का भेय इहाँ के आक्रमण का है। स्वयम्भू राष्ट्रकूट छुपे (७- ६४) ककिया अमार गढा धनतय के साथ दक्षिण गए और पुनर्दत्त इच्छा तृतीय के मना मरत के साथ।^१ राष्ट्रकों के अगन राधेचैत्र का भाषा जा भा रहा है। परन्तु आरंभ में उनका सबष पश्चिम भारत (राजस्थान और सौराष्ट्र) से था इसलिए उनका अपना भाषा पश्चिम अभ्रंश ही प्रकाश होता है।

१ हिन्दी काव्य धारा धवतरुखिना प २५ २७।

विचारणीय बात है कि पश्चिमी भारत की बोली को संपूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा होने का गौरव किस प्रकार प्राप्त हुआ ? यह कौन सी शक्ति है जिसके कारण उत्तर भारत का समस्त बोलियाँ मिल जुल कर नवीं दसवीं शताब्दी के आस पास एक विशाल राष्ट्रिय अथवा जातीय भाषा के रूप में केन्द्रीभूत हो उठी ?

यह एक भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि राजनीतिक और आर्थिक व द्रान्मुलता के कारण विविध स्थानीय बोलियाँ एक विशाल राष्ट्रिय भाषा के रूप में ढल जाती हैं। नवीं शताब्दी में उत्तर भारत के राजनीतिक मानचित्र पर अपभ्रंश के उत्थान का ऐतिहासिक कारण दृष्टि डालने से मालूम होता है कि बंगाल में पाल, कान्यकुब्ज में प्रतिहार तथा मान्यखेट में राष्ट्रकूट राजाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया था और इनमें कान्यकुब्ज के लिए आपसी संघर्ष स्रारर चल रहा था। भौगोलिक दृष्टि से कान्यकुब्ज का राज्य उत्तर भारत का केन्द्र था और राजनीतिक दृष्टि से भी प्रतिहारों ने उस केन्द्र का साधकता प्रमाणित कर दी थी। उनके छत्र के नीचे अनक सामंत व राजपूताना, गुजरात तथा मध्यभारत से कान्यकुब्ज तक सारा उत्तर भारत बहुत कुछ एक सूत्र में बँधा हुआ था।

इतना हाते हुए भी कान्यकुब्ज के दरबार में वहाँ की देशभाषा को वैसा प्राथम्य प्राप्त न था जैसा संस्कृत को प्राप्त था। इनका अपभ्रंश पाल और राष्ट्रकूट राजा देशभाषा के कहीं अधिक संरक्षक थे। सरह काण्ह आदि चौरासा सिद्ध कवि पालों के हाथ शासन काल में हुए। उधर पुष्पदंत और स्वयम्भू जैसे महान अपभ्रंश कवियों का शक्ति का प्रस्फुटन राष्ट्रकूटों की ही छत्र छाया में हुआ। इसलिए आरंभ में तत्कालीन बालियों का अपभ्रंश के रूप में केन्द्रित करने और इस तरह उसे विकसित करने का भेद्य सुदूरत राष्ट्रकूटों का है।

राष्ट्रकूट राजा लाट, सौराष्ट्र से लेकर कान्यकुब्ज तक धावा गेपते रहते थे यहाँ तक कि लाट और सौराष्ट्र ता बहुत दिनों तक उनका एक शाखा के अधिकार में था। राहुल जी के अनुसार दिल्ली के पास से पुष्पदंत का तथा कावल से स्वयम्भू को आने यहाँ ले जाने का भेद्य इन्हीं के आक्रमण को है। स्वयम्भू राष्ट्रकूट भुव (७८०-६४) के किरा अमान रमडा धनजय के साथ दक्षिण गए और पुष्पदंत कृष्ण तृतीय के मंत्री भरत के साथ।^१ राष्ट्रकूटों के अपभ्रंश राज्यक्षेत्र की भारा जो भी रहा हो, परंतु आरंभ में उनका संवध पश्चिमी भारत (राजस्थान और सौराष्ट्र) से था इसलिए उनकी अपभ्रंश भाषा पश्चिमी अपभ्रंश ही प्रताव हाती है।

१ हिन्दी काव्य धारा संवतरणिका पृ० २५-२७।

यही रही, डा० चटर्जी न उसा प्रगम में अत्यंत प्राचीन काल स शौरसेन और शूरसेन की योली म अंतर दिखलान की चेष्टा की है और अरभ्रश-काल में इस अंतर का स्पष्ट करण क लिए उन्होंने शौरसेना अरभ्रश से भिन्न एक अनुमानित 'शौरसेन अरभ्रश' का अस्तित्व बताया है। यदि यह सच है तो अरभ्रश का दो बालियों का मिश्रण मानना चाहिये। लेकिन ऐसा हाता नहीं।

वास्तविकता यह है कि अरभ्रश काल में पञ्जाब, राजस्थान, गुजरात, शूरसेन तथा उत्तरी महाराष्ट्र का भाग मं काश्मीरक प्राकृतिक कारकायक भइ ग या। याइ स उच्चारणगत परिपूरक भेदों तथा कतिपय व्याकरणिक विशेषताओं का छात्र कर भाग का र्चा गयय यतुत कुछ एक हा सा था। यह तथ्य प्राकृत-वैयाकरणों द्वारा निरूपित विभिन्न प्राकृतों क लक्षणों से पुष्ट हाता है जहाँ फल याइ से स्वनि शिवा रों का विशेषताए अंकित करण शौरसेना, मागधी, पेशावी आदि की 'शय प्राकृतयन्' कहकर चलता क्रिया गया है। इसानिये कुछ विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन वैयाकरणों द्वारा निरूपित महाराष्ट्री, शौरसेना, मागधी आदि भेद भागालिक नहीं हैं।

याराय यह है कि अरभ्रश यामन बाले लागों में आमार, गुजर आदि चाइ गिस जाति का प्रधानता रही हा, परन्तु मांगालिक दृष्टि स यह प्राय परिचमा भारत की बाला थी। नागर अरभ्रश अथात् परिनिष्ठित अरभ्रश इसी बाला का साहित्यिक रूप था। आम अरभ्रश सहा स लागों का परिचमो अरभ्रश का हा बोध हाता है। कुछ लोग उसे शौरसेनी अरभ्रश मा कहते हैं। परन्तु शौरसेनी अरभ्रश कहन समय मन म यह स्पष्ट रहना चाहिय कि यह अकली शौरसेनी प्राकृत का उत्तराधिकारिणी नहीं थी। डा० प्रियदर्शन का भी यही मत है।^१

साहित्यिक अरभ्रश मूलत और मुख्यत परिचमा भारत की बाली होती हुई मी ८वीं से १३वीं शताब्दा तक समूचे उत्तर भारत का साहित्यिक भाषा थी। एक आर इसम बद्दाल क सरह आर फायद जैसे विद्व बालियों न दोहा काशों की रचना की और मिथिला म व्यातिराश्वर तथा विद्यापति ने स्थानीय योली का पुट देकर साहित्यिक अरभ्रश म भंग लिया तो दूसरा आर मुल्तान में आदुल रहमान का भी कंठ इसी में फूटा। दक्षिण में मान्दसैट के पुण्यवत न इसी याणी को अपने हृदय का हार बनाया, अस्थये क कनकामर मुनि ने इसा में चरित गाया और महाकवि स्वयम्भू ने रामायण की रचना के लिए इसी भाषा को चुना।

^१ लिंग्विस्टिक सर्वे र्वेण इंडिया जिल्द १ भाग १ पृ० १२५ की पादटिप्पणी

विचारणा यात हे कि पश्चिमी भारत का बोली का संपूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा होन का गौरव किस प्रकार प्राप्त हुआ ! वह कौन सी शक्ति है जिसके कारण उत्तर भारत का समस्त बालियों मिल जुल कर नवीं दसवीं शताब्दी के आस पास एक विशाल राष्ट्रिय अथवा जातीय भाषा के रूप में कन्द्रीभूत हो उठी !

यह एक भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि राजनातिक और आर्थिक कन्द्रीभूतता के कारण विविध स्थानीय बोलियाँ एक विशाल राष्ट्रिय भाषा के रूप में ढल जाती हैं। नवीं शताब्दी में उत्तर भारत के राजनातिक मानचित्र पर अथवा के उत्थान दृष्टि डालने से मालूम होता है कि बंगाल में पाल, कान्यकुब्ज का ऐतिहासिक प्रतिहार तथा मान्यखेट में राष्ट्रकूट राजाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया था और इनमें कान्यकुब्ज के लिए आपसा संधि बराबर चल रहा था। भौगोलिक दृष्टि से कान्यकुब्ज का राज्य उत्तर भारत का कन्द्रीय और राजनातिक दृष्टि से भी प्रतिहारों ने उस कन्द्रीय का साथकता प्रमाणित कर दा थी। उनके द्वारा के नाच अनेक मामलों में राजपूताना, गुजरात तथा मध्यभारत से कान्यकुब्ज तक सारा उत्तर भारत बहुत कुछ एक सूत्र में बंधा हुआ था।

इतना हात हुए भा कान्यकुब्ज के दरबार में यहाँ की देशभाषा का वैसा राजाधन प्राप्त न था वैसा संस्कृत का प्राप्त था। इनका अपना पाल और राष्ट्रकूट राजा देशभाषा के कहीं अधिक सरलक थे। सरल कण्ठ आदि चौराहा सिद्ध कथि पालों के हा शासन काल में हुए। उधर पुण्यदत्त और स्वयम्भू ने महान अपभ्रंश कर्मियों का शक्ति का प्रस्तुतन राष्ट्रकूटों का ही छत्र छाया में हुआ। इसलिए आरम्भ में तत्कालीन बालियों का अपभ्रंश के रूप में कन्द्रीय करने और इस तरह उसे विकसित करने का ध्येय मुख्यतः राष्ट्रकूटों का है।

राष्ट्रकूट राजा लाट, सौराष्ट्र से लेकर कान्यकुब्ज तक घावा बाधते रहते थे यहाँ तक कि लाट और सौराष्ट्र ता बहुत दिनों तक उनकी एक शाखा के अधिकार में था। राष्ट्रकूटों के अनुसार तिल्ला के पास से पुण्यदत्त का तथा कामल से स्वयम्भू का अवन यहाँ से जान का ध्येय इन्हीं के आक्रमण को है। स्वयम्भू राष्ट्रकूट युद्ध (७०-६४) के काल में अमान रणहा धनजय के साथ दक्षिण गए और पुण्यदत्त इच्छु नृपति के मंत्रा मरत के साथ।^१ राष्ट्रकूटों के अवन राष्ट्रकूट का भाषा जो भी रहा हा परन्तु आरम्भ में उनका संघर्ष पश्चिमी भारत (राजस्थान और सौराष्ट्र) से था इसलिए उनका अपना भाषा पश्चिमी अपभ्रंश ही प्रतीत होता है।

प्रतिहारों के विपरीत, राष्ट्रकूट राजा जैन थे और उनकी प्रजा का अधिकांश गणन समाज जैन वैश्य था इसलिए उन्होंने स्वभावतः ही जैनों द्वारा बोली और लिखी जाने वाली भाषा अपभ्रंश का संरक्षण दिया। उस समय पश्चिम भारत का अधिकांश वाणिज्य जैन वैश्यों के हाथ में था। धीरे धीरे गुजरात इस वाणिज्य का केन्द्र हो गया था इसलिए इस क्षेत्र की भाषा का राष्ट्रीय भाषा के रूप में उत्थान स्वाभाविक ही था।

आगे चलकर अर १०वीं शताब्दी का अंत हात होते मान्यगैट के राष्ट्रकूट गतधी होने लगे तो गुजरात में सोलकी चालुक्यों की शक्ति प्रबल हो उठी जिसमें विद्वराज जयमिह तथा कुमारपाल जैसे जैन मत के पापक और अपभ्रंश साहित्य के उन्नायक उत्थान हुए। विद्वराज स्वयं तो जैन न था, फिर भी उस पर जैन मंत्रियों का पर्याप्त प्रभाव था। अपभ्रंश के प्रसिद्ध विद्वान् तथा जैन मत के आचार्य कलिकाल सयज्ञ हेमचंद्र सूरि का संरक्षण देने का श्रेय विद्वराज का ही है। साहित्य सृजन के लिए हेमचंद्र का धन और जन की कितनी सुविधाएँ राज्य की ओर से दी गई थीं यह उस युग में किसी के लिए भी ईर्ष्या का विषय हो सकता था।

और कुमारपाल तो प्रायः हेमचंद्र द्वारा जैन मत में दीक्षित ही हो गया था। उसकी 'अमारिषाषणा' इतिहास में प्रसिद्ध है। कुमारपाल ने भी अपभ्रंश को यथेष्ट संरक्षण किया।

इस तरह मान्यगैट के राष्ट्रकूटों के बाद पाटण्ड्य के सालकी दूसरे राजा हुए जिन्होंने अपभ्रंश भाषा और साहित्य के उत्थान में बहुत बड़ा कार्य किया। सालकियों के शासन काल में गुजरात का वैभव पराकाष्ठा पर था। वाणिज्य और संस्कृति दोनों में बड़ा आगत का सिरमौर हो रहा था। स्वाभाविक था कि इस राज्य की साहित्यिक भाषा उस समय की राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो।

यद्यपि उसी समय कान्यकुब्ज में प्रतिहारों का हराहर महाप्रतापी गाहड़वाल विहासनासोन हुए थे जिसमें गाविह चंद्र (१०६१-१११४ ई.) और उसके पौत्र जयचंद्र (११७-१६३ ई०) जैसे चक्रवर्ती राजा हुए, तथापि उनके द्वारा लोक भाषा का कोई प्रथम नहीं मिला। उनके दरबार में संस्कृत का ही सम्मान था। भीष्म जैसे संस्कृत के पंडित कवि से गाहड़वालों का दरबार सुशोभित था। उनके सुसंस्कृत दरबार में मला लोक भाषा के कार्य की कहीं पूछ।

गाहड़वाल राजाओं ने निःसंदेह महान सांस्कृतिक कार्य किये, लेकिन उन्होंने अपने समय का जायंत लोक भाषा का छाँटकर साहित्य-रूढ़, परम परिष्कृत और विकास-रूढ़ संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन दिया, या यों कहें कि उसे अपने अलङ्कारण का

साधन बनाया। शायद ब्राह्मण धर्म के प्रचलन समर्थक होने के कारण गाहड़वालों ने जैनों के द्वारा प्रवर्द्धित अपभ्रंश का प्रश्रय देना उचित नहीं समझा।

कथा-कहानियों और किंवदंतियों से मालूम होता है कि अंतिम दिनों में परवर्ती गाहड़वालों ने लोक-भाषा की ओर ध्यान देना आरम्भ किया था। जयचंद्र का महामन्त्री विद्याधर लोक-भाषा का अग्राध्या कवि था।^१ इधर दामादर परिहृत द्वारा लिखी हुई 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' नामक एक पुस्तक प्राप्त हुई है जिसे उक्त परिहृत ने गाहड़वाल राजाओं को लोक भाषा में संस्कृत पढ़ाने के लिए लिखी थी।^२ परवर्ती गाहड़वालों के लोक भाषा प्रेम के ये प्रमाण हैं। लेकिन यह प्रेम तो तब पैदा हुआ जब अपभ्रंश अपना काय पूरा कर रही थी और आधुनिक देश भाषायें अकुरित हो चली थीं। मतलब यह कि गाहड़वालों ने अन्त तक अपभ्रंश का रक्षाभय नहीं दिया। इसलिए उस समय सांस्कृतिक केन्द्र कान्यकुब्ज न हाकर पाटण रहा क्योंकि वह उभरती हुई नई संस्कृति—लोक-संस्कृति और लोक भाषा अपभ्रंश का क्षेत्र था। तत्कालीन राष्ट्रभाषा अथवा साहित्यिक भाषा पर पड़ोसी प्रभाव का मुख्य कारण यही है।

उपरोक्त राजनातिक घटनाओं के बखान से यह न समझना चाहिए कि अपभ्रंश का साहित्यिक भाषा बनाने का ध्येय केवल कुछ राजाओं को है। किसी भाषा को बड़ी छोटी करना किसी राजा के बूते की बात नहीं है। भाषा का मूल स्रोत तो लोक समाज ही है और उसे यथेष्ट रूप देने की शक्ति भी उसी लोक के हाथ में है। फिर भी उस युग में राजकीय अथवा साम्प्रदायिक सरकार के प्रभाव में लोक द्वारा रची हुई अनेक रचनायें सुरक्षित न रह सकीं। इसलिए अपभ्रंश के उन्नयन में राजकीय और साम्प्रदायिक सरकार की चर्चा करना उसे अनुचित महत्व देना नहीं है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन राजाओं ने राजनातिक और व्यवसायिक केन्द्रों के निर्माण में भी बहुत बड़ा काय किया, जिनसे बिलखा हुई साक-बोलियों में केन्द्रामिमुख प्रवृत्ति आयी। इसे मूलना ठीक नहीं है। यद्यपि अपभ्रंश इतने विस्तृत भूभाग की व्यापक साहित्यिक भाषा रही फिर भी उसमें स्थान-भेद से कुछ विविधता आ ही गयी।

इस तथ्य की ओर पुराने परिहृतों का भी ध्यान गया है। उन्होंने अपभ्रंश के विविध भेदों की चर्चा की है। विष्णुधर्माचर ने देश-भेद से अपभ्रंश के अनन्त भेद माने हैं।^३ एक तरह से यह उचित है क्योंकि हर दस काठ

१ प्राहृत-वैगलम्, प्रबन्ध चिन्तामणि पुरातन प्रबन्ध सप्तद्व

२ डा० मोतीचन्द (सम्पूर्णानन्द भूमिभन्दन प्रथ)

३ देशभाषाविषेण तस्यान्तो नव विधते। (विष्णु० ३।३)

काशिश की है।

डा० तगारे ने दक्षिणी अपभ्रंश के अतर्गत पुण्यदत्त के महापुराण जठहर चरित और शायबुमार-चरित तथा कनकामर के करकट-चरित काव्यों की गणना की है। कारण स्पष्ट है। इनकी रचना षमश मान्यसेट और बक्षिणी अस्सवे (परार) में हुई, इसलिए अनुमान के लिए सहज छूट मिल जाती है कि इन काव्यों की भाषा पर स्पानीष बालियों की छाप अवश्य पड़ी होगी। इन काव्यों की भाषा सभी विशेषताओं को अलग करने के लिए डा० तगारे ने कुछ ऐसे संज्ञा-शब्द और क्रिया-शब्द दिये हैं जो परिनिष्ठित अपभ्रंश अथवा परिचमी अपभ्रंश के रूपों से अतिरिक्त हैं। जैसे,

- १ दक्षिणी अपभ्रंश की ध्वनि संबंधी विशेषता यह है कि सस्वृत-य का विशय छ होता है जब कि अन्य अपभ्रंशों में स्व या-य होता है।
- २ अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द का तृतीया एक वचन में अधिकांशत-एण वाला रूप मिलता है जब कि परिनिष्ठित रूप-एकारान्त है।
- ३ उत्तम पुरुष एक वचन में सामान्य यतमान काल की क्रिया—मि परक होती है जैसे, करमि जब कि परिनिष्ठित रूप—उं परक होता है जैसे करउँ।
- ४ अय पुरुष बहुवचन में सामान्य यतमान काल की क्रिया तित परक होती है, जैसे करन्ति, जब कि परिनिष्ठित रूप-दि परक होता है जैसे करहि।
- ५ सामान्य भविष्यत् काल के क्रियापद अधिकांशत —स—परक होते हैं जैसे, करिहू जब कि परिनिष्ठित रूप प्राय —ह—परक होते हैं जैसे करिहू।
- ६ प्रकालिक क्रिया के लिए—इ प्रत्यय का प्रयोग नहीं के बराबर अथवा बहुत कम जब कि यह प्रत्यय परिनिष्ठित अपभ्रंश में सर्वाधिक प्रयुक्त होता था, जैसे, मुनि, चलि आदि।

उपयुक्त विशेषताओं की दृष्टान्तीन करने से पता चलता है कि ये स्थानगत उतनी नहीं हैं जितनी शैलीगत। डा० तगारे ने पुण्यदत्त और कनकामर की भाषा में जिन्हें दक्षिणी अपभ्रंश की अपनी विशेषताएँ कहा है वस्तुतः वे बहुत कुछ प्राकृत-प्रभाव हैं। विविध ऐकलिक रूपों में से प्राचीन और नवीन रूपों का अलग-अलग करक किसी निष्पत्ति पर पहुँचना अधिक सामंजस्यक होता लेकिन डा० तगारे ने यहाँ इस विवेक का परिचय नहीं दिया है। पुण्यदत्त की भाषा को मराठी की जननी प्रमाणित करने के आवेश में डा० तगारे की दृष्टि से यह तथ्य ओभ्रंश हो गया कि परिचमी अपभ्रंश नाम से अभिहित 'भविस्त्वक्त कहा' और दक्षिणी अपभ्रंश नाम से अभिहित 'महापुराण' की भाषा में कोई मौलिक अंतर

हैं। दोनों ही का रचना परिनिष्ठित अपभ्रंश में हुई है थोड़ा बहुत जो अंतर है मा वह केवल शैली सम्बन्धी है और रचयिता भेद से इतना-सा भेद था जाना जायाविशु है।

निकम यह निकला कि दक्षिणी अपभ्रंश नामक एक अलग भाषा की इत्यना निराधार और अवैज्ञानिक है।

पूर्वी अपभ्रंश का सबसे बड़े समर्थक याकोबी हैं। 'सनकुमार चरित' का भूमिका म 'प्राकृत पैंगलम्' की भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने जहाँ उसकी भाषा का 'अवहट्ट' कहा है, वहीं उस अवहट्ट की आधारभूत पूर्ववर्ती भाषा को 'पूर्वी अपभ्रंश' माना है, जो याकोबी के अनुसार विहार में प्रचलित थी।

याकोबी की इस धारणा के दो अघार थे। एक तो म० म० हरप्रसादशास्त्री द्वारा सम्पादित तथा सग्न प्रकाशित (१९१७) 'बौद्ध गान ओ दूहा और दूसरा, प्रियसंन की यह स्थानना कि प्राकृत वैयाकरणों को पूर्वी तथा पश्चिमी दो षगों में रखा जा सकता है। यथा वररुचि, लकेश्वर, ऋमदाश्वर, रामशर्मा, माकण्ठेय आदि पूर्वी षग से संरद्ध हैं तो वाल्मीकि सुशो पर आधारित, हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, लक्ष्मोघर, सिंहराज आदि पश्चिमी षग से। इस प्रकार याकोबी के सम्मुख पूर्वी अपभ्रंश के लिए साहित्य तथा याकरण दोनों ही क्षेत्रों के प्रमाण उपस्थित थ।

यदि प्राकृत वैयाकरणों क आपसी मतभेद को ध्यान में रखा आय तो अपभ्रंश-संरधी दो मिन मत दृष्टिगाचर होते हैं। रामशर्मा और माकण्ठेय ने जहाँ 'प्राच्या' को अपभ्रंश का एक भेद माना है वहाँ पश्चिमी षग के पुरुपोत्तम के यहाँ उसका अस्तित्व नहीं है।

यदि याकोबी 'पूर्वी अपभ्रंश' के प्रवल समर्थक हैं तो उसके कट्टर विरोधी हैं प्रा जयूल म्लाख। डा० शहीदुल्ला की थीसिस 'सरह और काएह के रहस्य गीत' का आमुन्य लिखते हुए प्रो० जयूल म्लाख ने याकोबी के तत्संबधी मत का खट्टा किया है। उन्होंने प्रश्न उठाया है कि क्या इन दोहाकोशों की भाषा को याकोबी की तरह पूर्वी अपभ्रंश कहना जरूरी है। और इस प्रश्न का समाधान उपस्थित करत हुए वे आगे कहते हैं कि हाँ, यदि इसका अय वह अपभ्रंश है जो पूर्वी षगों में प्राप्त होती है तथा जिसमें कुछ पूर्वी प्रभाव हैं और नहीं, यदि कई उसमें वास्तविक पूर्वी भाषाओं का आघार दूँदने की कामना करता है। जयूल म्लाख अपभ्रंश सहा को एक 'साहित्यिक भाषा' के ही अथ तक सामित रतना चाहते हैं और उनके विचार से सहज बोलचाल की भाषा के लिए अपभ्रंश

१ एस० एन० घोपाल एन एनकायरी इन्स्टीटुट अपभ्रंश (एशियाटिक सोसायटी जनल जिन्द २२ संख्या १, १९५६ ई०)

संज्ञा का प्रयोग अर्थाद्धित है—खास तौर से उक्त भाषा के लिए जिन्होंने मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय बोलियों के बीच समन्वय का कार्य सम्पन्न किया था। अन्त में उन्होंने डा० यहीदुल्ला की इस समझदारी की तारीफ की है कि उन्होंने सरह और काहू की अपभ्रंश को केवल 'बौद्ध' संज्ञा से अभिहित किया है।

पूर्वी अपभ्रंश संबंधी इन विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए भी एच० एन० घोपाल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि नागर या पश्चिमी अपभ्रंश से एकदम भिन्न एक 'पूर्वी साहित्यिक अपभ्रंश' के अस्तित्व को स्वीकार करना संभव नहीं है। पूर्वी अपभ्रंश नामधारी भाषा के सही रूप एवं स्थान के बारे में घोपाल ने ग्रियसन का मत उद्धृत किया है। ग्रियसन ने स्पष्ट कहा है कि मार्कण्डेय तथा रामशर्मा द्वारा उल्लिखित ओड़ी, प्राच्या और गौड़ी अपभ्रंश यस्तु उन प्रदेशों में प्रचलित शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश ही हैं। इस प्रकार याकोबी की पूर्वी अपभ्रंश भी पूर्वी क्षेत्रों में प्रचलित पश्चिमी अपभ्रंश के ऐसे भेदों से संबद्ध अथवा समूह ही है।

यस्तुत याकोबी को भी अपने मत का अनौचित्य स्पष्ट था। समस्त इसीलिए उन्होंने पूर्वी अपभ्रंश को एक 'साहित्यिक भाषा' ही माना है जो पश्चिमी प्रदेशों से पूर्व में आई थी और पूर्वी क्षेत्र के लिए बहुत कुछ विदेशी थी। गौड़ देश में मागधी प्राकृत प्रचलित थी, जिससे पूर्वी अपभ्रंश अथवा बौद्ध अपभ्रंश का कोई संबंध नहीं है।

पूर्वी अपभ्रंश के संबंध में घोपाल की अपनी धारणा यह है कि पूर्वी प्रदेशों की बोलचाल की भाषा मागधी अपभ्रंश थी जो मागधी प्राकृत की वास्तविक धराज थी और वह मागधी अपभ्रंश पूर्वी साहित्य में व्यवहृत पश्चिमी अपभ्रंश से एकदम भिन्न थी। जैसा कि ग्रियसन, चटर्जी तथा अन्य भाषाविदों ने दिखलाया है, मागधी अपभ्रंश ही बँगला, उडिया, मगही, मैथिली और भोजपुरिया प्रभृति आधुनिक भाषाओं का मूल स्रोत है। इस प्रकार यदि पूर्वी अपभ्रंश का अर्थ पूर्वी प्रदेशों की साहित्यिक भाषा है तो निश्चय ही पूर्वी अपभ्रंश नाम की कोई बात नहीं है। लेकिन यदि पूर्वी अपभ्रंश का तात्पर्य मागधी अपभ्रंश से है, जो कि आधुनिक पूर्वी बोलियों का मूल स्रोत है, तो निश्चय ही उसका अस्तित्व था और वह एक जीवित सत्य की भाँति वास्तविक थी।

डा० तगारे के 'पूर्वी अपभ्रंश' की मायता सरह और काहू के बोझों पर आधारित है। इन बोझाकोशों की भाषा में परिनिष्ठित पूर्वी अपभ्रंश के अतिरिक्त जो स्थानीय विशेषताएँ हैं उन्हें अलगगते हुए डा० तगारे ने जिन तर्कों की तालिका दी है, उनमें से

निम्नलिखित मुख्य हैं—

१ पूर्वी अपभ्रंश में कुछ सस्कृत ध्वनियों का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

- (i) क्ष > ख —, —क्ख — जैसे क्षण > खण
 अक्षर > अक्खर
- (ii) त्व > तु —, —त्त — जैसे त्वम् > तुम् तत्त्व > तत्त
- (iii) द्व > दु — जैसे द्वार > दुआर
- (iv) व > ब जैसे वज्र > बज्ज, वेद > वेअ
- (v) प } > श
 स }

२ सस्कृत श सुरक्षित रहता है ।

३ आद्य महाप्राणत्व नहीं होता ।

४ लिंग की अतन्त्रता बहुत अधिक है ।

५ निर्विमर्शक संज्ञा पद बहुत मिलते हैं अप्रिकारी सामान्य कारक बनाने की प्रवृत्ति सभी अपभ्रंशों से अधिक दिखाई पड़ती है ।

६ अन्य अपभ्रंशों की तरह यहाँ पूर्वकालिक और क्रियायक संज्ञा के प्रयत्नों में मिश्रण नहीं हुआ । पूर्वकालिक प्रत्यय—अइ का प्रयोग पूर्वी अपभ्रंश में क्रियायक संज्ञा के लिए भी हुआ है, जैसे करइ = (१) करि (ii) करना

७ क्रियायक संज्ञा के लिए परिनिष्ठित अपभ्रंश की—अण प्रत्यय का यहाँ प्रायः अभाव है । प्रायः—इव लत्वत् प्रत्यय से क्रियायक संज्ञा भा बनाने जाती है ।

डा० तगारे ने पूर्वी अपभ्रंश की जो उपयुक्त विशेषताएँ लक्षित की हैं वे प्रायः ठीक हैं लेकिन यदि वे दोहाकोषों की सीमा से आगे बढ़कर सरह और काएह का गीतियों अथवा चयापदों की भाषा का विश्लेषण करते तो उपयुक्त स्थापनाओं की पुष्टि के लिए पुष्कल प्रमाण मिलते साथ ही कुछ और मानें विशेषताएँ दृष्टिगोचर हो जातीं । जैसा कि प्रो० पी० सी० बागची बहुत पहले ही लिख चुके हैं, वस्तुतः दोहाकोषों की रचना बहुत कुछ परिनिष्ठित अपभ्रंश में ही हुई है, जो पछाही भाषा जो उनमें केवल कहीं कहीं कुछ स्थानीय प्रभाव तथा लिपि शैली के कारण पूर्वी प्रदेश की बोली के लक्षण दिखाई पड़ जाते हैं ।

चयापदों का भाषा में दाहाकोषों की अपेक्षा पूर्वापन अधिक है । किसी एक दोहा और चयापद की तुलना से यह बात स्पष्ट हो सकती है । नाचे तुलना के लिए काएह का ही एक दाहा तथा एक गीत उद्धृत किया जा रहा है ।

१ पी० सी० बागची ए नोट भान द लखैव काफ द बुद्धिस्ट दोहाउ थोरिएंस जनल, कमरसा जिरर १

- (१) जिमि सोए विलिउजइ पाणिण्हि तिम घरणी सइ धित ।
समरस जाई तरजण, जइ पुणु ते सम लित ॥१२॥
- (२) नगर थाहिरे डोम्वि तोहोरि बुडिमा ।
छाड छोड जाई सो बाण्हण नाडिया ।
पालो डोम्वि तोए सम हरिय म राग ।
निविएण जाएह कपालि जोई सव ॥ १० (अश)

दोहों की भाषा में डा० तगारे का जो मूल पृष्ठ प्रत्यय—ल अथवा इल का दशन नहीं हुए, चर्चापदों में इसके दर्जनो उदाहरण उर्दे सहज ही मिल जाते ।

- (१) हउ सूतेलि महासुह लाले ॥१८॥ (काण्ह)
(२) सुअने मइ देखिल तिहुँअण सुणण ॥१६॥ (काण्ह)
(३) चीआ राअ सहावे मूफल ॥३२॥ (सरह)
(४) सरह भण्ह वप उजु बट भइला ॥३२॥ (सरह)

गीतों की भाषा में पूर्वापन का हाना स्वाभाविक था क्योंकि ये साधारण लोगों के गाने के लिए लिखे गये थे । इनके विपरीत दोहों की भाषा का पन्द्राह की परिनिष्ठित अपभ्रंश में होना अनिवाय था क्योंकि उनमें शान की सूक्ष्म बातें कही गई थीं । सारंगी (खोहा) का पन्द्राह की परिनिष्ठित भाषा में कहने तथा सपदी (पद) को स्थानीय पूर्वी वाली में गाने की परम्परा सिद्धों के बाद भी कबोर आदि तक चलती रही ।

साहित्य की भाषा में पन्द्राह और पूरव का क्षेत्रीय भेद प्राकृत-काल से ही चला आ रहा है और अपभ्रंश-युग में उस भेद के मिट जाने का कोई तर्कसंगत ऐतिहासिक कारण नहीं दिखाई पड़ता ।

इसलिए डा तगारे के वर्गीकरण में जहाँ दक्षिणी अपभ्रंश नामक भेद कबल कल्पना है, वहाँ पूर्वी अपभ्रंश का भेद वास्तविक है, इस शर्त के साथ कि पूर्वी अपभ्रंश की अधिकांश विशेषताएँ चर्चापदों में सुरक्षित हैं । चर्चापदों के आधार पर पूर्वी अपभ्रंश की स्थापना की जाती तो डा तगारे से प्रो० अल्फ्रेड मास्टर को यह शिकायत न रहता कि पूर्वी अपभ्रंश के वर्गीकरण का आधार बहुत स्वल्प है !^१

किन्तु इसके साथ ही अल्फ्रेड मास्टर की यह सम्मति सुचिंतित प्रमाणित नहीं होती कि डा तगारे का क्षेत्रीय विभाजन उचित है । मास्टर को आपत्ति है

अभ्रश के पूर्वी भेद पर जब कि आपत्ति होना चाहिए उस व दक्षिण भेद पर।

वस्तुतः भारतवाय आश्रयभाषा का पूर्ववर्ती परम्परा व अनुसार अभ्रश के मा काल दा क्षेत्राय भेद थे—पश्चिमा और पूर्वी जिनमें पश्चिमा अभ्रश परिनिष्ठित या तथा पूर्वी अभ्रश उसका विभाग-भाषा था।

अभ्रश के इससे अधिक भेदों का सत्ता मनाने व लिए इस समय कोई गुणादेश नहीं है।

वैभाषिक और क्षेत्राय दोनों भेदों के बावजूद अभ्रश भाषा का एक परिनिष्ठित रूप भी था। इस परिनिष्ठित अभ्रश का मूल आधार पश्चिमा प्रदेशों का बाला या और ऐतिहासिक दृष्टि से यह शौरसेना

परिनिष्ठित
प्रथम और
उपरी मुख्य
विशेषताएँ

प्राकृत की परम्परा में थी। इसीलिए कुछ विद्वान इन्से पश्चिमा अभ्रश और कुछ शौरसेनी अभ्रश कहते हैं। इमच द्र ने मा अपने प्राकृत व्याकरण में अभ्रश का 'नाकरण' लिख चुकने के बाद अन्त में 'शर शौरसेनायत्' लिख कर इस तथ्य की ओर संकेत किया है। इसका अर्थ इतना ही है कि

शौरसेना अथवा पश्चिमा अभ्रश ने शौरसेनी प्राकृत को कुछ विशेषताओं का निवाह करते हुए बहुत-सा नई विशेषताएँ भी प्राप्त कर ली थी। अभ्रश व इस परिनिष्ठित रूप का ठीक ठीक जानने के लिए उसमें प्रचलित प्राकृत के दाय भाग और स्वयं अभ्रश द्वारा अर्जित अपना विशेषताओं का पृथक्-पृथक् बोध आवश्यक है।

लेकिन प्राचीन भाषाओं का वास्तविक रूप जानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि वे आवृत्त भाषाओं की तरह बोलचाल के रूप में प्राप्त न हाकर लिपि

लिपि गली की
कठिनाइयाँ

के माध्यम से ही सुलभ हो पाती हैं। इसलिए उनकी ध्वनि सबधा सूक्ष्मताओं का ठीक-ठीक जानकारी ता हो ही नहीं पाती, कभी-कभी लिपिकारों के प्रमाद से रूप-सम्बन्धी विशेषताओं में भी गड़बड़ हो जाता है। यह बात अभ्रश भाषा के मा

विषय में लागू होती है। अभ्रश की अधिकांश ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ तथा कुछ रूप-सम्बन्धी विशेषताएँ उसके प्रयोगों की लिपि शैली (अथोप्राप्ती) पर निर्भर है।

यद्यपि अभ्रश कान्ठों व विद्वान संग्राहकों ने बहुत सावधानी से संग्राहण करके इनके कान्ठों का वैज्ञानिक सम्करण प्रस्तुत किया है फिर भी ध्वनि-विचार और रूप विचार को प्रभावित करने वाली कुछ लिपि शैली सम्बन्धी समस्याएँ रह जाती हैं।

है। इस संबंध में विद्वानों ने लक्षित किया है कि—

१ आदि और अनादि स्वयं व्यंजनों का महाप्राण रूप हा जाता है।

२ ऋ अथवा र व समीपवर्ती दंत्य व्यंजन मूषय हा जाते हैं।

३ आदि य-प्राय च-हा जाता है, इस तरह अपभ्रंश में य-का कार्य प्वनि-मूल्य नहीं था।

४ ऊम व्यंजनों में से अपभ्रंश में कवल 'स' अथशिष्ट था।

५ यद्यपि प्राकृत-व्याकरणों ने अपभ्रंश में मप्यग—क—,—त—
—प—, तथा —ल—, —घ—, —ण—, वैसी अवाप प्वनियों के घाप
(ग, द, ब, घ और म) हा जाने की व्यवस्था दा है फिर भी अपभ्रंश
साहित्य में इस व्यवस्था का पालन नहीं मिलता। अपभ्रंश साहित्य म
प्राकृत व ही अनुसार—क, —ग—, —च—, —ज—, —त—, —द— (और
—प—भी) सुप्त हा जाते हैं। इसी तरह—ख—, —घ—, —घ—, —घ—,
—ण—, —म—प्राय —ह—हा जाते हैं।

६ यत्र व प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश में सयुक्त 'र' का सुरक्षित लक्षित किया
है और प्रगण, प्रयानदी, प्राठ प्राइघ, प्रिय जैसे प्रयोग भी मिल जात हैं
तथापि सामान्यत अपभ्रंश में सयुक्त 'र' के समीकरण की ही प्रवृत्ति दिखाई
पड़ती है।

७ प्राकृत वैयाकरणों के कथन के बावजूद अपभ्रंश म 'र' का आगम बहुत कम
दृष्टिगाचर हाता है।

८ यद्यपि—म—अपभ्रंश में यथावत् सुरक्षित था किन्तु—म>—वै—परिवर्तन
का प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। इस परिवर्तन का आरंभ प्राकृत
काल स ही हो गया था लेकिन इसकी अधिकता को अपभ्रंश की अपनी
विशेषता कहा जा सकता है।

अपभ्रंश जिस विषय में प्राकृत से पृथक् अस्तित्व तथा उससे ऐतिहासिक
विकास प्राप्त करती है वह है। उसकी रूप निर्माणा संबंधी विशेषता। राहुल जी के
शब्दों में 'उसने नये सुपन्तों और तिदन्तों की सृष्टि की है।'
रूप निर्माण की यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य में प्राकृत काल के प्राचीन रूप बहुत
प्रमुख प्रवृत्तियाँ दिनों तक प्रचलित रहे और बड़े-बड़े अपभ्रंश कवियों की
भाषा भी प्राकृत-प्रभाव से खवया मुक्त न थी, फिर भी अपभ्रंश
रूप निर्माण की निजी प्रवृत्तियाँ क्रमश अपनी प्रधानता स्थापित करती चली गईं।
ऐतिहासिक दृष्टि से यही नये रूप विशेष महत्वपूर्ण हैं।

विद्वानों ने अपभ्रंश रूप निर्माण की प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्देश इस प्रकार किया है—

- १ रूप निर्माण की दृष्टि से प्रातिपादिकों की विविधता अपभ्रंश में नहीं रही विभिन्न स्वरान्त के प्रातिपादिक अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द के कारक रूपों से प्रभावित थे। इस तरह रूपनिर्माण की दृष्टि से अपभ्रंश में केवल अकारान्त पुल्लिङ्ग प्रातिपादिक की सत्ता थी।
- २ व्याकरणिक लिंग भेद क्रमशः समाप्त हो चला या और नपुंसक लिंग तो व्यवहारतः लगभग लुप्त हो गया।
- ३ कारक विभक्तियाँ अपभ्रंश में आते आते सिमट कर केवल तान समूहों में एकत्र हो गई थीं। पहला समूह प्रथमा, द्वितीया और सन्वोधन का दूसरा तृतीया और सप्तमी का तथा तीसरा चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी का। इन तीनों समूहों में से अन्तिम दोनों में प्रायः मिश्रण और विषयय हुआ करता था जिससे कभी-कभी रूप निर्माण की दृष्टि से सामान्य कारक (डाइरेक्ट केस) और विकारी कारक (इन्डिरेक्ट केस) दो ही का अस्तित्व रहता था। इस तरह जहाँ संस्कृत में कारकों के लिए एक शब्द के २१ रूप हात थे और प्राकृत में १२, वहाँ अपभ्रंश में लगभग ६ रूप रह गये।

अपभ्रंश की पिछी हुई कारक विभक्तियाँ भी प्राकृत से ज्यादा दूर थीं जैसे तृतीया एकवचन में—एण की जगह—एँ और षष्ठी एकवचन में—स्स का जगह—इ आदि।

- ४ अधिकांशतः प्रथमा और द्वितीया में तथा कभी-कभी अन्य विभक्तियों में भी केवल निर्विभक्तिक शब्द का प्रयोग किया जाता था।
- ५ निर्विभक्तिक पदों तथा पिछे हुए सविभक्तिक रूपों से उत्पन्न अ पदस्था और गड़बड़ी को दूर करने के लिए अपभ्रंश में अनेक स्वतंत्र शब्दों का प्रयोग परसग की तरह किया जाने लगा जैसे तृतीया के लिए, 'सहुँ', 'तण' चतुर्थी के लिए केहि, रेठि पंचमी के लिए होन्तउ, होन्त, षष्ठि षष्ठी के लिए केरअ, केर, कर, का, की और सप्तमी के लिए मन्क, मह आदि।
- ६ काल-रचना की दृष्टि से अपभ्रंश धातुओं के विद्वन्त रूप मुख्यतः लट्, लो और लृट् लकारों में ही होते थे शेष लकारों के रूप प्रायः वृद्धन्त होने लगे।
- ७ प्राकृत तक लट् (सामान्य वर्तमान काल) के रूप प्रायः संस्कृत से मिलते जुलते होते थे, जैसे

परवर्ती अपभ्रंश और उसमें हिन्दी के बीज

परिनिष्ठित अपभ्रंश में आधुनिक देसी बोलियाँ के मिश्रण का आभाव हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के रचना काल (११४२ ई०) से ही मिलन लगता है। उनकी 'देशीनाममाला' में भी ऐसे अनेक देश शब्दों परिनिष्ठित का समूह है जो प्राकृत ही नहीं बल्कि अपभ्रंश साहित्य अपभ्रंश में देनी में भी अप्रयुक्त हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग बालचाल में ही बोलियों होता रहा हागा, यह बात सहज ही सोची जा सकती है। का मिश्रण इसका अतिरिक्त 'काव्यानुशासन' में हेमचन्द्र ने स्पष्ट ही शिष्ट अपभ्रंश से भिन्न 'प्राग्य अपभ्रंश' का अस्तित्व स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि यह प्राग्य अपभ्रंश सामान्य लोकजीवन में व्यवहृत होने वाली परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही कोई न कोई रूप थी जिसमें समस्त स्थानीय बोलियों का मिश्रण हो गया होगा।

इस तथ्य की पुष्टि में विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का व्याकरण लिखा वह उस समय बोलचाल से उठ चुकी थी।^१ इस कथन का समर्थन में युक्ति दी गई कि यदि यह भाषा उस समय जीवित रही होती तो उसका इतना सादाहरण और विस्तृत व्याकरण लिखने की कोई जरूरत न होती। लेकिन सच्चाई यह है कि किसी भाषा के व्याकरण की सांकेतिक और संक्षिप्त रूपरेखा से ही उसका जीवित रहना सिद्ध नहीं हो जाता। यदि ऐसा होता तो हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश की तुलना में प्राकृत का संक्षिप्त व्याकरण देलकर प्राकृत को ही उनके युग की जीवित भाषा मानना पड़ता, जो अनेतिहासिक होता।

ऐसे निराधार अनुमान की अपेक्षा गुलेरी जी का यह कथन अधिक तथ्य पूर्ण प्रतीत होता है कि 'यदि हेमचन्द्र पूरे सादाहरण न देता तो पढ़ने वाला जिनकी संस्कृत और प्राकृत आकर-मयों तक तो पहुँच थी किन्तु जो 'भाषा' साहित्य से

१ तेस्तीवोरी इंडियन ऐंटिक्वरी १९१४ पुरानी परिषदी राजस्थानी। पृ० के० प्रवृत्तिया गुजराती लम्बज प० २५

स्वभावतः नाक चढ़ाते थे उसके नियमों को न समझते।^१ वस्तुतः हेमचन्द्र ने अपना व्याकरण परिदृष्टों के लिए लिखा था, जन-साधारण के लिए नहीं।

फिर भी यह निश्चित है कि हेमचन्द्र के समय तक साहित्य में अपभ्रंश का एक रूप स्थिर और परिनिष्ठित हो चुका था। यदि उसकी स्थिरता में कुछ कमी रह भी गई थी तो हेमचन्द्र ने व्याकरण लिखकर वह कमा पूरी कर दी। अपभ्रंश के परवर्ती कवियों में से परिदृष्टों ने प्रायः साहित्यिक अपभ्रंश को सामने रखकर कितायी भाषा में रचना की। ऐसे प्रयत्न हेमचन्द्र के तान सौ वर्ष बाद तक हाते रहे। परवर्ती अपभ्रंश के वास्तविक स्वरूप का पता पाने के लिये परिदृष्टों के ये काव्य विशेष काम के नहीं हैं।

लेकिन हेमचन्द्र के बाद अपभ्रंश काव्य की एक और भी धारा प्रवाहित रही जिसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश के नियमों का कड़ाई से पालन करने की अपेक्षा लोक प्रचलित भाषा का उपयोग होता था। इस मिश्रित भाषा में रचे हुए ग्रंथ काव्य की दृष्टि से तो उत्कृष्ट हैं ही, आधुनिक देशी भाषाओं के आरम्भिक रूप के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। भारतीय आर्य भाषा के इतिहास अथवा विकास का दृष्टि से परवर्ती अपभ्रंश का यह देश्य मिश्रित साहित्य निरापम महत्व का है और सच्चे अर्थों में 'परवर्ती अपभ्रंश' यही है।

भाषा में प्रसार के साथ स्थान भेद का आना स्वाभाविक है और यही घटना अपभ्रंश में भी घटी। जब अपभ्रंश सिंध के मुल्तान से लेकर बङ्गाल के सम तट तक और कन्नौज से लेकर मान्यखेट तक फैल गया तो परवर्ती अपभ्रंश इसमें स्थानाय निरापवाओं का उभार आवश्यक था। पूर्वी में देग भेद और पश्चिमा का भेद तो अपभ्रंश में हेमचन्द्र से पहले भा था, लेकिन परवर्ती अपभ्रंश में यह भेद और भा गहरा हुआ। यह देश भेद धीरे धीरे इतना बढ़ा कि तरहवीं शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी शालियों का स्वतन्त्र रूप प्रकट कर दिया। परवर्ती अपभ्रंश को यह सब से बड़ी विशापता है।

देश भेद के अनुसार देगने से पश्चिमी प्रदेशों के परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य का सामग्री थोड़े-थोड़े अन्तर के साथ कालक्रम से इस प्रकार है—

१ सदेश रासक (१२ वीं सदी इस्वी का पूर्वांश) —अद्दुल

परवर्ती अपभ्रंश का पश्चिमी साहित्य रहमान, मुल्तान।

२ शाहुवाल रासक—(११-४ इ०)—शालिमद खरि, गुजरात

१ पुरानी हिंदी प० १३०

२ भारतीय-विद्या, बप २ धक १ में प्रकाशित।

धूलिभन्नागु—(१२०० ई०)—जिन पन्न सूरि	गुजरात
४ नेमिनाथ चापद—(१२०० ई०)—विनयचन्द्र सूरि	गुजरात
५ समर रास (१३१४ ई०)—अनन्देश सूरि	गुजरात
६ नेमिनाथ नागु—(१३१४ ई०)—राजशेखर सूरि	गुजरात
७ शाभिभद्र कक्का (१३००)—अज्ञात ^१	गुजरात
८ प्राकृत-पैङ्गलम्—(१२ वीं से १५ वीं सदी) म उद्धत मन्थर, जञ्जल, विशाधर, हर्निद्र तथा कुट्ट अज्ञात कवियों की रचनायें जिनका रचना स्थान मुख्यतः मध्यदेश है।	

९ पद्मानन्दक भालाजराध^२ (१३५४ ई०)—तरुणप्रमसूरि, गुजरात इनके अतिरिक्त और मा अनेक पद्य तथा गद्य-नमूने मिलने हुए हैं।

पश्चिमी प्रदेशों में परवर्ती अपभ्रंश साहित्य की इन चित्तरी हुई सामग्रियों का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण अपेक्षित है। इस सामग्री में भी देश-काल भेद का आभास मिलता है। संदेश रासक की भाषा से प्राकृत-पैङ्गलम् पश्चिमी प्रदेश के म उद्धत पद्यों की भाषा निश्चित रूप से विकास का सूचना पारवर्ती अपभ्रंश देती है, इसके साथ ही उसमें स्थानीय विशिष्टता भी है।

की विशेषता प्राकृत-पैङ्गलम् के पृथक् पद्यों की भाषा में पुरानी ब्रजभाषा के बीज अधिक हैं जब कि 'संदेश रासक' की भाषा में वे बीज अपभ्रंशित बहुत कम हैं। तुलना के लिए यहाँ दोनों काव्यों से क्रमशः एक एक छन्द लिये जा सकते हैं—

(१) कि तहि बेसि एहु कुरइ सुहू एहि एिगमत चरह,
अह कलरउ त हुएति हस कससेवि रबिहह।
अह पापउ एहु पदइ कोइ सुललिय पुए राइए,
अह पचउ एहु हुएइ कोइ कावातिय भाइए।

महमहइ अहय पञ्चुति एहु भोसतिउ घएु हुसुमभरु।

अह मुण्डिउ पहिउ। अणरतिउ पिउ, सरइ समइ जु न सरइ घरु ॥

—संदेश रासक ॥१८३॥

१ सीसरी से सातवी तक की पुस्तकें प्राधान्य गुजरात काव्य संग्रह के अंतर्गत संग्रहीत हैं।

२ जनक शर्मा लिखी वी० हिस्टारिकल सोसायटी बय २२ एएड १२ १८४६ ई० में प्रकाशित श्री भगवच्छंद नाहुटा का निबन्ध 'शाचाय प्रवर तदण्ड प्रम सूरि'।

(२) पिपड विड सएणाह बाह उप्पर पक्कर दद,
 वपु समहि रण घसठ सामि हम्मो(वघण लह ।
 उउइल एह-यह भमठ खण रिठ-सोसहि डारड,
 पक्कर-पक्कर ठेन्ति पेल्लि पक्करम अक्कालड ।

इमोर कउव जग्गल भएह, कोहाएल मुह मह जसड ।

सुलनाए-सोस करवास दह, तेगिज कसेवर दिम वसड ॥

—प्राकृत पंगतम ॥१८०॥

इसा तरह यदि १६वीं सदी ईस्वी के 'पञ्चानश्यक मालावबोध' का इनका तुलना म रखा जाय तो माया क विकास का एक और सोरान प्रकट होगा ।

“अनन्त गुण भगवन पूजापुत्रि परिमितइ जितिश करिणि एह अथ विपद काह एह कहिय” ।

दशरथ पुरु इसइ नामि नगर । तिहीं दशरथ मद्रु नामि राजा तिहीं दशरथु इसइ नाम गिरि । अनेरइ दिनि । भा महावारु तिहीं समोसरिड । उद्यानमालकि भा महावार समागमनि करी दशरथ मद्रु राउ बहाबिड । अति ह्य प्रकय रउइ तउ राउ सिंहासन हूँतउ जन्डि भा महानार सामहु सत आठ पग जाइ उत्तरासगु करा तिहाइ जि विकउ विधि सउ बाँदइ । सिंहासनि बइसी उद्यान पालक रहइ पारिनीपिडु दानु दे करी नित्त माहि चातवइ । प्रमातिविम किमइ भा महावारु वादिमुजिम अनेरइ किण्हिदि न वादिउ । इसउ प्यापतइ हूँतइ नगर सामाकराना प्रभाव समइ स्थाण शृगाण करा । अतिसार अलकार पहिरी सब समदि सहितु सामन्त मत्रि मडलेइवर परिवरितु छाव पुव हत्तिस्केप सनाम्डु चउरग कक समेनु आपणइ लक्ष्मा मदिकरी त्रिभुवनु तृणजिम मानतउ हूँतउ भी मगावीर देन वादिया चालिउ पदि-यदि गात नूतन नाटक कौतुक करवतउ कनकदान रूपदान वस्त्रादि दान दियतउ हूतउ दशरथभूषर कन्हइ आयिउ गव सिंदूर हूँतउ उतरि करा समवसरण माहि विधि प्रवणिया । देकरी भी महावार प्रथमा करी यथा स्थानि बइठउ । अहो दशरथ मद्र रहइ विरव पूजन पूजन विपद केरउउ रागु । अहइ पर सुरागु । अदि मद्रदूषणु कणिकरी कलुपितु । सब सुराधुर नरनायक नइ आरणा सउ समदि विस्तारी करो तापकर रहइ समकालु पूजइ । तथातिहि सउ प्रसर्पिकरी पूजितु न होइ । अमान गुरु भगवंतु पूजा सब प्रकय हूतइ परिमिनि इति ।..... १९

उप्युक्त मध्याय 'पञ्चानश्यक मालावबोध' में से दशरथमद्र कथा से उद्धृत किया गया है । इसमें 'शुद्धकोश की दृष्टि से जो सबसे नई धार्य है, वह है उत्तम

१ या नाहुटा के उक्त निबंध से उद्धृत ।

शब्दों का प्रयोग। अपभ्रंश के बाद आधुनिक आर्यभाषाओं के आरम्भ का यह पक्ष स्पष्ट है। इस गद्यंश की दूसरी नयागाथा है परसगों का अत्यधिक प्रयोग तथा प्राचीन कारक विभक्तियों का प्रायः अप्रयोग। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि वाक्यों में क्रम तथा नैरंतर्य बनाये रखने के लिए उपयुक्त परसगों के अभाव में सर्वनामों का प्रयोग किया गया है जैसे पहले ही वाक्य में 'एह अथ गिरई ..' और दूसरे वाक्य में 'दशाया पुरु इसह नाम नगद'।

डा० मुनीविठ्ठलराम षादुज्या ने 'वर्ण-रत्नाकर' के गद्य में भी इसी तरह के 'पैरोफ्रेसिस' का लक्षण किया है। निम्न रूप से यह परवर्ती अपभ्रंश के यान्त्य विन्यास की अपनी विशेषता है जिससे आधुनिक आर्य भाषाओं के आरंभिक रूप का पता चलता है, उद्देश-रासक की भाषा का यह अगला सोपान निश्चित रूप से माना जा सकता है।

परवर्ती अपभ्रंश में भी क्रमिक विकास के इस रूप का ध्यान में रखते हुये यह विचारणीय है कि ये कौन से मुख्य उपाय थे जिनके द्वारा परवर्ती अपभ्रंश ने अपने का पूर्ववर्ती प्रभाव से मुक्त किया तथा पश्चिमी प्रदेश की आधुनिक बालियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

परवर्ती काल की पश्चिमी अपभ्रंश ने परसग प्राप्त शब्द-समूह को भ्रुति-सुक् तथा उच्चारण योग्य बनाने के लिए निम्नलिखित मुख्य उपायों ध्वनि-संबंधी से काम लिया।

प्रवृत्तियाँ

१ प्राकृतों के समुक्त व्यंजनों में सरलता लाने के लिए कमी क्षतिपूरक दीर्घीकरण जैसे नीसासा < निस्सास (= निश्वास), नीसरर < निस्सरर (= निःसरति), वीसरर < विस्सरर (= विस्मरति), ऊसास < उस्सास (= उन्हास) आदि और कमी बिना-क्षतिपूरक दीर्घीकरण के ही 'यजन द्वित्व को तोड़ना' जैसे कणवार < कणिवार (= कर्णिकार), यलाणियद < यक्लाणियद (= ध्यात्मान*), कपूर < कप्पूर (= कपूर), चूडिलठ < चूडिल्लठ, आलस < आलस्स (= आलस्य) आदि। ये दोनों प्रवृत्तियाँ परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी मौजूद थीं, किन्तु परवर्ती अपभ्रंश में बहुत बढ़ गईं।

२ मध्यम क ग च ज ष द प य व आदि व्यंजनों के क्षीण होने से प्रायः पञ्चाधिक स्वर साथ-साथ सुरक्षित रखकर जहाँ विवृति या विन्देद (हापट्ट) उत्पन्न कर देते थे वहाँ सधि और समीकरण प्रक्रिया का प्रयोग, जैसे

सहार < सहआर (= सहकार)

मुंमार < मुण्णआर (= स्वणकार)

१ षण् रत्नाकर अधिजी भूमिका 53=

अँघार < अघआर (= अघकार)

मार < मऊर (= मयूर)

सप्रयुक्त स्वरों को सयुक्त करने की इस प्रवृत्ति के साथ ही सकोचन का प्रगति इतनी प्रबल हो उठी थी कि अन्त में आने वाले स्वर भी पूर्ववर्ती स्वर के साथ सयुक्त होने लग गये। क्रियाश्रमों में यह प्रवृत्ति विशेष काम कर रही थी। जैसे—

कीजे < किज्ज, करानै < करिज्ज, रहै < रहइ, कहानै < कहिज्ज आदि

३ कुछ विद्वानों ने कारक-रूपों में निरनुनासिकता को भी अपभ्रंश का प्रादेशिक विशेषता न मानकर परवर्ती विकास माना है।^१ जैसे सदेश रासक में तृताया और सप्तमी में— हि अन्त वाले रूगों की जगह—हि अन्त का प्रयोग इसा तरह पष्ठा बहुवचन में—इ की जगह इ और नपुंसक-लिंग के प्रथमा-द्वितीया एक वचन में—ई का जगह इ—आदि।

४ अनुनासिक व्यंजन के साथ उसके बाद आने वाले व्यंजन का समीकरण होना भी परवर्ती अपभ्रंश का प्रवृत्ति कही गई है^२ जैसे

सनहय < सन्देशक (न + व)

सामोर < शाम्बपुर (म + व)

५. 'सन्देशरासक' की भाषा पर विचार करते हुये भी भाषाशास्त्री ने मध्यम-व-क लोप का परवर्ती अपभ्रंश की ऐसी प्रवृत्ति माना है जो ब्रह्मभाषा की विशेषताओं में से एक है^३ जैसे—

मनाइ (= मनावि) मनावि (= मनावेवि), पाइय (= पाविय), जाउ (= जाव), सठाउ (= सठाव)।

परवर्ती अपभ्रंश तद्भव शब्दों के ध्वनि-परिवर्तन करने में उतनी सक्रिय नहीं रही, जितनी अपभ्रंश के स्थिर और सरिलिप्त पक्षों रूप निर्माण का और भी विरिलिप्त करने में। परवर्ती अपभ्रंश में जा सम्बन्धी विभेदताएँ व्याप्तिक भाषाओं के साथ मिलते हैं वे बहुत कुछ इसी रूप निर्माण के क्षेत्र में।

१. लगभग समा कारकों में घड़ल्ले के साथ निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग करना परवर्ती अपभ्रंश का ऐसी प्रवृत्ति है जो पुरानी राजस्थानी, ब्रज और गुजराती समा भाषाओं में बहुतायत से मिलती है। हेमचन्द्र के समय यह प्रवृत्ति इतना प्रबल न थी। उन्होंने प्रथमा, द्वितीया और पष्ठी केवल तान

१ सन्देश-रासक व्याकरण § ७७

२ वही § ३५-५

३ वही § ३३ सी

विभक्तियों में लान का निर्देश किया था। हेमचंद्र के उदाहरणों में भी इस तरह के उदाहरण अधिक नहीं हैं। लेकिन संदेश रासक, प्राकृत-वैदग्गलन तक आते आते ऐसे निविभक्तिक पदों की लड़ी लग जाता है।

- २ विभक्ति-लोप के साथ ही अधिक से अधिक परसर्गों का प्रयोग भा बढ़ने लगा। हेमचंद्र-व्याकरण में जहाँ मुश्किल से कहि, मेमि, तखेण, हान्तओ, केरअ, केर, मभि आदि गिने-चुने परसर्ग मिलते हैं वहाँ 'संदेश रासक' में एक साथ छहियहि, छम, छरिसु, हुँतउ, टिठयउ, रसि, लगि, तणि, रुहि, आदि त्रिविध परसर्ग दिखाई पड़ने लगे। पश्चिम के दूसरे प्रायों में भा इन परसर्गों के जोड़ बहुत परिवर्तित रूप तथा कुछ नए परसर्ग भी मिलते हैं।
- ३ भी भाषाणों का सुझाव है कि 'संदेश रासक' में संजीववर और अरुहाववर आदि शब्दों की वर = 'कर प्रत्यय हिंदी के 'छुटेरा' 'चितेरा' आदि शब्दों की - एरा प्रत्यय की जननी है।^१
- ४ पूर्वकालिक क्रिया के लिए परिनिष्ठित अपभ्रंश में जहाँ - इवि, - अवि, - वि, - इ आदि प्रत्यय आते थे वहाँ परवर्ती अपभ्रंश में संयुक्त-व्युत्पत्तिक रूपों का प्रचलन हो गया जैसे—बहेवि करि। परवर्ती अपभ्रंश में केवल 'बहेवि' से ही काम चल जाता। स्पष्ट है कि आगे चले कर हिंदी में ऐसे ही दुसरे पूर्वकालिक रूपों का ही प्रचलन हुआ जिनमें मूल क्रिया में पूर्वकालिक प्रत्यय लुप्त करने के बाद $\sqrt{\text{कर}}$ (= $\sqrt{\text{कृ}}$) का भी वैसे ही पूर्वकालिक रूप जोड़ कर काम चलाया जाता है।^२
- ५ क्रियापदों के क्षेत्र में परवर्ती अपभ्रंश ने सबसे बड़ा फायदा किया संयुक्त काल और संयुक्त क्रियाओं का बहुल निर्माण। संयुक्त-काल के निर्माण में प्राय $\sqrt{\text{भू}}$, $\sqrt{\text{अस}}$, $\sqrt{\text{कृ}}$ के सामान्य बतमान वाले रूपों के चिसे हुए रूप सहायक क्रिया के रूप में व्यग्रहृत होते थे तथा उससे पूर्व मूल क्रिया कभी मूलकृदन्त होती और कभी वर्तमान कृदन्त का कुछ चिसा हुआ रूप जैसे वरत अन्धि। संयुक्त क्रिया में प्राय सिद्धावस्थापन्न क्रिया (इनफाइनिटिव) आ समूह का प्रथम अंश होती है मुख्यतः या तो पूर्वकालिक होती है या क्रियार्थक (तुमुप्रन्त) या शतृ कृदन्तज और साप्तावस्थापन्न क्रिया (फाइनिटिव) प्राय काल निर्माण करती है। जैसे—'संदेश रासक' में—
 गिसुगिणु खर (१८ ग), तन्खर-खन्खर हरि गउ (६५ घ),
 असेस तस्य भडि करि गय (१६२ घ) आदि में

१ संदेश रासक व्याकरण ४६-५

२ वही ६८

सिद्धावस्थान क्रियायें प्रायः पूर्वकालिक हैं और
कहि न सकउ (१ ५ क) में 'कहि' क्रियायक है।

रूप और अर्थ का दृष्टि से समुच्च क्रियओं की विविधता अन्यत्र भा दिव्याइ
पढ़ता है।

पश्चिमा प्रदेशों का अथवा पूर्वी प्रदेशों का परवर्ती अग्रभ्रंश साहित्य माना
में अल्प होता हुआ भा आधुनिक देशों भा भाषाओं क आरम्भ का दृष्टि से अधिक
महत्वपूर्ण है। बारहवीं शताब्दी में काशा ध दामादर पंडित
पूर्वी प्रदेशों का द्वारा लिखा हुआ 'उत्ति-व्यक्ति प्रकरण' नामक एक महत्
परवर्ती अग्रभ्रंश पूर्ण ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जो सम्भवतः गाहड़वाल राजकुमारों
साहित्य को स्थानीय देशभाषा के माध्यम से संस्कृत पढ़ाने क उद्देश्य
से लिखा गया था। यत्र-तत्र उसका भाषा क जो फुटकर न नूने
सामने हैं, जैसे पढ़व, लिखव, अम्यासव, नैसा भविष्यत् बन्त की क्रियाएँ,
उनसे पता चलता है कि पूर्व का वाकियों का प्राचान रूप उसमें अब्धांतरह
सुरक्षित है।

इसके अतिरिक्त ज्यातिराश्वर ठाकुर का 'बखरनाकर (४वीं शताब्दी का
पूर्वाद्) तथा विद्यापति ठाकुर की 'कीर्तिता (१४वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) दो ऐसा
पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जिनका संबंध हिन्दा-भाषा-भाषा प्रदेश का सुदूर पूर्व की बाला
से है। विद्यापति की एक और ऐसा ही पुस्तक 'कार्तिताका का भी विवरण
मिलता है।'

शास्त्री जी ने 'कार्तिताका' से एक अग्रभ्रंश छद्म भा उद्धृत किया है जो
इस प्रकार है—

परिदग्गमएइतिबद्धगुणे भोषमकीरमुहेन ।

बाणोमहूरमहूपरत पिपउ स्वमनसवनेन ॥

'प्राकृत-संगलम् क उदाहरणों में कुछ कथित हैं ऐसी भा है जिनपर पूर्वी
बाला का स्पष्ट छाप दिखता पढ़ती है।' जैसे—

१ कवण पअले महइ निअले सा देउ पराअण तुम्हवरा । (५७)

२ यहि मण इहल कहूं ।

३ निचक पूरल मेषरा ।

४ महि चलइ मुअल जिवि उटए ।

१ म० म० हरप्रसाद शास्त्री— नवान दरवार मान्नेरी के ठाडपत्र तथा
अन्य हस्तलिखित रूपों का सूचीय १९०५ ई० ।

२ देविण 'बद्ध चरित की भूमिका, प० ७१०

५ मात्र तोहर सकट सहर ।

श्री अमरानंद नाइटा ने 'वीरगाथा काल का जैन साहित्य' निबन्ध में १४वीं सदी के कुछ गद्यकारों का उद्धरण दिया है जिनमें से एक पद्य में पूर्वी प्रदेश की बाली का पुगना रूप सुरक्षित है ।^१

“अथ पूर्वी नायिका याल्या सुणहुगे रे भइया । इहु जुगि जाणि यह धारे, निखुरे मारी यहिना, पुनि पुनि मार देसु कितपु नरति आहि । मार देस की बात न जानसि, जेहि देस ऐसे मानुस कैसे इन्हु घीरे घीरे विवेकिए । परम दाय क माउन मरार मल्ल, तुम्ह कतुके जान कतुके परान, यवाकी आन ! अम्हाँ तुम्हाँ बड़ा अन्तक आति । फइनु अन्तर, तुम्हके मानुस तरि मोटे, उपरि माटे विचि छोटे । अत अम्ह के मानुस नाहे विचि पनु फरसु सार विहु आहि । अइस दावतु हर, जइसा पूनम का नई । अइकोदर क चारर साइयहि । गात गाइयइ । मुठि नाक बनिये वसहि कहने बनिय । आन्वधा !”

राज से इस तरह क और भी गद्य तथा पद्य मिल सकते हैं ।

अपभ्रंश में आप्रानिक देसी बालियाँ का जितना प्रगाढ़ मिश्रण पूर्वी प्रदेशों में दिखाई पड़ता है, उतना पश्चिम में नहीं । पश्चिमी प्रदेश का साहित्यिक माया बहुत दिनों तक परिनिष्ठित अपभ्रंश से प्रमा के परवर्ती वित रही किन्तु पूव के लिए वह शुरू से ही मात्र साहित्यिक अपभ्रंश को माया होने के कारण स्थानीय बोली से अलग रही । फलत पूरप में देशी बोलियों का उभार बहुत तेजी से हुआ ।

१ पूरप की परवर्ती अपभ्रंश पश्चिम से जिस विषय में अत्यधिक विशिष्ट थी वह है शब्दकोश । परवर्ती काल की पूर्वी अपभ्रंश में जिस मात्रा में संस्कृत क तत्कम शब्दों का ग्रहण किया गया, पश्चिमी में उसका शतांश भी नहीं हुआ । एक और कीर्तिलता और वरारत्नाकर तथा दूसरी और सदेश रासक से प्राकृत पगलम् तक की रचनाओं से तुलना करने पर यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है । इसी तरह इस्लाम के सपर्क से अरबी और फारसी शब्दों का ग्रहण भी पूर्वी अपभ्रंश में बहुत हुआ । उसकी तुलना में पश्चिमी अपभ्रंश में ये शब्द बहुत कम मिलते हैं । यह अवश्य है कि कीर्तिलता और वरारत्नाकर ने अरबी और फारसी शब्दों को अपनी स्थानीय उच्चारण विधि के अनुकूल मोड़कर ग्रहण किया । जैसे— तुक को तुलुक अथवा तुरुक सुल्तान को सुस्तान हजार को हजार, प्याज को पयाजू बनाकर अपनी बोलचाल में लया लेने की कोशिश की गयी ।

२ संज्ञा शब्दों की रूप-रचना के क्षेत्र में भी परवर्ती युग की पूर्वी अपभ्रंश

१ आर्यी प्रचारिणी पत्रिका, वप ४६, पृ ३ स० १९६८ वि०

न पश्चिमी अपभ्रंश से विकास के अप्रिम चरण दिखलाए। पश्चिमी अपभ्रंश में विकारी कारकों (आब्लीक सेसेज) के निर्माण में उतनी एकरूता तथा स्थिरता नहीं आ सकी थी जितनी पूर्वी में आई। पश्चिमी अपभ्रंश में एक वचन और बहुवचन के अन्तर को स्पष्ट करने वाले रूपों के का प्रचलन प्रायः कम या नहीं था। पूर्वी अपभ्रंश में लगभग सभी कारकों के विकारी रूप बहुवचन म—दि, द, अथवा—न अन्त वाले होते थे। जैसे

प्रथमा—मयूरन चरहते अह् (वर्यो-रत्नाकर, २१ क)

द्वितीया—दास गोंसाब नि गदिअ, (कीर्तिलता, पृ १६)

गो बोलि गमारन्हि छाड (,, पृ० ३६)

तृतीया—वायसहि कोलाहल कद, (वण० २६ ख)

जुवतिन्हि जलकेलि आरहु (,, ३० क)

तव्हे मतिह कियउ प्रस्ताव (कीर्ति० ५६)

पष्ठी और सप्तमी बहुवचन के रूपों की यह विशेषता है कि—दि,—द अन्त वाले इन विकारा रूपों के बाद परसग भी प्रयुक्त होते थे। जैसे—

पष्ठी—जुवतिन्हि क उत्कंठा (वण० २० ख)

वेरयाहि करो निवास (कीर्ति ३२)

सप्तमी—युवराजन्हि माँभ पवित्र (कीर्ति १२)

३ निर्विमर्शक अथवा लुप्तविमर्शक पदों के बाद परसगों का प्रयोग करने में पूर्वी अपभ्रंश न पश्चिमी की अपेक्षा अधिक साहस का परिचय दिया, यहाँ तक कि कीर्तिलता और वण-रत्नाकर की भाषा इसी परसग बहुलता के कारण लगभग विशिष्ट भाषा की श्रेणी में आ गई। नीचे परसग प्रयोग के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

दू गया—जुआर-सन्नो (वर्यो० ३८ क)

मृत्यु सन्नो कलकल करहते अह् (वण ४१ क)

मानिनि जीवन मान सन्नो (कीर्ति० ६)

चतुर्थी—साजन कारण (वण० ४७ ख)

जु भू देन्खह कारण (कीर्ति० १०६)

साभि काज सगरे (कीर्ति० ८४)

एही आलिगण-सागि (वण० १८ क)

तवे मन कर तेवरा-सागि (कीर्ति०)

पञ्चमी—(१) जनि अमृत क सरोवर-सन्नो पक उदारि

काह पाती भेल पैटि (कीर्ति० ३०)

जनि अय पर्यन्त विश्वकमा एही काय छल । (कीर्ति० ५०)

- (घ) कदन्तज सिद्धायस्थापन्न त्रिया + तिदन्तज साध्यावस्थापन्न त्रिया की त्रिधि से विनिध संयुक्त काल यनान की प्रवृत्ति 'वर्णारनाकर' से ही आरम्भ हो गई थी जिसका पयात विकास अ धुनिक योलियों में हुआ। जैसे—

होइते अछ (वया० १३ क), फरइते अछ (३७ ग)

भेल अछ, भेल छथि (५२ ए)

मए गेल छथि चलत भउअह (४६ ल) आदि

- (ङ) संयुक्त क्रिया निमाण की जा प्रक्रिया परिनिष्ठित अपभ्रंश में आरम्भ हुआ थी, पूर्वी प्रदेश की परवर्ती अपभ्रंश ने उसमें और भी विविधता तथा व्यापकता दिखाई जैसे

हकारी हलुअह (वर्ण० ४४ ए), सपके पाटा देल (७६ ए)

मए गेलाह (१८ क) आ भउ (३० ल)

भअइ गउ (३३ क)

परवर्ती काल के पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंशों के बीच एक मध्यदेशीय अपभ्रंश का भी अस्तित्व प्रमाणित होता है। भारद्वाजी शतादी ईस्वी के पूवाद् में काशी के दामोदर पण्डित द्वारा रचित 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' में पाई जाने वाली देश भाषा यही मध्यदेशीय अपभ्रंश है। 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' की अपभ्रंश 'वया रनाकर', 'कीतिलता' और चयापदों के अपभ्रंश से बहुत कुछ भिन्न है। उसमें मागधी के तत्व उतने नहीं हैं जितने कि अगधी के धाज हैं। यहाँ तक कि डा० मुनीतिकुमार चैटर्जी ने 'उक्ति-व्यक्ति' की देश भाषा का 'प्राचीन कोसली' कहा है।^१ इस प्रकार 'उक्ति-व्यक्ति' की भाषा को परवर्ती युग के पूर्वी अपभ्रंश से भिन्न मध्यदेशीय अपभ्रंश के रूप में विचार करना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। 'उक्ति-व्यक्ति' का महत्व विशेष रूप से इस बात में है कि उसके द्वारा पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंशों के बीच मध्यदेशीय अपभ्रंश के स्वरूप का पता चलता है। अब तक इस क्षेत्र की देश भाषा का प्राचानतम रूप बतलाने वाला यह पहला ग्रन्थ है।

'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' पाँच प्रकरणों में समाप्त होने वाला एक याकरण ग्रन्थ है जिसमें कुल मिलाकर ५० कारिकाएँ हैं और इन कारिकाओं पर स्वयं

१ उक्ति-व्यक्ति प्रकरण स्टडी पु० २-

प्रस्तुत प्रसंग में डा० चटर्जी की स्टडी का विशेष उपयोग किया गया है।

प्रयकार ने ही विसृत व्याख्या मा लिखा है । प्रकरणों के नाम क्रमश 'क्रियान्ति व्यक्ति', 'कारकात्ति व्यक्ति', 'उत्तिभेद', 'लेखनविधि' और 'यावहारिक-लेख पर लिखन क्रम' है । इनमें से श्रारमिक तान प्रकरण ता सव्याग्रा उपलब्ध हैं लकिन शेष दो प्रकरणों की व्याख्याएँ नहीं मिलती । व्याख्यामक अश में एक विशय बात यह है कि प्रथम प्रकरण की नवी कारिका की गारना अत्यत वितृत है जिसमें सैकड़ों देशी क्रियाओं के प्रयोग दिए गए हैं । व्याकरण को दृष्टि से श्रारम्भ क दोनों प्रकरण—क्रियान्ति और कारकात्ति विशेष महत्त्वपूर्ण हैं ।

प्रयाकार ने 'उत्ति-व्यक्ति नाम का व्याख्या करत हुये पहला कारिका की टीका में लिखा है कि

उक्ते भाषितस्य व्यक्ति प्रकटाकरण विधास्याम । अपभ्रंशमापहृता ससृष्टभाषा प्रकाशयिष्याम इत्यथ । अयान्तरमपि यथा—उत्ताक्षप्रभ्रंशभाषिने व्यत्ताकृतं ससृष्ट तदेव करिष्याम इत्यथ ।

तात्पर्य यह कि इसमें तत्कालीन दश भाषा क प्रयोगों को ससृष्ट व्याकरण क श्राधार पर समझाया गया है ।

मुनि निन विनय जी ने इस प्रथम क प्रास्तविक वक्तव्य में सूचित किया है कि उस समय इस प्रकार क 'उक्ति अथ बहुत से लिखे गए य और उनमें स कद अथ मा उपलब्ध हैं । ऐसे चार-पाँच उक्ति प्रयोगों का समूह 'उक्ति रत्नाकर नाम स मुनि जी ने प्रकाशित किया है ।

जैसा कि उपयुक्त ससृष्ट व्याख्या से स्पष्ट है, प्रयकार ने प्रथम में प्रयुक्त देश भाषा को सामान्यत अपभ्रंश कहा है । इसका अर्थ यह नहीं है कि 'उक्ति व्यक्ति' का दश भाषा परिनिष्पित अथवा शौरसेना अपभ्रंश है । ऐसा प्रतात हाता है कि पंडित मडली उन दिनों मा ससृष्ट और प्राकृत क विपरीत लोक प्रचलित दश भाषा को सामान्य रूप से अपभ्रंश कहा करती थी । 'उक्ति व्यक्ति का छठी कारिका की टाका में प्रयकार ने अपभ्रंश के विषय में जो कुछ कहा है, उससे तत्कालीन पंडितों के मत का अनुमान लगाया जा सकता है—

'प्रतिदेशमिन्ना येय सवजनसाधारथा भाषा गाथी गाथी प्रमुठिका सा अपभ्रंश उच्यते । सा च ससृष्टभाषामुच्छिद्य प्रवृत्ता । गुरुष्कदश दिजाति ताति गुरुष्कजातिरिव । ततो देश दूरो प्रतिविषय लोक पामरजनो यथा यथा गिराऽपभ्रष्टया यत् किञ्चिदभिधेय वस्तु वक्ति व्यवहरति साऽपभ्रंश-भाषा, तत्रैवार्थे संकृतरचिता ससृष्टशब्दवाच्येन स्वरूपेण प्रयुक्ता प्रयागं जाता, वाच्यत्वमायाति । यां ससृष्टभाषामुच्छिद्य याऽपभ्रंशभाषा प्रवृत्ता तस्या स्थानं यदा सैव ससृष्टभाषा पुन परिवर्त्य प्रयुज्यते तदाऽपभ्रंशभाषैव दिव्यत्य प्राप्नोति । पतिवा भाक्षणी वृत्प्रयापरिचत्ता भाक्षणात्वमिति चेति ।'

चँकि 'उचित व्यवित' व्याकरण ग्रथ है इसलिये देशभाषा के नमूने विकार्य वाक्यों, वाक्यांशों अथवा पदों के रूप में ही प्राप्त होते हैं। ग्रंथकार ने प्रायः एने वाक्यों और वाक्यांशों का संस्कृत अनुवाद भा दे दिया है। भाषा पर विचार करने से पून ग्रथ का पद्धति का कुछ नमूना देग लेना आवश्यक है। उदाहरणार्थ यहाँ नरी कारिका और उसकी व्याख्या का कुछ अंश दिया जा रहा है।

भाषि' इति क्व निष्ठा 'कीम' इति साप्यगा क्रिमा तस्मात् ।

अस्ति-करोती धातु कृत्कृत् सकर्मका एवम् ।

अथ 'अक्रमक सकर्मका एवम् इत्युक्तम्, अत्रा यालशिक्षाय तदनुगता साकांक्षया अपरा अपि क्रियन्ता सिएन्ते । सत्राक्रमकधात्वर्थानुगतास्तावद् यथा— गग 'हाए धम हा, पापु जा'—गगाथा स्नाते धर्मा भवति, पापं याति ।

अथवा—'धमु मा, पापु गा'—धमा यभय, पाप जगाम ।

उक्ति व्यक्ति
प्रकरण की

अथवा—'धर्म होइह, पापु जाइह'—धर्मा भविष्यति, पाप यास्यति ।

भाषा का
नमूना:

—एवमन्यपि पल्लवा पूवात्ता प्रतिप्रयाग याग्या याल शिक्षार्थम् । ग्रंथविस्तारमयान्च न दर्शिता ।

'जस जस धमु' यात्, तस तस पापु घाट'—याह्ग् याह्ग् धम यधते ताह्ग् ताह्ग् पाप घटति, घटयति वा । घट चलने म्वादी चुराथी च ।

'जत्र जत्र धमु वात्, तत्र तत्र पापु श्रोहट'—यदा यदा धमा यधते, तदा तदा पाप श्वपटति, श्वघटयति वा । घट सघाते चुरादी ।

'जैसै जैसै धमु जाम, तैसै तैसै पापु राम'—यथा यथा धमा जायते, तथा तथा पापं क्षीयते । जनो पादुमांवे क्षये, क्षयति वा ।

'जइ जेइ धमु पघर, तेइ तेइ हापु श्रोघर'—येन येन धर्म प्रवरति, तेन तेन पापमाशरति । स गतौ, उपसर्गादिधान्तरम् ।

'यैहा यैहा धमु चड, तैहा तैहा पापु खस'—यस्मिन् यस्मिन् धमश्चटति चटयति वा, तस्मिन् तस्मिन् पापं खलति हसति वा । चट स्फुट मेदने खल संक्षय, चलने च । तुम हस शब्दे ।

'जाहा जाहां धमु नांद, ताहां ताहा पापु माद'—यत्र यत्र धर्मा नदति, तत्र तत्र पाप मादत । दुष्प्राधि समृद्धौ, मदि स्मृतिमोदादियु, गतावप ।

'जा किह धमु क्षीज, ता किह पापु खीन'—यस्मै धम्म क्रियते तस्मै पाप क्षीयते । हुष्टन करणे, क्षीज कृजेत्यादि विद्यत इवापास्तत्वात् ।

'जाती धमु पाविश्र, तावी पापु सामिग्र'—यतो धम्म प्राप्यते, तत पाप शान्यति । आप्लु पापौ शमु यमु उपशमे ।

‘वाकर धमु, उसम, ठाकर पापु आरुस - यस्व धम्म उच्छ्वसति, तस्य पा० मवहसति । र्वस प्राणने, हस हसने हसति वा ।

१ ‘उक्ति व्यक्ति’ में प्रयुक्त देश भाषा की सब से विशिष्ट ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति यह है कि सामान्य वर्तमान काल अन्य पुरुष, एक वचन की क्रिया में प्रयुक्त प्रत्यय के उद्भूत स्वर-समूह - अइ - एइ का - ए न हाकर प्राय - अ होना है परवर्ती अपभ्रंश और तत्परन्तत् ब्रज, अवधी आदि में प्राय ए होने का ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, जैसे चलति > चलद का प्राय ‘चले और कराति > करेइ या करइ का ‘करे’ हो जाता करता था । ‘उक्ति-व्यक्ति’ के वाज की अवधा में - अ के साथ ही - अइ और - ऐ वाले रूप भी समान रूप से मिलते हैं । लेकिन ‘उक्ति-व्यक्ति’ में - अइ - ऐ वाले रूप बहुत कम मिलते हैं । रह, मानद, मिलइ चलइ आदि कुछ एक रूप कमल अनवाद हैं । अधिकशत चलइ = चल, करइ = कर, जाइ = जा हाइ = हा पदइ = पद आदि रूप ही मिलते हैं ।

प्रायः
प्रवृत्ति

इस प्रवृत्ति का पुष्टि सप्तमा एक वचन के प्राय - अ - अ से भा होती है । डा० चटर्जी ने अन्य किछा सतापप्रद व्युत्पत्ति के अभाव में इसे - अहि, अहि > अरि से व्युत्पन्न माना है । ‘इस प्रकार ० स्कधरि > स्कधरि > रकन्वे, स्कध न हाकर ‘उक्ति-व्यक्ति’ में प्राय कावेँ या काध रूप मिलते हैं । यहाँ भी - अरि > - अरि = ए न हाकर - अ हा हुआ ।

इस प्रकार - अइ > - अ ‘उक्ति-व्यक्ति’ का भाषा का महत्वपूर्ण ध्वन्यात्मक विशेषता है ।

२ परवर्ती काल का अन्य अपभ्रंशों तथा आ० भा० आ का तरह ‘उक्ति-व्यक्ति’ की देश भाषा में भा दाघ या संयुक्त व्यन् अथवा अनुनासिक + व्यन्जन के व्यन्जन-समूह में सरलाकरण के साथ पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूर्क दाघीकरण की व्यापक प्रवृत्ति दिखाई पड़ता है । जैसे—

भक्त > भक्त > भान, पक्व > पक्क > राक, मयि > गडि, गौडि । कमा कमा द्वितीय अक्षर पर स्वरपात हान के कारण उक्त पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूर्क दीर्घीकरण की जगह ह्रस्वीकरण ही जाता है जैसे—

सामान्यतः मित्रा > मिस्त्रा > मिक्त्र > माग हागा ललिन यदि ० मित्रा कारिक हा ता मिस्त्रा-आरिअ > माखारा > मिलारी रूप हागा ।

इसी प्रकार मग > गाउँ ललिन मानकार > गगौर ।

१ उक्ति-व्यक्ति स्तोत्री प० १६ ष० स० भाग २ पृ० ७४५ ६३

३. संस्कृत के जो अन्य दीर्घ स्वर अपभ्रंश तक आते आते ह्रस्व हो गए थे वे आ० भा० आ० के उदय हाते हाते क्रमशः लुप्त हो चले। इस प्रवृत्ति के योज 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा में भी मिलते हैं जैसे—

साधु = श्वभू, राग = धलगा, भूर = धुशुचा, मौल = मिता, जीभ = जिह्वा, सेज = शय्या, सवति = सपत्नी, लाज = लज्जा, पीर = पाड़ा, हरहर = हरीनकी

४. किसी शब्द के अन्तगत व्यंजनों के लोप से उत्पन्न उद्धृत स्वर या ता संयुक्त हो जाते हैं, अथवा उनमें संधि हो जाती है, अथवा य वभुति क समावेश द्वारा उनका स्वतंत्र अस्तित्व सुरक्षित रखा जाता है जैसे—

लकुट > लकुट > लउट, लौदी (= लकुटिका), गूतकार > गुअर > गुआर, पडित > पंडित > पाडे > पाडे, मुगध > मुअध > सोध, चतुष्क > चउस्क > चौक, सूफकार > सुअर > सुआर मुआर

५. अपभ्रंश का अन्य उद्धृत स्वर—इअ आ० भा० आ० में प्रायः—ई हो जाता है लेकिन 'उक्ति व्यक्ति' में प्रायः—इ ही दिखाई पड़ता है, और—आ प्रायः के योग से यह इआ हो जाता है जैसे—

मुदिआ, दुदिआ उपकारिआ आदि।

६. जहाँ तक तद्भव शब्दों में शब्दों के व्यंजन विकास का संबंध है, संयुक्त और दीर्घ व्यंजनों के सरलाकरण की प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश में व्यापक रूप से दिखाई पड़ती है परन्तु राजस्थान और पंजाब प्रदेश की अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति उतनी नहीं मिलती, जितनी मध्यप्रदेशीय अपभ्रंश में। 'उक्ति व्यक्ति' में इसके उदाहरण मरे पड़े हैं।

७. अन्य संयुक्त और असंयुक्त व्यंजनों के विषय में 'उक्ति व्यक्ति' ने प्रायः पूरे वर्ती अपभ्रंश के रूपों को भली भाँति सुरक्षित रखा है। उएह, जोशह, बंद, बूद, पदय, सावज आदि शब्द ऐसे ही हैं जो अपभ्रंश में ही यह रूप प्राप्त कर चुके थे।

८. 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा अपभ्रंश में प्रचलित संस्कृत के अधःसम और ससम शब्दों को ग्रहण करके कभी-कभी अपनी व्यंजात्मक प्रवृत्ति के अनुसार उनमें परिवर्तन भी कर देती है। परिवर्तन करने में 'सावय्य' की अपभ्रंश 'स्वर भक्ति' और विभक्त्य की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। जैसे—'रत्न' से रत्न न करके 'रतन' रूप बनाना और वय से वत्स न करके वरिस। इस व्यापक विधान के अंतगत 'उक्ति व्यक्ति' के कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

मध्यक > मधक, आदरा > आरिस, सपय > सरिसय, वय > वरिस, नित्य > नित, शुक्ल > मुकिल, त्यज > तज, लोक > लोग।

६ इन तद्भव और अधतत्त्वम शब्दों की अपेक्षा 'उक्ति व्यक्ति' में अनेक देशा शब्द मा मिलते हैं जिनमें काम करने वाली ध्व-यात्मक प्रवृत्ति का विचार करना कुछ कठिन है।

१ उक्ति 'व्यक्ति' की भाषा में कीर्तिलता, धगरत्नाकर के विपरीत अरबी पारसा के विदेशी शब्द नहीं क बराबर मिलते हैं इसलिए कहना कठिन है कि मध्यप्रदेशीय वाली में इन विदेशी शब्दों की ध्वनि म किस प्रकार का परिवर्तन किया जाता था।

रूप रचना

१ अन्य अपभ्रंशों की तरह 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा में भी सहा शब्दों की रूप-रचना का आधार मुख्यता अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द के कारक विभक्ति ही रूप प्रस्तुत करते हैं। जिन पर कहीं कहीं सवनाम क विकृत रूपों का गहरा रङ्ग दिखाई पड़ता है। शौरसेनी अपभ्रंश के प्रथमा एकवचन की प्रत्यय—उ का प्रभाव प्राचीन कोसली पर इतना व्यापक जान पड़ता है कि प्रथमा क अतिरिक्त अन्य विभक्तियों म भी उकारा व प्यों का प्रयोग हुआ है।

२ सामान्यतः प्रथमा और द्वितीया एक वचन म किसी प्रत्यय का प्रयोग नहीं मिलता, ललिन द्वितीया में कहीं कहीं अनुनासिक का प्रत्ययवत् प्रयोग हुआ है जैसे—

पापहँ तूंग (४।१५), धालाँ माँज (५७।१५)

धयालिँ ररु उलड (३८।५३)।

इस प्रकार द्वितीया बहु वचन म भी कहीं कहीं—ए, -ए प्रत्यय का योग मिलता है जैसे—

भोंडे माँज (४२।२१), भलँ निवाड (४८।११)

द्वितीया बहुवचन में—इ प्रत्यय का भी प्रयोग किया गया है जैसे—

गुरु सीसन्ह ताड (३६।१२) गधवाल तिथिआतिह जुड (५१।२८)।

३ तृतीया एक वचन में अपभ्रंश काल का—ए, -इ प्रत्यय क अवशेष 'उक्ति व्यक्ति' में मा मिलते हैं। जैसे—

जोमें चाल (६।६), नाफँ वष (६।१३) हायँ छूअ (६।१६)

हँसिएँ ब्रीहि लबिति फमार (१३।२२) वआलिँ ररु उपड (३४।१८)

४ सप्तमी में या तो किसी प्रत्यय का प्रयोग नहीं मिलता या फवल अनुन विक का प्रयोग मिलता है। जैसे—

मुँह चूँव, सेजँ ओखर, कोल्ले (६०।२)

सयहि भूतँ वया कड (६।३०), खेतँ हँसिएँ ब्रीहि लबिति फमार (१३।२२)

५ हि, - हि ऐसी ध्यापक प्रत्यय है जिसका प्रयोग प्रायः द्वितीया और चतुर्थी में तथा कभी कभी तृतीया और सप्तमी में भा एक वचन और बहुवचन दोनों में दिखाई पड़ता है।

भीचहि ताड़ (१८।७), बाघहि डर (१८।२७) देवहि नव (४५।१६)

सयहि उपकारिआ हाउ (१०।४)

बिहाएहि आदितु रफा (१४।२३)।

६ इन विभक्तियों और विकारों रूपों के अनिश्चित विभिन्न कारकों के लिए कुछ परसग भी प्रयुक्त हुये हैं। इनमें से सम्प्रदान कारक के लिये प्रायः 'किह, केह, फिह, किह' परसगों का प्रयोग हुआ है जैसे—

बाहए-किह (१४।१०) परकह, आपए कह (३८।५)

जुहए किह (३४।८), करय किह, पदय किह, जाय किह (११।२०-२३) कभी कभी सम्बन्ध कारक का परसग—कर भी सम्प्रदान में प्रयुक्त हुआ है जैसे—यणिए-कर पए धर (१४।२०)।

७ अपादान में ती, पाठ, हुँत (हुत) या ह ता परसगों का प्रयोग किया गया है जैसे—

याय ती टरा (१६।१६), आभा पास बीदा ले (१४।१६), गाव-हुँत आय (१४।१५), कहाँ हुत ए पुरुष आ (२१।१५)

८ सम्बन्ध कारक में 'कर' परसग का प्रयोग हुआ है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि जायधी और तुलसी की शब्दों में जो 'कर' और 'किरि' परसग बहुतायत से मिलते हैं उक्त व्यक्ति में दृष्टिगोचर नहीं हात। 'कर' युक्त रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

राज कर पुरुषु (१६।११), पड़वसी कर घर (२२।३)।

परवर्ती सम्बन्ध सहा के लिये वचन के अनुसार इस परसग में भी परिवर्तन होता है जैसे—

यह करी डाल (१४।२१) तेहु करि सर्माँ (१०।१५)

पूत करेँ यथाय नाच (३६।२८)

९ करण कारक में तृतीया विभक्ति की कुछ धिरी हुई प्रत्ययों के अनिश्चित पास, सउ, सेउ परसगों का भी प्रयोग किया गया है। जैसे—राकर सागर ओडहु पास खणावन्त आह (२२।१४) = राजसागरमुद्रै खानवति, दूनयो सउँ सबकाहु नूट (१७।२३) घिए सौँकरे सेउ छातु (२१।३१)

१० अधिकरण कारक में 'उन्नि' व्यक्ति अन्य अपभ्रंशों की तरह मन्फ, माहि आदि परसगों के अतिरिक्त 'क' घात के 'क्त्वान्त-तन्मथ' रूप 'करि' का

प्रयोग किया है या विलक्षण है। जैसे—

मूवहितौ ब्राह्मणु किंह यालि करि शंभये मानु राधे माझणु (१५/१)
यालि करि = स्थाल्या कत्या + स्थाप्याम्।

नाम का तरह सधनाम के रूपों के विषय में भी 'उक्ति-व्यक्ति सर्वनाम समृद्ध है।

१ पुरुष वाचक सब नामों में से उत्तम पुंस्व क निम्नलिखित रूप प्राप्त होते हैं—

एक वचन	बहु वचन
प्रथमा — हउ (२२/५) हों (१६/२१)	अग्ह (१४/२७)
द्विताया — मोहि (२१/२१)	अग्ह (२२/६)
तृताया — मैं (२२/६)	×
पंचमा — ×	अग्ह-तउ (१६/२१) अग्ह-यास (२१/६)
षष्ठी — मार (१६/१८)	अग्हार (१६/०)

२ मध्यम पुंस्व क रूप निम्नलिखित हैं—

एक वचन	बहु वचन
प्र तु (१६/)	तुग्ह (१४/२८)
द्वि तेदि (२२/४)	तुग्ह (२१/२०)
तृ० ते (२०/११)	×
पंच० ×	तुग्ह-चउ (१४/२७)
ष० तार (१६/२०)	×

३ अन्य पुरुष क रूप सभा लिंगों में निम्नलिखित हैं—

एक वचन	बहु वचन
प्र० सो (१०/७)	ते (१०/६)
द्वि० ताहि (४७/२०)	×
तृ० तेई, तेद (२३/१४)	×
पंच० ता तउ (१४/२८)	×
ष० ता-कर (१३/२५)	तेइ-कर (१/१५)
स० तैहा (३३/१६)	तेइ-मौक (१/१७)

४ निकटवर्ती सधत वाचक सब नाम क रूप सभा लिंगों में निम्नलिखित होते हैं—

एक वचन	बहु वचन
प्र ए	ए
सत ×	एन्ह माभ (१६/२०)

५ समर्थ वाचक संवनाम—

	एक वचन	बहु वचन
प्र०	जा (या)	ज (१०।८)
द्वि	”	×
तृ०	जइ, जेइ (३।१४)	×
च०	जा किहू (४।१)	×
प०	जा-तउ	×
प०	जा कर (२।२५)	×
स०	जैहा (३।१६)	×

६ प्रश्न वाचक संवनाम—

	एक वचन	बहु वचन
प्र	का (१६।१८)	क (२।२१)
द्वि	का (२।५)	×
तृ	केइ, केई (२।३)	×
च०	का किहू, कादि (२।२७), का कर (१५।१)	×
प	का तउ का-गाम, का पासु	×
प०	काँ कर	×

नपुंसक लिंग

प्र०—द्वि०, एक वचन—काह, किहु (१४।२३)

तृ० काहे (२।६)

७ अनिश्चय वाचक संवनाम—

प्र०	द्वि०	तृ०
काउ (२।१८)	काहु (५६।२१)	केहु (१।२३)

८ निज वाचक संवनाम—

द्वि —आपण (४।२३)

प०—आपण (३।३), बहु० आपणे (४।१८)

तृ —आपणे (३६।६४)

च —आपण किहि (३।१५)

स०—आपणी जानि (५।२।१६)

- १ 'उनि-व्यक्ति' की भाषा ने पूर्ववर्ती अपभ्रंश के माध्यम से संस्कृत की अनेक धातुओं का उत्तगाधिकार प्राप्त किया लेकिन जिस विकरण विविधता के कारण

संस्कृत धातु दत्त गणों में विभाजित होत हैं, वह कम हा गया और उग शब्दों का तरह क्रियाश्रों में मा—अ—विकरण वाल गों का प्रधानता हा ग। किंतु 'उक्ति-व्यक्ति' काल में दशमाभाश्रों पर संस्कृत-प्रभाव इनन व्याक रूप से पड़ रहा था कि अनक सत्यन और अक्ष-नन्मन धातु क्रियापद 'उक्ति-व्यक्ति' में स्वाकृत हा गए। छद्म विभन अनुमान रच सन्, दप्प, गनल उत्कान, अणुन अणु नञ, आलान, प्रति विभ्य, वाम आदि एते हा शब्द हैं ना धातु क रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

० परस्मै-द और आत्मन-द का भेद ता-द्वय पहल हा लुन हो चुका था अत्र विकरण वाल चुरादि गण क प्रेरणायक नञ तथा नान धातु क रूप भा अनय वा सामान्य—अ—विकरण वाल रह गए ये उक्ति-व्यक्ति म आक और मा सजिन हा गए जैसे चारयति, कययति, मागति छिद्रयति आदि अक्षरश्र में चारद, कइइ मांग छद्दर हा गए और णि 'उक्ति-व्यक्ति' में कवल चार, कइ, मांग, छद्द रह गए।

१ सामान्य और प्रेरणायक क्रियाश्रों का आरमिक अतर निट ता और उरुक स्थान पर धातु-स्वर का दापीकरण का प्रवृत्ति हा गई, जैसे म = मटति भाइ = भाटति (४।२३) टुट = टुटयति ता = पाटयति (४।११)। इसा प्रकार मूल धातु और प्रेरणायक तथा नान धातु क आरमिक अतर निट तान क वा अतर करने क लिए -आइ-, अण-, -आ-, -आइ- विकरण का सहारा लिना गया। जस—

दययति क लिए णयय (५।२१), विजययति क लिए विजयय (२।१०), निवट, निवटाव (४।१४) = निवटने निवटयति

४ अनक तथा धातुश्रों का मा 'उक्ति-व्यक्ति' ने संस्कृत उगमा और गुण-वृद्धि क द्वारा सामान्य क्रियाश्रों क संधि में गल गिा ह, यहाँ तक कि उनका व्युत्पत्ति का गल लगाने में और भा कनिाह उच्यत हा-द हे।

५ काल-रचना क चुन में प्राय तन प्रकार क रूप मिलत हैं—विभन्त-वद्भन वृद्धन्त-वद्भन और रुद्धन्त। संस्कृत ने विभन्त क्रियाद प्राकृत अक्षरश्र स हात हुए 'उक्ति-व्यक्ति' का भाग का मा उचरारिकार-स्वरूप प्राय हुए। य विभन्त वद्भन रूप कवल चार कानों में हा मिलत हैं—आत्मन् एतमान काल (कृ वाच्य) सामान्य वनमान (कमवाच्य) समान्य भविष्य और आपय (साट् और लट्)।

(फ) 'उक्ति-व्यक्ति' में सामान्य वर्तमान काल व तिदन्त-उद्भव रूप इस प्रकार हैं—

	एक०	बहु०
प्र० पु०	कर ('करइ' विरल)	करति
म० पु०	करसि	करहु
उ० पु०	करउँ (फरा)	करहु

(ग) कमयाच्च् में सामान्य वर्तमान काल का निया में -ईच्च् - , र - ल - य - विकरण का प्रयोग मिलता है जैसे—

पन्थिश्च (२०।२६) = पठ्यते जैविश्च (२१।३१) = भुज्यते

करायिश्च (२१।१७) = कार्यते खेलिश्च (२०।५) = क्राड्यते

(ग) - ह - धासे सामान्य भविष्यत् काल के रूप उक्ति-व्यक्ति में निम्नलिखित मिलते हैं —

	एक वचन
प्र० पु०	करिह
म० पु०	करिहसि
उ० पु०	* करिहउँ

तारिह (२१।२०) तजिह (६।१३), जविह (६।११),
करिहसि (२०।१३) मागिहउ (२२।५)

(घ) सामान्य आशा के रूप—

प्र० पु०	करउ
म० पु	कर

(ङ) भविष्यत् आशा के रूप—

निवन्तेसु (१६।२१) = निर्मात्रिष्यसि

पठेसु (१६।२४) = पठिष्यसि

आग चलकर तुलसीदास म मां मारेसु, बांधेसु जैसे रूप मिलते हैं ।

७ वृदन्त-उद्भव धासे रूप अधिकांशतः भूतकाल के ही मिलते हैं धवल एक रूप सामान्य भविष्यत् काल का मिलता है ।

(क) सामान्य भूतकाल के रूप दुर्भाग्य से 'उक्ति-व्यक्ति' में बहुत कम मिलते हैं । सामान्य भूतकाल के रूपों की यह विशेषता है कि उनमें अकर्मक और सकर्मक के अनुसार अंतर हो जाता है क्योंकि अकर्मक क्रिया के भूतकालिक रूप कर्तरि होते हैं और सकर्मक के कर्मणि ।

अकर्मक क्रियापद

समी पुरुष, पुल्लिङ्ग कर्त्ता के अनुसार—

एक	बहु०
गा	गए
मा	मए
वात्	* बादे
आ	* आए

समा पुरुष, स्त्रीलिङ्ग कर्त्ता के अनुसार—

गानी	* बादी
मई	मई

सकर्मक क्रियापद

जब कर्त्ता पुल्लिङ्ग, एक वचन, अन्य पुरुष हो तथा कर्म दोनों वचनों और लिंगों में हो—

दशन किएसि, देखेसि (६ । १०), किएसि, निएसि, पावेसि (२२ । १०)

जब कर्म पुल्लिङ्ग एक वचन और कर्त्ता अनुक्त हो—

तई काह किएसि (२०।१०) मई पढ़ा (२ । २१)

जब कर्म पुल्लिङ्ग, बहु वचन हो—

ए ब्राह्मण थापे (२१।१७)

(म्) हेतु हेतुमदभूत—

अन्य पुरुष जइ जइ पावत, तव करत (८।१६)

जइ देउ वृष्टि करत, अन्न होत (६।१५)

जइ ईंधन पाएत, त आदन पाएत (६।१६)

(ग) सामान्य मविष्यन् काल — य < अत्र < तव्य

वेद पत्र, स्मृति श्रम्यासि, पुराण देखय, घर्म करय (१२।१६ १७)

इस पर कर्म के लिंग वचन का प्रमाय पड़ता है । जैसे—

ए बेटी काहि देपि (२२।२७)

७ सयुक्त काल प्राय विदन्त-तद्भव और वृदन्त-तद्भव क रूपों को मिलाकर निम्नलिखित प्रकार से बनाए जात हैं—

(क) शतृ वृदन्त + सहायक क्रिया का विदन्त रूप—

आगि देगत आछ (६ । ६) चालत आछ (६ । ११)

सैधत आछ (६।१), बालत आछ (७।१)

यहा क्रियापद फर्हीं-फर्हीं अपुण भूत का अर्थ देता है, जैसे—

काह करत आछे (२०।११) = कि क्षुधता स्थितम् ।

को तहाँ जेवत आछ (२१।७) = कस्तत्र मुञ्जान आवात ।

(८) क्त्यान्त पूवकालिक + सहायक क्रिया का तिष्ठन्त रूप—

धर्मु करि आछ (११।११) = धम कृत्या आस्ते ।

यहाँ आसन भूत काल का बाध होता है परंतु इस प्रकार का एक ही उदाहरण 'उन्नित-व्यक्ति' में मिलता है ।

८ 'उन्नित-व्यक्ति' में संयुक्त काल की जितनी बहुलता मिलती है, उतनी संयुक्त क्रिया की नहीं मिलती । संयुक्त क्रियाएँ या तो तत्सम शब्दों के साथ 'कर' धातु के रूपों से बनाई गई हैं या फिर 'करण चाह', 'अथए माँग' और 'लै-ल पला' जैसा सरल संयुक्त क्रियाएँ मिलता है ।

९ सहायक क्रियाएँ आछ, हा, अह और रह चार धातुओं से निर्मित प्रयुक्त हुए हैं । इनमें भी 'आछ' वाली रूपों का बहुलता है । इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय मध्यदेशीय बोलियों में भी इसका व्यापक प्रसार था । लेकिन आगे चलकर अथधी में केवल 'हा' और 'रह' वाली सहायक क्रियाएँ ही अग्रशिष्ट रहीं ।

इस प्रकार मुख्यतः संदेश रासक और प्राकृत पैंगलम्, वखरलाकर और कार्तिलता तथा 'उत्ति व्यक्ति प्रकरण' के आधार पर परवर्ती अपभ्रंश के परिचय, पूर्वी और मध्यदेशीय भेदों की विशेषताओं के साथ ही अपभ्रंशोत्तर युग तथा आधुनिक मापाओं के पूर्वकाल के बीच की भाषा की सामान्य प्रवृत्तियाँ निधारित की जा सकती हैं । उक्त ग्रन्थों की भाषा पर अलग अलग विचार करत समय स्पष्ट रूप से ध्वनि तथा रूप-रचना संबंधी कुछ ऐसा विशेषताएँ दृष्टिगोचर हुए हैं जो प्रदेश भेद के बावजूद समय में सामान्य हैं । परवर्ती अपभ्रंश का सुनिधा के लिए कुछ विद्वानों ने 'अवहट्ट' नाम दिया है यद्यपि अवहट्ट और अपभ्रंश सश में अथ का दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, फिर भी प्रयोग की दृष्टि से 'अवहट्ट' सश परवर्ती अपभ्रंश के ग्रन्थों में ही अधिक मिलती है । इसलिए किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में 'परवर्ती अपभ्रंश' जैसे यह शब्द के लिए अवहट्ट शब्द का प्रयोग किया जा सकता है ।

तत्कालीन बोलियों की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालने वाली एक अन्य महत्वपूर्ण सामग्री इधर प्रकाश में आई है । यह एक शिलाद्वित मापा का

है जिसका नाम शिला लेख में 'राउल खेल' दिया गया है

रोडा कृत और जिसका रचयिता कोई 'रोडा' नामक कवि है । इस

राउल खेल प्रकाश में सद्यप्रथम लाने का श्रेय डा० हरि परचम म याणी

नो है।^१ हिंदी में पहली बार डा० माता प्रसाद गुप्त ने उक्त शिलालेख का पाठ प्रकाशित किया है तथा उसके संबंध में अपना विचार भी व्यक्त किया है।^२ यह शिलालेख इस समय बम्बई के 'प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम' में सुरक्षित है। इसका आकार ४५" X २३" है। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार यह मालना के धार नामक स्थान पर प्राप्त हुआ था। वर्तमान अवस्था में यह भंग है और कुछ अक्षर खंडित हो चुका है। प्रस्तुत रूप में भी कुछ अक्षर अपाट्ट अथवा अपठित हैं। डा० भायारणी और डा० गुप्त दोनों ही विद्वानों के अनुसार इसका लिपिकाल ईसा की ११वीं सदी होना चाहिए। डा० गुप्त के अनुसार 'राउल वेल' 'राजकुल विलास' है। संपूर्ण शिलालेख एक ललित काव्य है जिसमें छंद देशों की नायिकाओं का नखशिख वर्णन किया गया है। इनमें 'टक्किया', 'गौड़ी' तथा 'मालयीया' नायिकाओं का उल्लेख तो स्पष्ट है, शेष तीन के प्रदेश स्पष्ट नहीं हैं। डा० भायारणी एक को 'कानोज' अर्थात् कनौज देशाया मानते हैं किन्तु डा० गुप्त के अनुसार वह स्पष्टतः 'कानोद्वज' है और 'कानोज' से उसका कोई संबंध नहीं है। अथवा 'टेल्ल' नाम मा आया है जिसे डा० गुप्त विकलिंग अर्थात् दक्षिणा कोशल मानते हैं और उनका विश्वास है कि इस शिलालेख की भाषा 'दक्षिणी कोसली' है।

जहाँ डा० भायारणी इस शिलालेखित काव्य को विभिन्न प्रादेशिक वोलियों का नमूना मानते हैं, वहीं डा० गुप्त सम्पूर्ण काव्य को केवल एक भाषा में रचित समझते हैं और वह है दक्षिण कोसला। विवादास्पद पक्ति है अन्तिम जिसमें करि और कृति क नाम का उल्लेख है। डा० गुप्त के अनुसार उस पक्ति का पाठ इस प्रकार है—

रोहें राउसवेल वलाणी ।

[पुरु] तहं भासहं जइसी जाणी ॥

डा० भायारणी 'ण त हं' को 'आठ ह' पढ़ने के पक्ष में हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि प्रस्तुत रूप में केवल छंद नखशिख प्राप्त हैं और यदि प्रत्येक को भाषा का निरूपण किया जाय तो नायिकाओं के वेश भेद के साथ उनका वर्णन का भाषा में भी पर्याप्त देश भेद है इसलिए विवाद का समाधान केवल अन्तिम पक्ति के उक्त 'ण त ह' के पाठ पर निर्भर नहीं है। यदि डा० गुप्त का ही पाठ मान लिया जाय तो 'पुरु तहं भासहं जइसी जाणी' का स्पष्ट अर्थ यह है कि 'उन माराओं का मैं जैसी जाना'। 'तहं भासहं' स्पष्ट ही पत्नी यद्गुरचन है जा

१ भारतीय विद्या बम्बई (भाग १७ अंक ३४ पृ० १३ ४६ १९५९ ई०)

२ हिन्दी अनुशीलन धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक (पृ० १३ अंक १० १९६० ई०)

विकल्प से मतमी यद्बुधचन का भी अर्थ देता है। कवि के कथन से स्पष्ट है कि उसने 'राउल बेल' में जितने देशों की नायिकाओं का वर्णन किया है, उन देशों का भाषाओं का वह जैसा भी जानता है, उसा क अनुसार वर्णन करने के लिए प्रयत्नशाल था। इस कथन की पुष्टि स्वयं शिल्लकित काव्य का माप से भी होती है।

सम्पूर्ण शिल्लालेख का पाठ न देकर यहाँ विभिन्न नायिकाओं के वर्णन के नमूने क्रम से प्रस्तुत हैं।

- १) आलिहि बाजसु तरसउ बागइ ।
 आछउ तुछउ फूल इ ॥
 अहर त बोले मरु मरु रातउ ।
 सोइ देइ कवि अन ॥
 रातऊ कसुमा अति सुठु चांगउ ।
 गाउउ बाघउ .. आंगउ ॥
 -इहां पहिरणु भालउ भावइ ।
 तासु सोह कि कछुआ पावइ ॥
 बिरु आहरणें जो पायेहु सोह ।
 मानु बना तह मोरिउ—ोह ॥
 अइसी वेठिया जा घर आवइ ।
 ताहि कि दुसिम्ब कोऊ पाइ ॥
- २) बलिअहि बाधलि अहि जे चांगिम्ब ।
 ते बाल तु बी सागिम्ब ॥
 -अहि मानु जें विमइल फूलें ।
 आछउ ताउ कि तेंह बें बोले ॥
 आवितु बाधुआ दद गाथा ।
 आनिकु जोबणु ऊरु बादा ॥
 हाथिहि रोठे ऊजन ताहा ।
 ओपुडि तामे आविल साहा ॥
 पाइहि पाहतिपा विठु चांगा ।
 सोए बि आनिकु मांरी आंगा ।
 गोले आनविभ मुभु बि दे
 आनिकु तेंह वा सो

- क बि भइसो रोजल सोही ।
 वेकत सोही मयणु व मोही ॥
- ३) एहु कानोइउ काइ सउ भांखइ ।
 वेस भन्हाणउ ना जउ देसइ ।
 प्रा उठउ जो राजलु सोहइ ।
 यह नउ सो एयु कोशकु न मोरइ ॥
 इहरउ भांखिहि काजमु दीनउ ।
 जो जाणइ सो यह नउ वानउ ॥
 करडिम्ब भनु वाचडि भउ वाहि ।
 काइ करेवउ सोहहि भानाहि ॥
 हायहि माठि भउ सुहु सोहहि ।
 -यु खता जणु सयलइ चाहिहि ॥
 पहिरणु करहरें पर सोहइ ।
 राजल वोसनु सउ जणु मोरइ ॥
 हास गइ जा चलति यहमी ।
 सा वाखर एहु राजल कहमी ॥
 जाहि घरे भइसो भोतग पइसइ ।
 त धरु राजल जइसउ दोसइ ॥
- ४) केहा टेलि पतु तुहु भांखहि ।
 भ.. रा वु वेहु तुहु भांखहि ॥
 वेहु एवहु सो एयु वनिअइ ।
 -अखल०हू ह्रीमा भिम ॥
 भइडा कह पाह जो यडा ।
 सो प्यर तेहा गोरों सडा ॥
 चद सवाणा वीहा बियुमइ ।
 जें सुनु एवक एवि भडिअइ ॥
 कयूमडिमहि सोहहि बुइ गछ ।
 मइन सडम उहि परे अछ ॥
 कठा कडि जलासी सोहइ ।
 ऐहा तेहा सउ नए मोहइ ॥
 गोरइ भवि वेरगा अचु ।
 संभहि जोहहि न सगउ हू ॥

हिंदी के विकास में अग्रभ्रम का योग

पहिरण पापरेहि जे बेरा ।
 कच्छडा वच्छडा इहि परः इतरा ॥
 एहा येहु सुत्रावा टेल्ल ।
 घास तु सदा इहि परद घोल्ल ॥
 एही टक्किएण पइराति सोहइ ।
 सा निहाति जणु मलमल घाहइ ॥
 ५) कीस रे वडिरो टाक तहु खोलसि ।
 राहु भागें वान तु भूलसि ॥
 तई की कतहू वेस रे दीडे ।
 जेहर तेहर वान ति धेडे ॥
 गौड सुभाणु सातइ कत दीडे ।
 ते बेदि वेसि कि भावधि मोडे ॥
 खोपहि ऊपरं भग्ने मल कइसे ।
 रवि जणि राहै घेतल जइसे ॥
 भउहीं तु करीं बेणु वग्वर कइसी ।
 ताहि बग्व करीं घणु घइणी भइसी ॥
 घरे घरे वग्वर देखसि न टीका ।
 चांदहि ऊपर एह भइ टीका ॥
 घणहर भागें जो हाक सुनेरउ ।
 सोहइहु हु सोए कुज ठेरउ ॥
 परबी घांतरे घणहर कइसउ ।
 सरय बलय विच चांदा जइसउ ॥
 घूतेर हाक रोमावलि कलिघउ ।
 जणि गांगहि जसु जउणहि मिजिघउ ॥
 पहिघमल वाही जे घदहाई ।
 वीजेर चां हि ते घदहाई ॥
 वि जउणु सेंदूरी सनदही कीजइ ।
 रुउ देखितारउ सब जणु खीजइ ॥
 घयल र कापइ भोदिमल कइसे ।
 सुहू ससि जागू पसारेल जइसे ॥
 जेहर रुचइ सेहर घोल ।
 सा रे वसहि भावि कि मोलु ॥

ब्रह्मसो मंडि ज राउलें पइसइ ।
 सो मगु तादि मठिउ शीत ।
 ६) गीउ तुहु एउ को पनु भउर घर
 को तइ सह नइ बोणइ ।
 ज पुणु मालवाउ वेसुहि भायनु ।
 काम्बवेउ जानु भपराह हयिभारहु मूसइ ।
 इहा भम्हारइ वु भगो लौप करिउ भइ ।
 तहि सारिखउ कहाइउ भायि एउ किस... इ ।
 खोपहि ऊपरि सोलइहुउ दानउ वानु तें किसउ भावइ ।
 किसउ मित्ररिभउ रजायसु काम्बवेवहि करउ नावइ ।
 भउरहु र इइ तु करोहि सारोहि भवाह भाविहि करइ गुणइ
 जइसउ काम्ब करउ धराहु सन्नाभियउ ।
 भाखिर फाना सोला ऊजना सरला से वान नि जाम खूजइ ।
 तइमउ हयिभारु पादिउ काम्बवेउ जगही काई करिसी ।
 भइमउ दुस्पतिही मउ मूमइ ।
 बुइ करोव जिसा किमा ।
 ते देखतह सबह तरुणा ।
 पाविवे कटी लणुसइ धन धन पइहि हि धा ।
 तेनूर पइहिपा घडिवन किसा भावयि ।
 जणु पुनिवहि पुनिवहि करु खांड काइइ तहि करउ सुहावउ ।
 तेहि करइ तनिवई जपइलें भोउइ स कवि साह स धी ।
 न धीकी भनह पवाताह भयोप पस्तवह तें तुसिउवि लपी ।
 मोतीहु कए एउ वि हारु ।
 स सोह देखतह भइमउ भाव ।
 भएमारउ भ उ हुमउ एहु मसार ।
 त पुणु जवहो ते हायनी पायहीं पइहिय्या सोना कय चुडा ।
 स देवि-तुम्हारा जे वेन त सब भावहि कूडा ।
 एह सो सुवेम जहि पाविउ पइमइ ।
 राउसु बुचइ ।

उपसुक्त उदाहरणों में पारम्परिक भाषा भद्र उल्लेखनाय है । व्यञ्जन द्विज
 का प्रयोग विनय रूप से चौथे उदाहरण में है जिसमें 'ठकिरया नाकिा का वजन
 है । अन्यत्र यदि 'एक' या 'एकु' है ता यहा 'एकहु' है । इस प्रकार 'भिरजइ',

‘बनिज्जह’, ‘गन’, ‘अन’, ‘बोल्ल’ आदि व्यंजन द्वित्व वाले शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ‘टक्क’ प्रायः पन्जाब का दक्षिणी पूर्वी भाग माना जाता है और उच्चारणगत उक्त विशयता इस प्रदेश की बोली में आज भी पाई जाती है। इसलिए ‘राउल बेल’ में ‘टक्कण। नायिका का बगन यदि उस प्रदेश का बोली का प्रतिनिधित्व करता है तो युक्तिसंगत कहा जायगा।

इसी प्रकार गौड़ा नायिका क बगन में भूतकालिक—अल प्रत्यय वाला क्रियाएँ मिलती हैं और यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि ऐसी क्रियाएँ किसी अन्य नायिका क बगन प्रसंग में प्रयुक्त नहीं हुई हैं। जैसे—

घबलर बापट ओढियल कइसे।

सुह सति जोह पसारेल जइसे ॥

यह विशयता बंगला, मैथिली, मगही, भोजपुरिया आदि गौड़ीय भाषाओं में आज भी मिलती है।

द्वितीय उदाहरण में स्पष्ट रूप से प्रदेश विराय का उल्लेख नहीं मिलता। ‘गाहा’ अथवा ‘गोल्ल’ शब्द किसी प्रदेश के सूचक हैं अथवा नहीं, यह विचारणीय है। किन्तु इस बगन में ‘ची’, ‘चै’, ‘चा’ प्रत्यय ऐसे हैं जो किसी अन्य बगन-खंड में नहीं आए हैं जैसे—

तौह चा वेसु।

तौह चै बोल्लै।

सोरुह ची रिठि।

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस खंड में मराठी भाषा में मराठा नायिका का बगन करने का प्रयत्न किया गया है।

तृतीय उदाहरण में ‘अग्हाण्डै’, ‘काइ करेवउ’, ‘यह नउ’ आदि प्रयागएसे हैं जो पुरानी पश्चिमी राजस्थानी की याद दिलाते हैं। प्रसंगात् यह यही खंड है जिसमें ‘पता जणु’ अर्थात् क्षत्रिय जन का उल्लेख हुआ है। इसलिए बहुत संभव है कि इसमें तत्कालीन राजस्थानी बोली का नमूना प्राप्त हो।

छठा अर्थात् अंतिम उदाहरण ‘मालवीउ’ नायिका का विस्तृत बगन उपस्थित करता है जिसमें ‘अग्हारइ’, ‘काइ करिसा’, ‘न किला भावधि’ ‘नायि आदि अनेक प्रकार के विशिष्ट प्रयोग मिलते हैं जिनका सम्बन्ध उक्त चूंन से सम्भवतः जाड़ा जाय।

सबसे सक्षिप्त तथा सामान्य प्रथम खंड है जिसमें कितना प्रदेश विराय का उल्लेखनीय वैशिष्ट्य परिलक्षित नहीं होता। अधिक से अधिक ‘अइसी वेठिया जा यह आरह’ में ‘वेठिया’ शब्द ऐसा है जिसे पुरानी कोसली अथवा अवधी से संबन्ध

कहा जा सकता है। हमचन्द्र के यहाँ भा 'विट्टा' शब्द आया है, 'विट्टिया' नहीं। इस काल प्रदेश का 'विट्टा' का निकटवर्ती रूप माना जा सकता है।

इस प्रकार डा० भाषाणा ने इस काल-खण्ड में हमेशा अथवा, मराठा परिचय भा हिन्दा पञ्जाब, बंगला और मालवा के पूरे रूपों का अनुमान लगाया है। वह सामान्यतः तत्काल एवं युक्तिसंगत माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त यदि दश-मद का छोड़कर 'राउल बल' का भाषा के समग्र रूप पर विचार करें तो कुल मिलाकर यह भाषा आधुनिक भाषाओं के अत्यधिक निकट का प्रतीत होता है। यदि इसका रचना काल ११वीं शताब्दी सहा है तो यह उस समय के प्राप्त अपभ्रंश तथा अवहट्ट के समा प्रयोगों से अधिक आधुनिक तथा विकसित भाषा है। इस शिलालेख का भाषा हमचन्द्र प्राकृत व्याकरण का प्रतिनिधित्व अपभ्रंश से ही नहीं बल्कि अत्युल रूप में 'सदेश' शब्द से भी अधिक आधुनिक है। इसके अलावा शब्द 'आव' के हिन्दा भाषा भाषा के लिए काफ़ी परिचित हैं। व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ भी अवहट्ट का अन्तिम अवस्था का प्रतीत हैं।

अब अवहट्ट की इस पृष्ठभूमि पर सामान्यतः आधुनिक भारतीय भाषा भाषाओं और विशेषतः हिन्दा का विविध बानियों के उद्भव का ऐतिहासिक विवरण समझा जा सकता है।

अवहट्ट अथवा परवर्ती अपभ्रंश के बाद भारतीय भाषाभाषा में जो विशेष प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है वह है अतिशय दश-मद का। अवहट्ट की जितनी सामान्य अवस्था प्राप्त हुई है, उससे आधार पर यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक अवहट्ट के अधिक से अधिक तान प्रदेश भेद थे—पश्चिम, पूर्वी और मध्यदेशीय। किन्तु इसके बाद आठवीं शताब्दी के आगम से ही गुजराती, मराठी, बंगला आदि आधुनिक भाषाओं की स्वतंत्र सत्ता दिखाई पड़ने लगती है। यही नहीं, स्वयं मध्यदेश में भी राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड्गबोली, अवधी और मैथिली आदि बालियों का निर्यात विशेषतः स्पष्ट होने लग जाता है। भारतीय भाषाभाषा में घटित होने वाला यह स्वरूप भेद प्राकृत-काल के स्वरूप भेद से निश्चय ही भिन्न प्रतीत होता है।

यनाकरों द्वारा निर्मित महाराष्ट्र, शारङ्गना, मागधा पेशावा आधुनिक चूलिका पेशावा आदि प्राकृत भेदों मुख्य भेद में उभारते हुए भाषा भाषाओं का हा है व्याकरणिक भेद नाम मात्र का है। लेकिन यहाँ दश गुजराती, मराठी, बंगला और राजस्थानी ब्रजभाषा खड्गबोली, अवधी तथा मैथिली के विषय में नहीं कही जा सकता।

इस ऐतिहासिक घटना के कारणों का विश्लेषण करने से पता चलता है

कि विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक भाषाओं का उद्भव पितृता आकस्मिक दिग्वाद पड़ता है, उतना आकस्मिक घटवृत्त ही नहीं। भाषा का इतिहास में आकस्मिक कुछ भा नहीं होता। यन्त्र से उड़ी ऐतिहासिक क्रान्ति भी भाषा का रूप में सहसा परिवर्तन नहीं ला सकता। अस्मर धारे गारे हान वाले छाटे-छाटे परिवर्तन शताब्दियों बाद जब एकत्र हो जाते हैं तो भाषा एकदम बदली हुई मालूम पड़ने

क्षेत्रीय भेद
का कारण

लगता है। गुजराती, मराठी, बंगला तथा हिंदी बोलियों का उद्भव कायरे में भी यही नियम लागू होता है। इन आधुनिक भाषाओं का उद्भव और विकास अपभ्रंश के ही गभ में धारे धरे सैकड़ों वर्षों से होता आ रहा था। एक आर

साहित्यिक अपभ्रंश का रूप धार धीरे अप्रचलित हात गए और दूसरे आर आधुनिक भाषाओं का नये रूप प्रचलन में आते रहे। प्रमथ प्राचान रूपों के हास और नवीन रूपों के विकास की प्रक्रिया से ही आधुनिक भाषाओं का उद्भव हुआ। आधुनिक भाषाओं के ये नये रूप निश्चय ही उनकी प्रादेशिक बोलियों से आते रहे हैं फिर भी यह बात विचारणीय रह ही जाती है कि चौदहवीं शताब्दी का आस-पास इन प्रादेशिक बोलियों का संगठन भाषा का रूप में बर्धोकर हुआ ?

अन्य जनपदीय बोलियों का विकास साहित्यिक भाषा के रूप में शीघ्र हुआ, उनमें गुजराती, मराठी और बंगला मुख्य हैं। यदि इन प्रदेशों अथवा जनपदों का इतिहास पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि अनेक छोटे माटे राजनातिक परिवर्तनों के बावजूद इनकी भौगोलिक सीमाएँ शताब्दियों पहले से बहुत कुछ अपरिवर्तित रहती आई हैं। अपभ्रंश काल से ही ये प्रदेश आर्थिक, राजनीतिक और

गुजराती, मराठी
और बंगला के
उद्भव का कारण

सांस्कृतिक दृष्टि से स्वतन्त्र इकाई का रूप में संगठित होने लग गे। गुजरात के सालङ्की, दण्डगिरि का यादव और बंगाल के पाल राजाओं ने अपन अपन भूखंडों में स्वतन्त्र शासन स्थापित करने के साथ ही, अनेक लोकप्रिय सांस्कृतिक कार्यों द्वारा जातीय इकाइयों को संगठित होने का अवसर

प्रदान किया। शासन की दृष्टि से इन जातियों का भौगोलिक साम्राज्यों में एकत्वता स्थापित हुई और राजधरों में भी परिवर्तन कम हुआ। इसके अतिरिक्त इन प्रदेशों के राजधरों ने संस्कृत की अपेक्षा लोकबोलियों को अधिक प्रथम और प्रस्ताहन दिया। इस प्रकार जातीय संगठन ने भाषा का उत्थान किया और भाषा ने जातीय संगठन का दानों ही परस्पर बंधमान हुए। यहाँ तक तो गुजराती, मराठी और बंगला तीनों भाषाओं का उद्भव के सामान्य कारण हैं। लेकिन इनमें से प्रत्येक के कुछ निजी कारण भी हैं। उदाहरण स्वरूप गुजराती और उसके साथ ही विधा का

विकास में वाणिज्य विशेष सहायक हुआ, जब कि मराठी और बँगला के उत्थान में राजकीय और सांस्कृतिक कारण ही मुख्य थे।

उत्तर भारत में तुर्कों के आक्रमण से पश्चिमा वाणिज्य-भाग बढ़ हो जाने का कारण दसवीं सदी तक वाणिज्य में भी ठहराव आ गया था वह थोड़े दिनों बाद जब दूर हुआ तो उससे लाभ उठाने वालों में सिंध और गुजरात अप्रणी रहे। इस नई वाणिज्य-व्यवस्था ने इन जातियों के स्वतंत्र संगठन में विशेष याग दिया। इसका विपरीत मराठी भाषा-भाषी जाति का संगठन में राजनीतिक केन्द्र दिल्ली से उसका स्वतंत्र अलगवाव और भक्ति और दालन विशेष रूप से सहायक हुआ। केन्द्र से प्रायः स्वतंत्र रहना बंगला भाषा-भाषी जाति के उत्थान में भी सहायक हुआ लेकिन इसका साथ ही धार्मिक आगरण और जहाजरानी के जरिए वाणिज्य विस्तार भी निमित्त कारण हो गया।

इसके विपरीत मध्यदेश की भाषा का विकास दूसरे ढंग से हुआ। जिस प्रकार सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में बहुत पहले ही एक साहित्यिक भाषा का उदय हो गया, उसी प्रकार मध्यदेश में एक साहित्यिक भाषा का उदय न हो सका। इस विशाल भू-भाग में अनेक छोटी छोटी साहित्यिक बोलियाँ बन गईं। इन बोलियों में भी सबका विकास एक साथ और एक साथ नहीं हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से राजस्थाना और मैथिली बोलियों का उदय पहले हो गया इनके बाद अरबी का उदय हुआ। ब्रजभाषा और खड़ीबोली का उदय लगभग साथ ही साथ हुआ। लेकिन साहित्यिक दृष्टि से ब्रजभाषा खड़ीबोली से पहले ही लोकप्रिय तथा प्रादुर्भाव गई। खड़ा बोली उठा तो बहुत पहले ही लेकिन एक ताजम के साथ इसे मानवभूमि छोड़कर दक्षिण में प्रवासी होना पड़ा, दूसरे यह शुरू शुरू में विदेशी भाषा भाषियों के हाथ पड़ गई, तीसरे विदेशी धर्म प्रचार का साधन बन गई और चौथे संयोग से सामान्य जन समुदाय से दूर नगर तथा राज दरबार में बँध गए इसलिए आरम्भ में इसका उत्थान ब्रजभाषा की अपेक्षा मंद पड़ गया। क्योंकि खड़ा बोली के ठाँव निराल ब्रजभाषा का विकास उसका ठेठ जन्म भूमि में ही हुआ उसे सशक्त भाषा की विशाल परम्परा का आशय प्राप्त हुआ वैष्णव भक्ति का प्रसार का गौरव मिला और सबसे बढ़कर लाक-हृदय के प्रतिनिधि मन्त्र कवियों का सम्पन्न मिला। पंजाब का उदय भी तभी हुआ जब उसे नानक आदि सन्त कवियों की भावराशि तथा सामान्य जनसमूह के सांस्कृतिक आगरण का प्रेरणा मिली।

यदि हिंदी बोलियों में से एक-एक को लेकर उनके उदय के कारणों पर

विचार किया जाय तो अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित होंगे जिनसे बहुत-सी भ्रान्त धारणाएँ निर्मूल हो सकती हैं। मैथिली का उदय इतना पहले इसीलिए समझ हो सका कि मिथिला शासन की स्वतंत्र इकाई के रूप में एक ही राज्य का अन्तर्गत कई शताब्दियों तक स्थापित रहा। व्यातिरीश्वर और विद्यापति उसी राज्यकाल की उपज हैं। सांस्कृतिक इकाई के रूप में इस जाति का संगठन दीर्घ परंपरा से होता आया है। भौगोलिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से उन दिनों मिथिला मध्यदेश से अलग और स्वतंत्र था। फलतः इस प्रदेश की बोली हिंदी की अन्य बोलियों से बहुत कुछ भिन्न हो गई। यह ध्यान देने की बात है कि मैथिली का उदय और विकास जिस गति से हुआ, वह पीछे प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण मथर हा गया। लेकिन आधुनिक युग में जातीय भाषना के अभ्युदय के साथ ही मैथिली फिर बढ़ चली और आज स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि यह बोली परिनिष्ठित हिंदी से अलग स्वतंत्र भाषा के रूप में विकास कर पायगी।

मैथिली और
राजस्थानी

है कि मैथिली का उदय और विकास जिस गति से हुआ, वह पीछे प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण मथर हा गया।

लेकिन आधुनिक युग में जातीय भाषना के अभ्युदय के साथ ही मैथिली फिर बढ़ चली और आज स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि यह बोली परिनिष्ठित हिंदी से अलग स्वतंत्र भाषा के रूप में विकास कर पायगी। राजस्थानी की स्थिति भी बहुत कुछ मैथिली जैसी ही है। पश्चिमी राजस्थान बहुत दिनों तक जातीय और प्रशासकीय रूप में गुजरात से संबद्ध रहा दोनों जातियों और बोलियों का विकास साथ साथ हुआ। पुरानी गुजराती और पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में बहुत कुछ समानता का हाना इस तथ्य का प्रमाण है। दूसरी ओर पूर्वी राजस्थान पृथ्वीराज चौहान के ही समय से (और शायद उससे भी कुछ पहले से) दिल्ली आगरा के शासन क्षेत्र से संबद्ध रहा। फलतः उसकी भाषा (पूर्वी राजस्थानी) पुरानी ब्रजभाषा से मिलती जुलती है। धीरे धीरे राजस्थान का राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास इस प्रकार हुआ कि राजस्थानी बोली-समूह की मुख्य बोली मारवाड़ी प्रधान हो गई और अब वह परिनिष्ठित हिंदी से स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में गठित होने लगी है।

मैथिली और राजस्थानी के विपरीत मध्यदेश की शय तान मुख्य साहित्यिक बोलियाँ अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली अलग अलग होती हुई भी आरंभ से ही एक जातीय भाषा के रूप में विकसित होने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ती हैं। इतिहास साक्षी है कि अवधी ने किस प्रकार तुलसीदास के समय तक आते आते ब्रजभाषा में अपना अस्तित्व मिलाकर एक काव्य भाषा के निर्माण में योग दिया और आगे चल कर अवधी मिश्रित ब्रजभाषा ही मध्यदेश की सबमान्य काव्य भाषा हो गई। साहित्यिक दृष्टि से अवधी ने अपना ऐतिहासिक फायदा पूरा कर दिया। इसी तरह ब्रजभाषा ने भी खड़ी बोली के लिए मांग प्रशस्त करके नवीन साहित्यिक भाषा को आगे बढ़ाया। निःसंदेह खड़ी बोली ब्रजभाषा के सामानान्तर

हा उद्गु साहित्य में परमार्जित होता रही लेकिन एतिहासिक दृष्टि से ब्रजभाषा के परिनिष्ठित होने व बाद ही खड़ा बोला का आधुनिक रूप सामने आ सका। सौरा और मार व ठाक पहले तक खड़ा बोला म ब्रजभाषा का अत्यधिक मिश्रण था और मार व समय तक मा ब्रजभाषा क प्रभाव से खड़ा वाली भवधी, ब्रजभाषा सवधा मुक्त नहीं हा सकी था। इस तरह व्याकरण का दृष्टि से और खड़ी बोला अपभ्रंश व बाद अवधा से लरुर खड़ा बोली तक एक ही भाषा का निरंतर परिमाणन और परिष्कार प्रगत होता ह। सदियों तक घिसत घिसते प्रत्ययों, विभक्तियों, परसगों, उपसगों आदि ने आधुनिक परिनिष्ठित रूप धारण किया इस प्रवाह में कुछ प्रत्यय-परसगों प्रवाह-पतित अथवा अप्रचलित हा गए और कुछ नए आ ल धिर मा वाकरण का दाँचा बहुत कुछ बहा रहा। उच्चारण और ध्वनि विकार सवधा छोट माट स्थानाय मदी व दानतूद अवधा ब्रजभाषा और खड़ा बोला एक हा हिंदा क िकास का विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

लेकिन यह न भूना चाहिए कि इन तानों बालियों का एक जातीय भाषा क रूप म संगठित होने का काय अमा अन्धा तरह पूरा नहीं हुआ ह। कारण स्पष्ट है। गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल का तरह मध्य देश का जातीय विकास नहीं हुआ, इसीलिए इस क्षेत्र में एक जातीय भाषा का विकास भी यथाचित नहीं हा सका। जिस समय आधुनिक भाषाओं का उदय हा रहा था, उस समय मध्य देश अत्यंत अव्यवस्थित और अज्ञान्त था। विदेशी आक्रमणकारियों व कारण राज नीतिक स्थिति बराबर अस्थिर रही। राजवंशों का परिवर्तन जितना जल्दा-जल्दा इस क्षेत्र में हुआ, उतना गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में नहीं हुआ। छोट छोटे राजवंशों क शासन-क्षेत्रों में विभाजित रहने व कारण समस्त प्रदेश विभिन्न जातीय इकाइयों और बालियों म बटा रहा। सातहर्षी सदी क आस-पास इस अव्यवस्था में थोड़ा परिवर्तन हुआ। मुगल बादशाह अकबर महान व शासन काल में मुहम्मद बन्दर स्थापित हुआ विकसित मध्यदेश कर्नातुल हुआ। नये दग की भूमि-व्यवस्था ने गिगरे हुए गाँवों में कुछ एकप्रवादा स्थापित करने की पृथ भूमि तैयार का। सामरिक उपराग क लिए थड़ी-बड़ी छावणियों क रूप में नगर स्थापित हुए। इन छावणियों म परन्पर यातायात का सुविधा हान मे वास्तिव का प्रगति हुए। इस तरह उस मध्ययुग में मा जातीय भावना क लिए पृथभूमि तैयार हुए। एक घोर व आर्थिक और राणातिक आवार निर्मित हा रहे व और दूसरा और भक्ति आदानन क द्वारा सपूर्ण मध्यदेश में सांस्कृतिक एकता का लहर फैल रहा था। इन दुन्दे प्रयत्नों ने जातीय भाषा क विकास में महत्वपूर्ण योग

दिया। पलत प्रयथा और ब्रजभाषा के मिश्रण से एक सामान्य काव्य भाषा का प्रादुर्भाव हुआ और साथ ही नगरों में खड़ी बोली का भी अस्तित्व दिखाई पड़ा। आगे चलकर अग्रभ्रंशों के आनंद के साथ रेल, तार, डाक के द्वारा नवजात भावना के विकास के लिये और भी सुविधा प्राप्त हुई ता ब्रजभाषा और खड़ी बोली की सम्मिलित भाषा से आधुनिक खड़ी हिंदी का रूप सामने आया। जातीय एकता का यह कार्य नगरों में तो सम्पन्न हुआ, किन्तु उस गतह से नीचे गाँवों में तराव बहुत कुछ बना ही रहा। पश्चत जा आधुनिक जातीय भाषा मध्ययग में रनी वह ऊपर ही ऊपर नगर निवासी पदे निम्न मध्ययग तक ही सीमित रह गई, उसकी गहँ गाँवों की मिट्टी में न जा सकी। इसी आधारभूत कमजारी के कारण आज भी इस क्षेत्र की भाषा समस्या उलझी हुई है।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ध्यान में रखकर हिंदी बोलियों के उद्भव की को भाषा विषयक ग्रन्थों पर विचार किया जाता चाहिये।

जब से अग्रभ्रंश का प्रचुर साहित्य प्राप्त हुआ है, अग्रभ्रंश से आधुनिक भाषाओं का सम्बन्ध ढोड़ने और उनका अग्रिमाव दिखाने का फैशन-सा चल पड़ा है। जहाँ तक इस दिशा में शोध भावना से प्रयत्न करने की बात है, वहाँ तक तो ठीक है लेकिन पहले से ही एक निश्चित धारणा के अनुसार अग्रभ्रंश तर्कों का जब अनुमान के साधने में गलतने की चेष्टा का जाती है अथवा कुछ अनुमानित अग्रभ्रंशों की कल्पना की जाती है ना यह काय वैज्ञानिक विचार की सामा से बाहर जा पड़ता है। जब तक 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण', 'वर्णरत्नाकर आदि परवर्ती अग्रभ्रंश के प्रथ प्राप्त नहीं हुए थे तब तक पश्चिमी अग्रभ्रंश के साहित्य के आधार पर हिंदी बोलियों के उद्भव की खोज करना बहुत कुछ अनुमानित ही था। यस्तुत

अग्रभ्रंश का जो अधिकांश साहित्य प्रकाशित हुआ है, उनमें हिंदी बोलियों के उद्भव पर प्रकाश डालने वाली सामग्री प्रायः गुजराती और कुछ-कुछ राजस्थानी के ही आरम्भिक बीज अधिक हैं। पश्चिमी अग्रभ्रंश की कुछ सामग्री विशेषतः परवर्ती काल की—ऐसी अग्रभ्रंश है जिससे ब्रजभाषा के आविर्भाव का आभास मिल सकता है जैसे संदेश रासक प्राकृत पैंगलम आदि। लेकिन सारी सामग्री इतनी परिपाटी विहित और साहित्यिक है कि उससे उस समय की लोक-बोलियों का पता लगाना कठिन प्रसात होता है।

इसकी अपेक्षा 'उक्ति-व्यक्ति' की भाषा में लोक-बोली के अधिकत तत्व वहाँ अधिक हैं। अग्रभ्रंश की उत्पत्ति मालूम करने में यह सामग्री अतिमो अधिक उपादेय है, उतनी विश्वसनीय और समृद्ध सामग्री ब्रजभाषा के लिए अभी तक

सुलभ नहीं हा सही है ।

लेकिन खड़ी बोली के प्राचानतम रूप पर प्रकाश डालने वाली सामग्री तो सरसे कम है । ग्राम तौर से शैरसेनी अपभ्रंश तथा अवहट्ट में ऐसा कुछ नहीं मिल सका है, जिससे खड़ा बोली का साया सम्बन्ध स्थापित किया जा सके ।

‘दक्षिणी हिंदी’ नाम से अवश्य हा बहुत सा साहित्य प्राप्त खड़ी बोली की हुआ है जा काफी पुराना है (यहां तक कि उममें से कुछ प्राचीनतम सामग्री रचनाएँ तरहकी चौदहवीं सदी ईस्वी की हैं) और जिससे खड़ी बोली का प्राचानतम रूप पर प्रकाश पड़ता है । तेरहवीं-चौदहवीं सदी में दक्षिण में जाकर उत्तर की जिस बोली में साहित्य रचा गया, उस बोली को परवर्ती युग की अपभ्रंश अथवा अवहट्ट ही समझना चाहिये । रचना करने वालों ने उस बोली को चाहे जा बोली या भाषा ही कहा हो, लेकिन उसे परवर्ती अपभ्रंश समझने में कठिनाई नहीं होना चाहिए । फारसी के पदितों से यहाँ की लोक बोली के लिए अपभ्रंश सज्ञा का उम्मीद नहीं की जा सकती है क्योंकि उनक लिए यह अपभ्रंश न था, ‘अपभ्रंश’ ता था वह संस्कृत के पदितों के लिए । जो हा, यदि अरबी-फारसी शब्दों से मिथित ‘कीर्तिलता’ जैसी पुस्तकों की भाषा व्याकरण के कारण अवहट्ट कहा जा सकती हैं, तो तथाकथित ‘दक्षिणी हिंदी’ को मा अवहट्ट क्यों न कहा जाय । डा० मौलवी अब्दुलहक ने उद्घु का इन्तिदाई नशी घ नुमा म सूफियाय कराम का काम’ नामक पुस्तक में खड़ी बोली के आरम्भ का विस्तृत वर्णन किया है । उसमें उन्होंने शेख फरादुद्दीन शकरगजा (११७५-१२६५ ई) का कुछ कलाम उद्धृत किया है । उनमें से एक यह है—

तन घोने से जो दिल होता पूर ।
 पेगल बसकिया के होते गुरू ॥
 रोश सबलत से गर बडे होत ।
 योक्डवा से न कोई बडे होत ॥
 छाक सान से गर खुरा पाए ।
 माय बैला भी बासला हों जाए ॥
 गोश गौरी में गर खुदा मिलता ।
 गोग घोरा कोई न पासिल था ॥
 इक का रमूज न्यारा है ।
 नुज मदर पीर के न बारा है ॥^१

१ डा० बाबुराम सक्सेना दक्षिणी हिंदी प० ३१ पर उद्धृत १९५२ ई०

इस तरह की और भी पवित्रता उद्भूत भाषा और साहित्य के इतिहासकारों ने इतिहास के आदि काल में उद्भूत की है। उन विवरणों से पता चलता है कि खलिनी व पहले संस्कार ख्वाजा बंदानबाज़ मेसूदराज मुहम्मद हुसेनी (१३१८-१४२२ ई०) हैं और उनकी रचनाओं में भाषा की दृष्टि से 'मीरातुल आरफ़ीन, काफी महत्वपूर्ण है। यह उन्नीस पंक्तियों का अरबी फारसी मिश्रित हिंदी गद्य है। इसकी जा प्राचीनतम प्रति प्राप्त हुई है यह भी १५०० ई० लिखी हुई है इसलिए इस १५ वीं सदी की बाली की प्रामाणिक सामग्री माना जा सकता है। इसके कुछ नमूने निम्नलिखित हैं -

१ इंसान के पूजने के पाँच तन, हर एक तन का पाँच दरवाज हैं, हर पाँच दरवान हैं, पैसा तन याजिब उल-बजूद मुकाम इसका शैतानी, नफस इसका अम्मारह यानी घाजिब उल-बजूद की आंग सौ शेर न देखना सा। हिस क कान सौ शेर न मुनना सौ, इसद तरु सौ बदबाइ न लेना सा, गज की जवान सौ पद गोइ न करना सौ पीर तचायत कामुज हाना नग्ज पहचान दवा लेना।^१

२ इसमें आपक देखिया सा खालिक में ते खालिक की इजहार किया।

३ मुहम्मद हमें जो बिरलाए त्यो तुम्हें देला।

४ छ भाई मुनो ज कोई दूध पीवेगा सो तुम्हारी पैरवी करेगा शरियत पर बयम अछेगा। पानी पायगा सो विश्वास के करया में डूवेगा।

५ अबगदल हजरत वू बाले पे मुहम्मद दुरस्त।

६ ये तीनों भाइ हर एक मोमिन के तन में है।

७ हदीथ व नबी करमाय है।

८ इसका माना न देख सकेंगे अपने अलियाँ सँ मगर देखग मर अलियाँ सँ श्री सूरत साहब की।^२

इसी तरह अमीर खुसरो (१२५३-१३२५ ई०) की रचनाओं से भी उमरती हुई खड़ी बोली के नमूने लिए जा सकते हैं। जहाँ तक खुसरो की पैदलियों का संबंध है, उनका भाषा की माय लोग आधुनिकता के रंग-रंगी मानते हैं। लेकिन खुसरो का 'खालिक बारी', जो एक पद्य-शब्द कोश है और फारसी शब्दों को समझाने के लिए लिखा गया है, कुछ निश्चयनीय माना जा सकता है। 'खालिक बारी' की भाषा-आवरण की दृष्टि से आरंभिक रचनी बाली ही है। कुछ वाक्यों से इस कथन की सच्चाई देखी जा सकती है—

१ हामि हसन जगदी दास्ताने तारीखें उद्दू

२ डा रामकुमार बनी हिंदी साहित्य का भावोचनारमक इतिहास द्वितीय

- १ इत्तम असद सुद का नूर ।
- २ दोश कल्ह रात जो गई । वो राव आन रात जो भई ॥
- ३ तर श्रवणप्रतम में तुम्ह कहा । कजा वमा मुजो तू कत रखा ॥
- ४ अम्य मारान हिंदवी घोड़ा चलाव ।
- ५ खाक धूल जो बाद उड़ानी ।
- ६ दरिया बहर ममुन्दर कहिए जाकी नाही याह ।
- ७ चाँद घटा रात का ताजा जवान ॥
- ८ हुइ जिदह् जानियो तुम जीवता ।
- ९ वेदार बरौ कि जागता है । हम खपतह बरौ कि सोयता है ।
- १० शरम लान पोशीदन ढाँकना । कार है फान खवास्तन भोगना ।
- ११ है जनूद दखिन का ओर । हम शुमाल उतर का छोर ॥
तथाकथित 'दखिनी हिंदी' के इन नमूनों को देखते हुए उसकी व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं का भी उल्लेख आवश्यक है ।^१
- १ समाकारकों में बहुवचन में प्रायः अकारान्त शब्दों के विकारी रूप अर्थात्—कारान्त होते हैं तथा इकारान्त-ईकारान्त सञ्जाएँ—याँ कारान्त हो जाती हैं जैसे—
बार्ता के बन्दी, दोस्ती में बोसे हैं औरताँ खातिर ।
अपनिर्वा एनिर्वा मुरतियाँ, संक्षिप्याँ सौ सीपियाँ सर्मा ।
- २ कर्तृवाचक परसग 'ने' का प्रचलन हो गया था लेकिन आधुनिक खड़ी बोली का मूर्ति निश्चित न था कि मूलकालिक सक्रमक क्रिया के कृत्ता के साथ 'ने' का प्रयोग होगा और अक्रमक के कृत्ता के साथ न होगा । जैसे—
'दास्ताँ ने बोले हैं' और 'बादशाह शराब पिया' ।
इस तरह कतरि और कमणि बानों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं ।
- ३ कमवाचक परसग 'का' मिलता अवश्य है, लेकिन अधिकारत उसका सानुनातिक रूप—कों ही प्रचलित था जैसे किसी कों नें मिले ।
- ४ फरण असादान वाचक परसगों में, से, सों ते, सेती आदि कधीच 'से' के प्रयोग की श्रा उन्मुन्वता तो दिन्वाइ पङ्ती हैं परन्तु 'से' की अपन्ना 'सों' की अधिकता है जैसे सब सों, जिस सों ।
- ५ सम्प्रदान क लिए तई ऽतण का हा प्रयोग प्रायः मिलता है जैसे—'समुदर क तद' लेकिन एक नया परसग 'खातिर' मा लोक व्यवहार में आ गया था जैन—अगना खातिर को ।

१ दखिनी हिंदी में व्याकरण की दृष्टिसे अपिकारत बा० सञ्चना की 'दखिनी हिंदी' पर आधारित है ।

६ संयंघ कारक के परसर्ग 'का' की अपेक्षा श्रवणी वाले 'केरा', 'केरी', 'केरे' रूप अधिक प्रचलित थे जैसे—

मोहम्मत केरा मय जो पीता अहे ।

अजय तरे कुदरत करे काम हैं ।

वैसे 'उनन के मोहया' जैसे रूप भी यत्र तत्र मिलते हैं ।

७ अधिकरण का परसर्ग 'में' स्थिर हो चुका था जैसे इन दोनों में ।

८ सामान्य घतमान काल की क्रिया में शतृ वाले वृद्धन्त-तद्भव रूप रू प्रचलित हो गए थे जैसे होता, होती, होते आदि । लेकिन केवल—त वाले प्राचान् अवशेष भी रह गए थे जैसे—देखत, आवत ।

९ भूतकालिक क्रिया के रूप अपभ्रंश के निष्ठा वाले रूपों के ही विकसित रूप थे, जैसे—दोड़ाए, पैदा किया, नेकी की, फूल किए हैं आदि । लेकिन कया, सखा, जान्या, बोल्या जैसे रूप भी मिलते हैं । साथ ही ध्यान देने योग्य बात यह है कि कम वाच्य में भूतकालिक क्रिया को कम के लिंग-वचन के अनुरूप बदलने की प्रवृत्ति तब तक स्थिर नहीं हुई थी जैसे

इस छिनाल ने मुझे मारी ।

जिसे खुदा दिया सफाई उसे आई ।

काम बहुत साध किया हूँ ।

१० भविष्यत् काल की क्रिया के रूप—गा,—गी अन्त वाले होने लगे थे जैसे—दिललाएगा, जाएगा, सकेगा ।

यद्यपि—स वाले प्राचीन अवशेष भी रह गए थे जैसे—जासी, आसी (जा मारवाही में अब भी होते हैं)

११ पूर्वकालिक क्रिया के रूप—स्यप् + कर वाले अधिक मिलते हैं, जैसे—आय कर, होय कर ।

तात्पर्य यह कि आकर, होकर जैसे आधुनिक रूप प्रचलन में नहीं आए थे । इसी तरह कर + कर = कर के जैसे रूप का भी प्रचलन उतना नहीं हुआ था प्रायः 'तसलीम कर-कर' जैसे रूप ही अधिक मिलते हैं ।

१२ सहायक क्रियाओं में है, हैं, हो, हूँ, या, थे, थी, होगा, हाने, होंगे, होंगी, हानी रूप प्रचलित तो हो चुके थे लेकिन इनके साथ ही अछ, अह, अय क प्राचीन अवशेष और 'हैगी', 'हैगा' जैसे रूप भी मिलते हैं ।

१३ प्रेरणायक क्रिया में यदि एक ओर 'दिखलाता' जैसे आधुनिक रूप मिलते हैं तो दूसरी ओर 'दखवाता' जैसे प्राचीन रूप भी दिखाई पड़ते हैं ।

१४ $\sqrt{व}$ गतु के साथ संयुक्त क्रिया बनाते समय जहाँ आज कल पूर्वकालिक

क्रिया का रूप इस्तेमाल किया जाता है, यहाँ उस समय क्रियायक मज्ञा के प्रयोग की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जैसे—‘कर सके की जगह ‘करनेसक’ ।

इस प्रकार तथाकथित ‘दक्खिनी हिंदी’ को माया सवधी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि उसमें अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली तथा राजस्थानी, पंजाबी आदि दूसरी अनेक बोलियों का मिश्रण है। नि सन्देह उस भाषा की प्रवृत्ति मुख्यत खड़ी बोली की ओर उन्मुख है लेकिन उससे खड़ा बोली का आरम्भिक अस्थिर तथा अयवस्थित रूप का ही पता चलता है। हिंदी की यह स्थिति लगभग सोलहवीं सदी ईस्वी के आस पास की है।

इस तरह परवर्ती अपभ्रंश में अलग अलग हिंदी की विविध बोलियों के बीज का दिग्दर्शन कर चुकने के बाद सामान्य रूप से अपभ्रंश और हिंदी का संबंध पर विचार किया जा सकता है।



अपभ्रंश से हिंदी का उद्भव और विकास

कारक विभक्ति

१. निर्विभक्तिक शब्द मात्र—अपभ्रंश से लेकर आधुनिक हिंदी तक अनेक कारकों में परसर्ग-रहित अपभ्रंश परसर्ग-रहित निर्विभक्तिक शब्द मात्र का प्रयोग होता आ रहा है।

कता कारक, एक वचन

कहुउ मग्गण एहु । (हेम०)
अहिर गोरू याग मेलथ । (उक्ति०)
बहुदि राम मायहि सिब नाथा (मानस)
छात्र पढ़ता है । (ख० बा०)

कत्ता कारक, बहु वचन

सुपुरिस कगुहे अगुहरिदि । (हेम०)
बहुत पूत भए । (उक्ति०)
मुनत निसाचर मारन धाए । (मानस)
छात्र पढ़ते हैं । (ख० बा०)

कम कारक, एक वचन

लेनि महब्यय सिबु लहरि । (हेम०)
केरट नाव घटाव । (उक्ति०)
अस विचारि गवनहु घर भाई (मानस)
वह घर जाता है । (ख० बा०)

कर्म कारक, बहु वचन

जा गुण गोवह अणखा । (हेम०)
बह्मण इ पर निवतेसु । (उक्ति०)
अम कहि धरन गह वैदेही । (मानस)
उसने अनेक नगर देते । (ख० बा०)

अधिकरण कारक एक वचन

महुजि घर सिद्धिया बदेइ । (हेम)

दुआर पदसति निहुइ । (उक्ति०)

बइ भाग उर आनइ जासु (मानस)

बैठ शिला की शातल छुँह (कामायनी)

इस प्रकार अन्य कारकों में भा निर्विमत्तिक पद मिलते हैं। परन्तु परिनिष्ठित अपभ्रंश में अन्य कारकों में इस ङग व निर्विमत्तिक पदों के प्रयोग कम दिखाई पड़ते हैं, निश्चय करण और अपादान कारकों में। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रवृत्ति पर्यती अपभ्रंश में अपचाकृत अधिक बढ़ गई थी और आधुनिक बानियों व उदय व साथ जब समा कारकों के लिए नये नये परसग आ गए तो निर्विमत्तिक पदों व प्रयोग करने का प्रवृत्ति और भा प्रबल हो उठी। हेम व्याकरण व उदाहरणों की तुलना में 'उक्ति व्यक्ति', 'वण रत्नाकर' और 'कर्तिलता में निर्विमत्तिक पद कहीं अधिक मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में परसर्ग व पूव निर्विमत्तिक पद प्रयोग व उदाहरण खोने हेरे ही मिल सकते हैं जब कि आधुनिक बोलियों में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। अपभ्रंश में तण, हुंत, केर, मत्कि व पूर्व कोइ न कोइ सविमत्तिक पद हा रहता है जैसे—

बहुतएहा वराय, तनु फरअ, तुहम्ह हान्तउ, नीवहि मन्के (हेम०)
इसके निरान पर्यती भाषा में—

गाँव हुंत घ्राष (उक्ति)

ओम्हा पास वादा ल । (उक्ति)

का किह (उक्ति)

मृत्यु समा कलकल करइते अछ । (वण०)

जनि अमृत सरोवर सना एक उदरि आनल (वण०)

जुआर सग (वग०)

मुग्धान व परमाने । (कर्ति०)

सेना मनु ।

”

मानिनि जावन मान सजा ।,,

हिंसि हिंसि दाम मे ,

परचान् अवधा, ब्रज और राजी बोली में इसके पुष्कल प्रयोग मिलते हैं। मन मई, उर माही, गुक, सन, मुग लमि, जल ते, तन का इत्यादि।

२—उ विभक्ति—उकार बहुला भाषा व रूप में अपभ्रंश प्रकिय है। सो ता

अपभ्रंश में क्वन्त-तद्भव क्रियाओं का रूप भा उकारान्त होते हैं लेकिन कारक विभक्ति का रूप में—उ का प्रयोग अपभ्रंश में प्रायः कत्ता और कम कारक का एक वचन में ही होता है जैसे—

सायक उपरि तगु धरइ । (हम०)

जइ भग्ना घरु एनु । ”

अन्य कारकां में—उ विभक्ति का प्रयोग अपभ्रंश में नहीं मिलता । हेमचंद्र का बाद 'उक्ति व्यक्ति' से हाती हुई यह प्रवृत्ति अवधा और व्रज भाषा तक अनाप गति से प्रचलित रहा ।

धमुँ फाज । कूठ गाल (उक्ति०)

उमजा हिय अति हरपु विसेला । (मानस)

आधमु देनि नयन जलु छाय । ”

स्यामु हरति दुति होइ (विदारी)

पापु (विहारी, २६६), उरामु (विहारी, ३१४)

परचात् आधुनिक खड़ी बोली में इस विभक्ति का लोप हो गया । सम्भवतः खड़ी बोली की अपभ्रंश में—उ विभक्ति आरम्भ से ही नहीं थी, क्योंकि तथाकथित 'दखिनी हिंदी' की रचनाओं में भी उकारान्त शब्दों नहीं मिलतीं । ऐसा प्रतीत होता है कि उकार की यह प्रवृत्ति कोसल में ही अधिक सुरक्षित रही । व्रजभाषा में भी सूर-सागर में इसका प्रयोग कम मिलते हैं, बिहारी आदि व्रजभाषा के परवर्ती कवियों में इसका जो प्रयोग दिखाई देता है, उसे अवधी का प्रभाव समझा सकता है । वरारनाकर में भी यह उकार प्रवृत्ति नहीं मिलती 'कीर्तिलता' में यह प्रवृत्ति मिलती तो है लेकिन कम और जो उदाहरण मिलते भी हैं उनमें अधिकांश कतवाचक और कमवाचक ही हैं जैसे—

तपहु पिआजु पिआजु पइ ।

जसु पत्थाये पुण्डु

कीर्तिलता में ही अन्यत्र कहीं कहीं सम्बंध कारक में भी—उ विभक्ति का प्रयोग मिलता है जैसे

बुहु भीतर, सेएहु सव, महामासु खडा ।

३ —हि, —हि' विभक्ति और उसके विविध रूपान्तर—

अपभ्रंश में यह करण और अधिकरण, बहुवचन की विभक्ति है ।

अतिहि ठाठ फेडइ । (करण) हेम०

अगहि अरु न मिलिउ ” ”

अगिहि गिहइ (अवि०) ”

कभी कभी अधिकरण, एक वचन में भी—हिं का प्रयोग हुआ है—

एकहि अस्त्रिहिं सावणु (हेम०)

इसा तरह—हिं विभक्ति का प्रयोग सामान्यतः हकारान्त शब्दों के अधिकरण एक वचन में होना है—

अदा बलया महिहिं गय (हेम०)

तकिन जैमा कि डा चैटजी ने लिखा है, आगे चलकर यह विभक्ति विविध कारकों के लिये ए मॉट अवन मेड अं शॉल-बक'हा गई।^१ अपन अधिकल रूप में भी करण और अधिकरण के अतिरिक्त कर्म, सम्प्रदान, अयादान आदि कारकों में इस्तेमाल का जाने लगी।

कर्मकारक —

भाचहि ताड । (उक्ति)

सत्रुहि मित्र कए । (कार्ति)

चाँटहि करै हस्ति सरि जोगू । (पद्मा)

सतरूपहि विलोकि कर नारे (मानस)

और सत्रहि कर जोरे । (सूर०)

सम्प्रदान कारक—

वरहि कन्या दे । (उक्ति०)

देस देस के वर मोहिं आवहि । (पद्मा)

तुमडि देत अति सुगम गासाई (मानस)

अयादान कारक—

घाघहि डर (उक्ति)

राजा गरबहि धालै नाही (पद्मा०)

सम्बन्ध कारक—

रायघरहि का पत्र खेत । (कीर्ति)

पद्मिहि तन खय पाँच (पद्मा)

अपर सुनहिं अरिमर्दन नामा (मानस)

करण कारक—

वेनहार मुल्लहिं वशिक भिक्कणु (कार्ति०)

बअहि तिनकहि मारि उड़ाइ । (पद्मा०)

लालहि हते कनर । (मानस)

अधिकरण कारक—

त्रिहाणहि आदितु र्ना । (उक्ति०)
 ताव जिहाहि विवाड् । (वग०)
 की ससारहि सार । (कर्ति०)
 ज्यो यिम्यहि प्रतिविच समाना । (कषार०)
 तेहि चदि देर फोह नहि साया । (पद्मा०)
 तेहि आध्रमहि मग्ग जय गयक (मानस)
 तहँहि जाहु जह भाए हो (मूर०)

यद्यपि—दि (हि) विभक्ति व उदाहरण सभी कारकों में मिलते हैं, तथापि गणना करने से पता चलता है कि अपभ्रंश में इसका प्रयोग जहाँ करण—अधिकरण में अधिक होता था वहाँ अबधी और व्रजभाषा में कम-सम्प्रदान व विशेष होने लगा ।

(क)—दि (—हि) विभक्ति का पहला रूपान्तर—इ और—ए व रूप मिलता है । ध्वनि-दुषलता व कारण—दि के 'ह' का लोप हो जाना स्वाभाविक प्रवृत्ति है । फलतः अपभ्रंश के अनुसार—दि का अवशिष्ट रूप—इ कहीं-कहीं करण कारक में भी कुछ दिनों तक प्रयुक्त होता रहा जैसे—

गुरु मुरि बिना न भाजसी ये दूया वरु राग । (गारख)

जाण डसी मुयङ्गि । (दाला०)

जिहि सरि मारी फालिह । (कवीर)

लेकिन अबधा में इसका प्रयोग प्रायः मूलकालिक सक्रमक क्रिया व करण-वाचक एक वचन के कृता व रूप में विगण मिलता है जैसे—

राजै कहा सत्त कहु सुआ । (पद्मा०)

सुअँ कहा हमहु अस भू । "

राजै लीह ऊवि कै साया । "

गहनै गदा चोह कै करा । "

गौरँ हसि महस सो कहा । "

इस तरह के प्रयोग तुलसी की अपभ्रंश जायसा में अधिक मिलते हैं, यह—ए अबधा—ए कहीं निरनुनासिक है और कहीं सानुनासिक । 'पद्मावन व गुरु' नी वाले संस्करण में एसे प्रयोग प्रायः निरनुनासिक है अब कि डा माता प्रसाद गुप्त वाले संस्करण में सानुनासिक हैं । उदा व इन रूपों में सबनाम के एसे प्रयोगों का भी प्रभावित किया है—

कई न जगत तस बेचा, कई न लान्ह तस माल । (पद्या०) में कई 'कहि (कहि) का ही रूपान्तर है ।

—इ,—ए,—ए विभक्ति का प्रयोग कता क अतिरिक्त कम-सम्प्रदान म मा मिलता ह ।

सन्धी एक तेहँ खेल न जाना । (पद्या०)

कन मागत यौभनेँ लाव नहीं । (मुद्यामा०)

अनुमानत कम-सम्प्रदान में जा इन्हें, उन्हें रूप चलते हैं वे 'इनहि' आर 'उनहि' क ही रूपांतर हैं और उनका—हि विभक्ति विकर—अई 7 एँ हो गई है ।

सम्भवत आधुनिक लवी हिदा का आकारान्त सहाओ क एकरान्त विकारा रूप इसा—हि के अवश्य हैं ।

लड़का का विकारी रूप लड़के, जा सभा कारकों में परसग के पूव इस्तमाल किया जाता है, वह अन्य किसा सन्तापप्रद ध्युत्यति क अभाव म इसा—हि क अवशिष्ट रूप से निर्मित माना जा सकता है ।

(ख) अनभ्रश क बाद 'उक्ति-वक्ति', 'वण रत्नाकर', 'कार्तिलता तथा पुराना अवधा और ब्रज में कहीं कहीं अधिकरण कारक में ओ—आँ विभक्ति का प्रयोग मिलता ह जिस डा० चैटर्जी न इसा—हि विभक्ति से सबद मानने का सुझाव दिया है ।^१

सेनँ आतर (उक्ति०)

तेहूँ करि सभाँ बहुतु गुणिया मए । (उक्ति)

पात्रँ देवित यमति । (वर्या०)

सेवाँ यहसल छुधि (वण०)

लाम जानि आएउँ एहि हाटौँ ।

मूर गँवाइ चलेउँ तेहे घाटौँ ॥ (पद्या)

अस प्रसु ह्यैँ अद्धत अविकारा । (मानस)

४—हि,—न्ह विभक्ति और ससके विविध रूपान्तर—

अनभ्रश में—हि,—न्ह तैसा फाइ विभक्ति नहीं मिलती । परन्तु अनभ्रश क बाद 'उक्ति व्यक्ति', 'वण रत्नाकर', 'कार्तिलता तथा अवधी और ब्रज भाषा क प्रयोग में इसका प्रयोग ग्यापक रूप से दिख्ता ह । विद्वानों का अनुमान है कि यह मिश्रित विभक्ति ह जा अनभ्रश का दो भिन्न विभक्तियों (करण कारक, बहुवचन की—हिँ—भि और सम्भ कारक, बहुवचन का—एँ आनाम्)

क सयोग से पनी है ।^१

लेकिन अपभ्रंश म सम्बन्ध कारक, बहुवचन की विभक्तियों में—ह—ह वाल रूप अधिक मिलत है । इनक अतिरिक्त—आण—आण विभक्ति वाल प्राकृत प्रभावित रूप भा यत्र तत्र दिखाई पड़ जात है लेकिन परिनिष्ठित अपभ्रंश म इनका प्रचलन बहुत कम था । इस तरह न ता अपभ्रंश में और न प्राकृत में हा सम्बन्ध कारक, बहुवचन में—ण जैसा कोई विभक्ति मिलता है । ऐसी दशा में—न्ह,—न्ह का प्रयुक्ति के लिए प्राकृत—आण और अपभ्रंश—हि क सयोग का हा सहारा लेना पड़ेगा, जा अथ किता उन्नायप्रद व्युत्पत्ति क अभाव में अब तक बहुमान्य है ।

—हि,—ह का प्रयोग सामान्यत कम, सम्प्रदान, करण, अधिकरण और सम्बन्ध कारकों म परसग-सहित और परसग-रहित दोनों स्थितियों म मिलता है अपादान कारक में प्राय इसका प्रयोग परसग के साथ विकारी रूप में ही दिखाई पड़ता है ।

कमकारक—

गुरु सीसन्ह ताह (उक्ति०)

गो धोल गमारहि छाह । (कीर्ति)

सरारन्हि त्यागि गति पैहहि सहा (मानस)

एक एफन्ह तनही । ”

सम्प्रदान—

जैव वाम्हणन्ह दानु देह । (उक्ति)

कासलपुर यामिह सुखदाता । (मानस)

नय विप्रन्ह फर दीह । ”

सम्बन्ध—

एँह माँक कवण तोर माह (उक्ति)

उरुका मुखहि क उद्योत (वरा)

अरिराअन्ह लच्छिअ छालि ल (कीर्ति)

अवलह उर भय भएउ विसेला । (मानस)

सुरसा नाम अहिन्ह कै गावा ”

अधिकरण—

त्रिकसे सरहि उहु कज । (मानस)

—न्ह—न्हि का प्रयोग जब करण कारक में होता है, तो प्राय भूतकालिक

कदन्त-तद्भव सक्रमक क्रियाओं के कत्ता क रूप में होता है ।

घायसहि कालाहल कर । (यण०)

भमरहि पद्म त्यजल ।

तव मन्तिन्ह क्रियउ परधान (कार्ति०)

उन यानन्ह अस का जा न मारा (पद्मा)

जात पवनमुत देवन्ह देवा (मानस)

यात अस लरिकन्हि कही

(क) आग चलकर अथवा और ब्रज में—“ह” का महाप्रायत्न लुप्त हो गया और वह केवल—न के रूप में अवशिष्ट रह गया।—ह 7—न का प्रवृत्ति का सूत्रपात यण-रनाकर क समय से ही हो गया था लेकिन प्रयोग की स्वल्पता देखकर ऐसा प्रतात होता है कि उस समय तक उस प्रवृत्ति का सूत्रपात हो हुआ था ।

पूरे ‘यण रत्नाकर’ में—न विभक्ति का केवल एक उदाहरण मिलता है । काँवन गिरि-काँ गृग मयूरन चरदतें अल्ल ।

अथवा और ब्रज म इस—न के दा रू आर भिन्ते हैं—नि और—नु ।

मिज निज मुखनि कही निज हानी (मानस)

सम्भा, इन नैननि ते घन हारे (सूर०)

पलनि प्रकटि घग्गानु वदि, नहि कपाल ठहरात । (विहारी)

अनियारे दीरघ दृगनि । (विहारी)

(ख) अत में—न्ह विभक्ति घिसते घिसते खड़ी वाली में आकर केवल—ओ क रूप में अवशिष्ट रह गई, जिससे सभी कारकों क बहुवचन में परसगों के पूव विकारी रूप निर्मित होते हैं जैसे आँखों का देखा, आँखों न देखा, आँखों से देखा, आँखों देखा, आँखों के लिए देखा, आँखों का देखा, आँखों में देखा और आँखों से गिरा ।

५ इनके अतिरिक्त अपभ्रंश की अन्य विभक्तियों का प्रयोग परवर्ती काल में बहुत कम हो गया और धारे धारे अथवा रूप और खड़ी बोली का उदय होते होते वे सबथा अप्रचलित हो गई । ‘कारति गर समुद्रहँ पारा’ जैम प्रयोग भावसी ने भी किए हैं ‘घरहँ जमाई लौं भन्था खरा पूस दिन मान’ जैसे प्रयोग विहारी के समय तक दिखाए पड़ते हैं जिनमें अपभ्रंश के सबध कारक, बहुवचन की विभक्ति—हँ अवशिष्ट है । इसी तरह पृथ्वीराज रासा में जादू कुन्तह अमग’ जैसे प्रयोग मिलते हैं जिनमें अपभ्रंश के सबध कारक

एकवचन की विभक्ति—इ सुरक्षित है। कारण स्पष्ट है। भाषा में एक बार जो ध्वनि-संबंधी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, फिर उसका पुनरुद्धार प्रायः नहीं होता, किन्तु व्याकरणिक प्रवृत्तियों व विषय में यह नियम लागू नहीं होता। प्राचीन विभक्ति, प्रत्यय अथवा परसग बहुत दिनों तक अवशिष्ट और सुरक्षित रहते हैं।

अस्तु, 'घरहँ जमार' और 'जादू जुलह' जैसे प्रयोग अपवाद ही मान जायगे।

इन अपवादों के अतिरिक्त अपभ्रंश का—हु,—हूँ,—हा आदि विभक्तियों या तो अप्रचलित हो गई, या लुप्त हो गई अथवा यह कहा जाय कि वे श्रवणी, ब्रज भाषा और खड़ी बोली के विकारी प्रत्ययों में समाविष्ट हो गई।

परसग

६ अपभ्रंश कारकों की विभक्तियों का अभ्यास करते समय कुछ ऐसे स्वतंत्र शब्द मिलते हैं जो सहा के साथ प्रत्यय की भाँति जुड़े नहीं होते, फिर भी वे कार्य करते हैं किसी कारक विभक्ति का ही। अपभ्रंश से पूर्व प्राकृतों में ऐसे विभक्ति याचक स्वतंत्र शब्दों की संख्या बहुत कम थी। इस प्रवृत्ति का और भी विश्लेषण करने से पता चलता है कि अपभ्रंश में सबसे अधिक जिस कारक में परसग की आवश्यकता अनुभव हुई वह सबंध कारक है। उसमें केरञ्ज केर, वग, का का इत्यादि का प्रयोग सबंध सूचित करने के लिए रूढ़ हुआ है। इसके बाद अत्रिकरण का स्थान है। उसमें भी मज्जे, मज्जु, मज्ज, माँम का खूब प्रयोग किया गया है। इन दोनों के बाद तीसरा नाम सम्प्रदान कारक लिया जा सकता है, जिसके लिए हेमचंद्र ने केहि, रमि, तण परसग परिलक्षित किए हैं। इन तीनों के अतिरिक्त हेमचंद्र ने अपादान कारक में हौँ-तउ परसग का उल्लेख किया है।

सामान्यतः अपभ्रंश में इतने ही परसगों का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

कुछ और ध्यान से देखने पर पता चलता है कि इन परसगों का प्रयोग सहा शब्दों के साथ अधिक हुआ है। यह तथ्य इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इससे परसगों के आधिमाय का कारण मालूम होता है। सहा शब्दों की अपेक्षा सर्वनामों में ध्वनि-परिवर्तन अव्ययिक दिखाई पड़ता है अतः सब नाम ता इतने घिस गए हैं कि उनके तत्सम रूप से उनका सबंध स्थापित करना कठिन हो गया है। इस घिसाई में सब नामों से संलग्न विभक्तियों का भी रूप-परिवर्तन स्वामाविक है। ऐसी वधा में, बहुत संभव है, क्षति-पूर्ति के लिए लोगों ने नए याचक शब्दों की आवश्यकता अनुभव की। हागी और फिर यथास्थान उनका उपयोग भी किया

हागा । अस्तु, विभक्ति चिह्नों की असमयता में ही परसगों का आगमन संभव है ।

इन परसगों में भा ध्वनि-परिवर्तन बहुत हुआ है । इसीलिए अनेक परसगों का व्युत्पत्ति सदेहास्यद बनी हुई है । इस विषय में ज्यूल्स ब्लाश का मत है कि परसगों में अत्यधिक ध्वनि-परिवर्तन होने का मुख्य कारण यह है कि सहायक शब्द के रूप में प्रयुक्त होने के कारण उन्हें प्रयत्न लाघव का शिकार अधिक होना पड़ता है । मुख्य शब्द भटक के साथ उच्चारित होता है तो उस स्वरपात का प्रभाव परिवर्तों परसग पर भी पड़ता है, फलतः यह परसग धारे धारे मुख्य शब्द का ही एक अक्षर (विलुप्त) बन जाता है । मैथिली परसग व इस नियम का ज्वलंत उदाहरण है । किस प्रकार अपभ्रंश का राम केर घिसते घिसते राम क हुआ और अत मे रामक हो गया ।

इसलिए अधिकार परसग सब नामों के साथ अभिन्न रूप में जुड़ कर उनका अंग हा गए लेकिन सहा शब्दों से उनकी वैसी अभिन्नता स्थापित न हो सकी । इसका एक ही कारण सम्भव हा सकता है । सर्वनाम प्रायः एकाक्षरिक (माना विलिखिक) हाते हैं इसलिए उनके साथ एक और अक्षर के रूप में परसग का जुड़ जाना स्वभाविक है । लेकिन सहा शब्दों के लिए यह बात नहीं कही जा सकती । अनेक सहा शब्द एकाधिक अक्षरों के हाते हैं, इसलिए उनके स्वरपात व प्रभाव में परसग प्रायः नहीं आते । वस्तुतः स्वरपात की दृष्टि से परसग बड़े सहा शब्दों से भिन्न ही रहते हैं ।

अब एक एक करके अपभ्रंश के इन परसगों का विकास देखना चाहिए ।

७ केरअ,—केर परसग तथा उसके विविध रूपान्तर —यह लिंग ध्वनन कारक से भी प्रभावित होता है ।

अमु केरअ हुंकारइएँ (हम०)

लाचन केरा बल्लहा । (कीर्ति०)

काहू केर विकाइ (पद्मा०)

परहित हानि लाभ जिह केर । (मानस)

यह 'केर' रामकेर जैसी व्यक्ति-याचक सहाश्रों में आज तक सुरक्षित है ।

(क) केर का पहला रूपान्तर है कर—हेमचंद्र के व्याकरण में 'कर'

परसग का फार उदाहरण नहीं मिलता ।

बणिएँ कर धणु धर । (उक्ति०)

ताहि करो पुत्र । (कीर्ति०)

पद्य करे आकारे । ”

फोड काहू फर नाहि निआना । (पद्मा०)

राम ते अधिक राम फर दासा । (मानस)

(ख) कै८ कइ८ फरि८ फर —

आस असवार घइ । (कीर्ति०)

सिर नवइ सब्ब कइ । ”

परै रकत कै आँसु । (पद्मा०)

पलुही नागमती कै यारी । ”

जेहि पर कृपा राम कै हाई (मानस)

(ग) क८ कर —

सुरतिन्हि क उत्कठा । (वर्ण०)

शक्ति क परीक्षा । (कीर्ति०)

धनपति उहै जहि क संसारु । (पद्मा०)

पितु आयमु सब धरम क टीका । (मानस)

इस क के लिए, यचन, कारक क अनुमार का, क, की तीन रूपान्तर हात हैं आधुनिक खड़ी बोली में केर, फर, कै और क रूप अपचलित हैं । इन सबक स्थान पर का, के की रूप हो चलते हैं ।

ब्रजभाषा में इसीके रूपान्तर कौ, का रूप अधिक प्रचलित रहे हैं ।

८ अधिकरण परसग—मज्जे और उसक रूपान्तर —

जामहिं विसमी कज्ज भइ जीवहिं मज्जे एइ (हेम०)

तेन्दु माँक का कालिदास माप किरात प्रभृति केतौ एक राति गए । (उक्ति०)

सुवराजन्हि माँक पवित्र । (कार्ति)

माँक मंदिर जनु लाग अकासा । (पद्मा०)

कूदि पड़ा तब सिधु म झारी । (मानस)

(क) माँह मँह —अपभ्रंश और पर्यती अपभ्रंश में इसके प्रयोग प्राय नहीं मिलते । पुराना अवधी और ब्रज में इसके अवशेष बहुत दिनों तक सुरक्षित रहे ।

सरग आइ धरती मँह छावा (पद्मा०)

राम प्रताप प्रकट एहि माँही । (मानस)

मन मँह तक करै कपि लागी । ,

यो जल माँह तेल की गागरि । (सुर०)

(ख) में, में —आगे चलकर ब्रजभाषा और खड़ी बोली में 'मँह' का 'ह'

लुप्त हो गया और इस तरह जो उद्धृत स्वर बचा, वह संभवतः य या इ भ्रुति में बदलकर फिर पूर्ववर्ती 'म' के 'अ' के साथ संयुक्त हो गया। इस प्रकार ब्रजभाषा में 'मै' और खड़ी बोली में 'मै' रूप प्रचलित हो गए।

हमको सपनेहूँ म सोच (सर०)

भिलमिल पट मे भिलमिली। (विहारी)

६ उप्परि, परि, पर —

सायक उप्परि तणु धरइ। (हेम०)

रह बरि चढिअउ।

आपुनि पौढ़ि अघर सेज्या पर (सर०)

हम पै कीप कुषावति (सर०)

१० सम्प्रदान परसग केहिँ और टसके रूपान्तर —

हउँ किँजउँ तउ केहिँ (हेम०)

पर केहँ, आपणु केहँ, पदमे किहँ (उक्ति०)

सम्भवतः अवधो के कम-सम्प्रदान का परसग—रहूँ अथवा कहँ इस केहिँ और केहँ का रूपान्तर है—

तिन्ह कहँ सुखस हास रस एहू। (मानस)

पहुँचि न सके सरग कहँ गए (पद्मा०)

विद्वानों ने प्रायः कहँ का सम्बन्ध संस्कृत के कल्पित रूप 'कल' से जोड़ा है लेकिन अभी तक इसका प्रयोग कहीं देखने में नहीं आया। कम और सम्प्रदान के परसग प्रायः परस्पर विनिर्मेय हैं, साथ ही अवध की दृष्टि से भी दोनों कारक एक दूसरे के अत्यधिक निकट हैं इसलिए अवधी कहँ का सम्बन्ध हेमचन्द्र के केहिँ से जोड़ना अधिक वैज्ञानिक प्रवात होता है।

(क) कौँ, कौँ, कू और का —

हम कौँ आदावे चपरिया हो चलै को बरिया। (फवार)

तस यह समुद दान्ह दुन मा कौँ। (पद्मा)

देवे कौँ कशु नाहि। (फवीर)

मेरा मन मुमिरै राम कू

११ तणु और उतरक रूपान्तर —अपभ्रंश में तणु का प्रयोग करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध तान कारकों में हुआ है जैसे—

करण केहिँ तयोण तहिँ तयोण (हेम०, ४।४२५)

महुँ तणुइ (परमात्म प्रकाश २।१२६)

सम्प्रदान :	बद्धतयाहो तयोण (हेम०, ४।३६६)
	विद्धतयाहो तयोण (पाहुड० ८८)
सम्बन्ध	अह भग्ना अम्हहँ तया (हेम० ४।३६९)
	इमु कुल तुह तणुते (हेम० ४।२६१)
	तमु तणुहँ (छात्रयधम्म २२०५)
	गय विडि तामु तणुह देहि (भवि० कथा ८।४)
	अन्तर रागह तणुह (अनारजुमार चरित)

अपभ्रंश के बाद इस परसर्ग के तन, तहँ, तें, तैं, ते और त्यो रूपान्तर दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें से तन और त्यो का प्रयोग और के अर्थ में होता है, तथा तहँ का प्रयोग सम्प्रदान में लिए के अर्थ में, और तें, तैं, ते का प्रयोग क्रमशः करण और अपादान में से के अर्थ में। इन सबके प्रयोग क्रमशः निम्नलिखित हैं—

तन	पिय तन चितहँ मीहँ करि पाँकी। (मानस)
	मोहिँ तन लाहँ दीन्हँ जय होरी। (तहँ के अर्थ में)—पद्मा०
	मोहिँ तन दीयेहिँ जय और भरता। (लिए के अर्थ में)—
त्यो	सबही त्यो समुहाति छिनु। (विहारी)
	चितै तुम त्यो हमरो मन मोहै। (कविता०)

तें, ते

	राम ते अधिक रामकर दासा। (मानस)
	जल समूह भरसत अखियन तें। (सूर०)

इन रूपान्तरों के अतिरिक्त तणु का ही एक रूपान्तर तैं भी हुआ था जो माम गोरेल और करार की रचनाओं में तें के अर्थ में मिलता है।

	नाद ही तैं पाइए। (गारुड)
	पाऊँ तैं पंगुल भया। (कवीर)
	कहाँ तैं आया।

१२ सम्प्रदान-परसर्ग लागि और उसके रूपान्तर — लागि का प्रयोग परिनिष्ठित अपभ्रंश में तो नहीं मिलता, लेकिन उसके बाद यण-रत्नाकर और कार्तिलता में इसका प्रयोग बहुतायत से मिलता है। आगे चलकर अक्षरी में भी यह प्रचलित दिखाई पड़ता है।

जनि एहि आलिंगए लागि एक कृष्ण चतुष्भुज भए गताह।
(यण०)

तेवरा लागि तीनु उभेन्निअ । (कीर्ति०)

को ओहि लागि हिवचल आभा । (पद्या)

छुन मुम्ब लागि जनम सत फोटी (मानस)

पर ब्रजभाषा और खड़ी बोली में लागि का प्रयोग नहीं हुआ। इसके स्थान पर खड़ी बोली में प्रायः लिए का प्रयोग मिलता है। निदानों के अनुसार लिए का सर्वत्र सस्वन के लग्न से है और यदि यह अनुमान सही है तो लग्न और लिए के बीच की कड़ी निश्चय ही लागि होनी चाहिए।

१३ अपादान परसग होन्तउ और उसके रूपान्तर — यह परसग समवत $\sqrt{मू}$ के शतृ वृद्धन्त रूप हान्त + स्वार्थिक प्रत्यय क७ अ७ उ से बना है जिसका मूल अर्थ है 'होते हुए'। अपभ्रंश में इसका प्रयोग अधिक नहीं मिलता। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में इसके तान उदाहरण दिए हैं—

तहाँ होन्तउ आगदो (हेम० ४। ५५)

तुम होन्तउ आगदो (हेम० ४।३७२)

तुम्ह होन्तउ आगदो (हेम० ४।३७३)

आग चलकर कार्तिलता में इसका रूपान्तर हुन्ते के रूप में हा गया।

दूर हुन्ते आआ वड वड राआ । (पृ ४६)

अनधी में यही हुन्ते हुँत हा गया और इसका प्रयोग अपादान के अनिनिस्त कण और सम्प्रदान में मा किया गया।

अपादान नन हुँत निरकि मुवे नहिं कालू (पद्या)

सास समुर मन मारि हुँति विनय करन कर नारि (मानस)

करण उन्ह हुँत देवे पाएउँ दरस गामार कर । (पद्या०)

सम्प्रदान तुम हुँत मडप गयउँ परदेसा । (मानस)

हुँत का संघ $\sqrt{मू}$ के वृद्धन्त रूप से हाने के कारण हिंदी बोलियों में इसका अर्थ भी रूप प्रचलित हा गए, जिनमें से कुछ ता—ह मूलक हैं और कुछ—भ मूलक नसे

बैठि तहाँ होइ लका ताका (पद्या०)

उपर भण सो पातुर नाचहिं (पद्या०)

मरत आइ आग भण लाइ । (मानस)

समवत ये दानों रूप $\sqrt{मू}$ के पूर्वकालिक रूप के तद्भव हैं। इनका प्रयोग केवल अक्षरा में हा दिखाई पड़ता है ब्रजभाषा और खड़ी बोली में ये हैं अप्रयुक्त।

१४ करण परसग सहँ और उसके रूपान्तर — इसका संघ संस्कृत सह स लघ

हिंदा के विकास के अपभ्रंश का योग

है। अपभ्रंश में करण कारक के लिए प्राय विभक्ति प्रत्यय का ही प्रयोग होता था, समयत उसके लिए किसी परसग को आवश्यकता बहुत बाद में अनुभव की गई। हमचंद्र के प्राकृत व्याकरण में करण कारक के लिए सहुँ का प्रयोग एक स्थान पर मिलता है—

जइ पवसन्ते सहुँ न गय (हेम० ४।४।१६)
दूजने सउँ खय काटु तूट । (३७।२३)
दिए सकरे सेउ साहु । (२१।३१)

(ख) 'वर्ण-रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' में इसके लिए सर्वो रूप मिलता है

मृत्यु सबो फलकल कररतेँ अछ । (वर्ण)
मानिनि जीवन मान सबो । (कार्ति०)

(ग) ब्रज और अथवी में सधि की प्रकिया से सर्वो का सौं।हा गया।
औ बिनती पंडितह सौं भजा । (पद्मा)
कर सौं पव पछुटावति । (वर)

(घ) अथवी में सहुँ ७ सउँ का एक और रूपान्तर सन भी मिलता है।
सो मो सन कहि जात न कैसे । (मानस)

(ङ) जिस प्रकार फहूँ के 'को' और 'जू' दो रूप मिलते हैं, उसी तरह सहुँ का भी 'छो' के अतिरिक्त कहीं-कहीं स रूप भी मिलता है।

(च) स्वर-परिवर्तन तथा निरनुनासिकता क द्वारा सा से से रूप भी बन गया जो कातिलता से ही मिलता चला आ रहा है। इसका प्रयोग करण और अयादान दोनों कारकों में होता है—

विपक्क केन मेन हेरि द्विदि हिदि दाम से । (कीर्ति)
निसान सद भेरि सग खोशि खुद तास से । (काति०)

१५. ब्रज तथा उड़ी बोली में एक कर्तृवाचक परसग ने है जा भूतकालिक सक्रमक क्रिया क कर्ता क साथ लगता है जैसे वाने कही उसने कही। विद्वानों ने इस न को संस्कृत की तृतीया, एकवचन की विभक्ति—एण से सम्बद्ध किया है लेकिन—एण से न तक क विकास की अन्य अवस्थाएँ प्राय उपलब्ध नहीं होतीं। परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी ने का कोई प्रारूप प्राप्त नहीं होता। मुझ्कार क तौर पर कातिलता के जो दे, जेन्ने अथवा जेने जैसे सवनाम रूपों की आर ध्यान आह्वय किया जा सफता है जैसे—

जेन्ने जाचक जन रनिअ ।
जेहे रिउँ वड्डिम भजिअ ।
जेहे तुलिअओ आखएडल ।
जेहे घवलिअ महिमएडल ।

लकिन ध्यान देने की बात यह है कि इस तरह के रूप एक तो सदा शब्दों के साथ बिल्कुल नहीं मिलते और सरनामों में भी कम ही मिलते हैं ।

१६ अपभ्रंश से आधुनिक खड़ी बोली तक के परसगों के विकास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली के अधिकांश परसगों के मूल आधार अपभ्रंश में ही हैं । इसके अतिरिक्त क्रमशः अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली की तीन अवस्थाओं से गुजरने पर एक ही परसग काफ़ी घिस घिसाकर परिमाजित हो गया । 'सहुँ' से 'से', 'कहुँ', से 'का', 'मह' से 'में', 'केरअ' से 'का' आदि क्रमशः परिमाजन के प्रमाण हैं । हय का विषय है कि परसगों के इन विविध रूपान्तरों का प्रायः समी अवस्थाओं के अवशेष हिंदी की किसी-न किसी बोली में मिल जाते हैं । प्रयाग की दृष्टि से जो तीसरा तथ्य सामने आता है वह यह है कि अपभ्रंश के बाद से कारक विभक्तियों की अपेक्षा परसगों का प्रयोग क्रमशः अवधी से परवर्ती ब्रज में और परवर्ती ब्रज से खड़ी बोली में घटता गया ।

सर्वनाम

१७ गुरु के अनुसार आधुनिक हिंदी में कुल मिलाकर ११ सरनाम हैं—मैं, तू, आप, यह, वह, सो, ना, कार्र, कुछ, कौन और क्या । प्रयाग के अनुसार इनके छः भेद किए जाते हैं—पुरुषवाचक, निजवाचक, निश्चयवाचक सम्बन्ध वाचक, प्रश्न वाचक और अनिश्चय वाचक । इन ११ सब नामों के कई विकारी रूप मा हात हैं । नाचे अपभ्रंश से लेकर आधुनिक हिंदी तक के उपयुक्त सभी सरनामों के अधिकारी, विकारी रूपों तथा उनके समकक्ष अन्य रूपों का "तिहास दिया जा रहा है ।

१८ हठ और हौं —उत्तम पुरुष, एकवचन, कृता कारक में अपभ्रंश में अधिकांशतः इसका प्रयोग मिलता है । आगे चलकर अवधी और ब्रजभाषा में भी इसका प्रचलन रहा परन्तु खड़ी बोली में इसका प्रयोग बाद हा गया ।
हठँ भिजउ तउ कहि । (हेम०)

१ कामता प्रसाद गुरु हिंदी व्याकरण (सशोधित संस्करण २०६ वि)

विशाल को हूँ मागिहूँ । (उक्ति २२।५), हूँ
(उक्ति० २१)

दवि एक कौतुक हूँ रहा । (पष्पा०)

जीवित विवाह न हो परी । (मानस)

हूँ ले आई हूँ । (सूर)

कमी-कमी हूँ का प्रयोग कर्मकारक में भी हुआ है—

हूँ इन बेची पीच ही । (विहारी)

१९ मडूँ और मैं —यह मूलतः करणकारक एकवचन का रूप है और इसे संस्कृत मया का रूपान्तर माना जाता है । अध्याय में इसका प्रयोग कम हुआ है परन्तु अथवा और ब्रज में हूँ क अन्वय ही इसका प्रचलन दिग्गद पड़ता है । आगे चलकर खड़ा वाली म कता क रूप में हूँ के स्थान पर केवल इसी का प्रयोग होने लगा । यह विकारी और अविकारी दोनों रूपों में हस्तेमाल किया जाता है—

ढाला मडूँ तुहूँ वारिया । (हम०)

को मैं भाजन मागव । (उक्ति०)

भाषाबद्ध करव मैं छोई । (मानस)

औरनि जानि मैं दीह । (सूर)

मैं सोया मैंने सपना ख्वा । (ख गो०)

अध्याय में मडूँ क साथ कई परमग नहीं लगता था, लेकिन खड़ी वाली में मूतकालिक कर्मक क्रिया के समी कताओं की भाँति मैं म भी ने परसर्ग लगाने लगा ।

२० हम और उसक अन्य रूप —अध्याय में मूल अथवा विकारी क्तिता रूप म हम दृष्टिगोचर नहीं जाता है । हूँ का बहुवचन अध्याय में अमूँ है । 'उक्ति प्यक्ति' में मी उत्तम पुरुष कताकारक, बहुवचन म अमूँ ही मिलता है । पलत विद्वानों ने अथवा, ब्रज और खड़ा वाला क 'हम' का सम्बन्ध प्राकृत के हमु से मोड़ा है । लेकिन हम के लिए अध्याय क अमूँ को उपस्था करके एक बग पीछे प्राकृत की ओर जाना वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता । अमूँ से हम बनना कठिन नहीं है । इसक पीछे या तो वर्य विषय की प्रवृत्ति है अथवा आदि म 'ह' का आगम हो गया है । इस तरह अमूँ > हमु > हम हा सजता है ।

अमूँ थाया रिउ बहुनु । (हम०)

हम जो कहा यह कपि नहि छोई । (मानस)

हम के पास बसत एक नगरी । (सूर०)

इसके अतिरिक्त हम से हमें, हमको, हमहि, हमारे आदि रूप बनते हैं जिनमें विभिन्न कारकों की विभक्तियाँ लगी हुई हैं।

२१ मो और मोहि —परिनिष्ठित अपभ्रंश में इनमें से कोई रूप नहीं मिलता, लेकिन अवहट्ट म मिलता है।

मोहि तोहि केबदात्रिष्टि । (उक्ति)

घरणि सुण रणि बल नाहि मो । (कार्ति०)

ते मोञ्चे मलजा निरूद्धि गए । (")

सो मो सन कहि जात न कैसे । (सानस)

सुनि मैया याक गुन मो सो । (सुर)

भून्हि मोहि लगावत घगरो । (")

खड़ा बोली म मो और मोहि में से किसी का प्रचलन न हा सका। मो मे को, मो, में, मै, पर तथा कर आदि परसग जाड़कर विभिन्न कारकों क अनुमार मोको, मोसां, मोपै, मोमें, मोर (=माश्रर<माकर) आदि रूप बनाए गए हैं। इनमें मोर का प्रयोग केवल अथधी तथा अन्य पूर्वी बोलियों तक ही सामित है, यद्यपि 'सूरसागर' म मो कहीं कहीं इसका प्रयाग मिलता है।

मोर जेम का करिह । (उक्ति०)

मोर वअन आकणणे करहु । (कार्ति०)

छोइ दोसु नहि मोर । (मानस)

जीवन धन मोर । (सुर०)

२२ मुज्ज् > मुम्क यह मूलत सम्प्रदान, एकवचन का रूप है जिसम त्रिविध कारकों की विभक्तियाँ उड़कर मुम्के, मुम्को, मुम्से, मुम्में, मुम्पर प्राप्ति रूप बनाता हैं।

सो प्रिय होइ न मुम्क । (हेम)

मअ कहन्ता मुम्कु जइ । (कीर्ति०)

मुम्क मैं रही न हू । (कवीर)

२३ उत्तम पुरुष, सष नाम क रूपों की तरह मध्यम पुरुष क भी रूप होते हैं। हूँ, मई, हम, मो, मज्ज् का ही तरह इसम भी तुहूँ, सेईँ, तुम या तुम्ह, तो और तुम्क आधारभूत रूप हात हैं। इनमें से प्रत्येक क प्रयाग का इतिहास निम्नलिखित है—

(क) तुहूँ > तुउँ > तूँ > तू

मई मणिय तुहूँ । (हेम)

तु करधि । (उक्ति०)

हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग

की तूँ मीत मन चित्त वसरु । (पद्मा०)
 तू माय के मूढ़ चढ़े फित मौड़ी (रसखान०)
 तू स्याई काको (सुर०)
 तू क्या कर रहा है ! (ख० बो०)
 नहीं बोली में तू रूप ही प्रचलित है ।
 (ख) तहँ > तैं —

मटु दिअउँ सईँ ताए । (हेम)
 अर एति बार तैं काइ किअ ताहा । (उक्ति०)
 अतिहि कृपण तैं है री । (सुर०)
 बाल चाल की खड़ी बाली में फमां फभी 'तैंने क्या किया' जैसे प्रथी
 सुना पड़ते हैं, अन्यथा साहित्यिक हिंदी में अब यह लुप्त है ।
 (ग) तुम्ह, तुम —

अपभ्रंश म तुम नहीं मिलता प्राय तुम्ह वाले ही रूप मिलते हैं ।
 तुम्हेहि अम्हेहि जं कियउ । (हेम०)

अहा पितरहा की तुम्ह तारिह (उक्ति०)
 तुम्हे सेबर सवराए । (कीर्ति०)

की तुम्ह हरि दासन मह कोई । (मानस)
 तुम ही बीच बुलान । (सुर)

खड़ी बाली में प्राय तुम का प्रयोग बहुवचन के अतिरिक्त एकवचन में
 भा होता है । जब तुम क बाद ने, को, से पर परसगों का प्रयोग होता है तो
 इसका रूप यपानत् रहता है, लेकिन कर्म, सम्प्रदान और संबध कारक में यह
 तुम्ह हो जाता है और तुम्हें, तुम्हारे तुम्हारे लिए आदि रूप बनते हैं ।

(घ) तउ 7 तो और सोहि —

तउ मूलतः संस्कृत सम्बन्धकारक य तव का रूपान्तर है—
 तउ गुण सम्भइ (हेम०)

आगे चलकर तउ तो हो गया और इसम अन्य कारकों की विभक्तियों
 का कर सोहि (कर्म०), तार (संबध) आदि रूप बनाए जाने लगे ।
 तोहि (उक्ति० २२।४)

अह सोहि मारह स पुनु काअर । (कावि०)
 ताहि मही कृपण में पारि । (सुर०)

की ताहि लागहि राम प्रिय (दाहा०)
 एह गांभ करण तोर मार । (उक्ति०)

पुन्यसिलोक गान तर तौर । (मानस०)

(८) तुम्ह 7 तुम्ह

तुम्ह मति । (हेम०)

तुम्ह दिअउ शिवदान । (कार्ति०)

यह बोलो म तुम्ह और तुम्हको का प्रयोग कम—सम्प्रदान में हाता है ।

२४ अन्य पुरुष सब नाम क लिए अपभ्रंश में ससृत्त स (तत्) बाल रूपों के अवशय ही अधिक चलत हैं । लेकिन आगे चलकर अवधा ब्रज और खड़ी बाला में दूरवर्ती निश्चयवाचक सब नाम यह क रूप अन्य पुरुष क लिए मा प्रचलित हा गए । अपभ्रंश में टाक-नीक यह का प्रयोग ता नहीं मिलता, लेकिन उसका प्रान्त ओइ दृष्टिगाचर हाता है । इमचन्द्र ने इसे अदम् का आदेश बतलाया है

वसे—

बहु पर ओइ । (हेम० ४।३६४),

कार्तिलता में भी—

ओ परमेसर हर किर सोहर (पु० ४)

ओ जिगापु ओ सधम्म, पुवोवति मुकतान ओ (पृ० ६)

इवरादिम साह पअान ओ (पृ० ६८)

कार्तिलता म ओ क साथ हा ओहु का भी प्रयोग मिलता है—

ओहु पास दरवार सएल महिमडल उण्परि । (पृ० ५०)

ओहु रात्रा दिअस्वण । (पृ० ६४)

ओहु सदए (पृ० ६४)

इस ओहु से यह का बनना कल्पि नही है ।

यह का प्रयोग कता कारक, एकयचन में हाता है इसक अन्य रूप वे, वस और उन ससृत्त तद्, यद् किम् क अपभ्रंश अवशयों से प्रभावित हाकर बनते हैं । अवधी, ब्रज और खड़ी बाला में इनके उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं ।

यह मयुरा कानर का काठरि (सर०)

ऊधा इम न हाहि व बनी (सर)

माजन करत गुण्टि पर उनरे (सर०)

ब्रजभाषा में उम वाले रूप नहीं मिलते । उसके स्थान पर वा बाल रूप प्रचलित हैं जैसे बान, बाफाँ, बाँनें बाहि आदि ।

यह बाल रूपों क साथ हा अवधी और ब्रज में बहुत दिनों तक अन्य पुरुष क लिए तद् बाल तामु तमु तिन, ते आदि रूप भी प्रचलित रहे, किन्तु धारे

धीरे यह अपभ्रंश ही गये ।

२) निज वाचक सब नाम अप्पण > आपन > अपना तथा उसके अन्य रूपों के प्रयोग अपभ्रंश से परम्पराया आज तक चला आ रहा है ।

इसे सर्वसम्मति से संस्कृत 'आमन्' का अपभ्रंश माना जाता है ।

पाठेन्ति ज हिञ्चट्ट अप्पणुँ (इम०)

निलज्ज, आपण वान । (उक्ति)

आपण पुनु हराव (उक्ति०)

तिष्ठ आपणे बाले न चलाइ । (उक्ति)

मैं अपनी दिशि किहू निहारा । (मानस)

अपनी चाँह आनि उकि पैठ्या (सू०)

अपधी और ब्रज में अप्पण का ही एक रूप आप हो जाता है ।

आपु विरति उपरोहित रूग । (मानस)

आप नाय तो सहिए । (सू०)

आगे चलकर खड़ी बोली में मध्यम पुरुष सर्वनाम के लिए आदराद्ये इस आप का प्रयोग होने लगा जैसे — आपका शुभनाम क्या है ? आप कहाँ जायगे ? आदि ।

२६ निष्कटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के लिए अपभ्रंश में दो प्रकार के रूप मिलते हैं—एह बाल रूप और आय बाले रूप ।

जैसे —

एह कुमारी एहो नव (इम०)

आयडें लाग्रहो लाग्रहइ (हेम०)

परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि परनिष्ठित अपभ्रंश में एह बाले रूपों का ही प्रचलन अधिक था । आगे चलकर अषडट्ट, अवधा, ब्रज और खड़ी बोली में इसी की परंपरा चला । एह के अन्य रूप यह, य, इस, और इन हैं ।

'उक्ति ध्यक्ति' में 'यह' का प्रयोग तो नहीं मिलता लेकिन इसके बहुवचन ए (= य) का प्रयोग अत्यधिक है । इसके अतिरिक्त 'एन्हू मौंफ' जैसे उदाहरणों से एन्हू > इह इन, विकारी रूप भी मिलते हैं ।

'कीर्तिलता' में ए (ये) के स्थान पर ई मिलता है, जो पूर्वी प्रदेशों की विशेषता है ।

इ यिचइ नाअर मन माहइ । (पृ० ४)

इसके अनिश्चित कीर्तिलता में एहू, एही और एहि रूप भी मिलते हैं—

राय चरित्त रमाल एहू (पृ० ८)

एहि दिएण उँद्वार ष (पृ १८)

जनि अथ पयन्त शिक्कमा एही कार्य कृत । (पृ० ५)

अवधी और ब्रज में इसका कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

एहि मईं खुगति नाम उद्वारा । (मानस)

मैं जा कहा यह कति नहि होइ । (मानस)

कचन मुग खोजन ये आए । (मानस)

सूर श्याम का चारा ष भित्त देखन का यह आर्य । (सूर०)

ये बतियाँ मुनि रानी । (सूर)

ए छवि छाफ नैन । (बिहारी)

२७ सप्तम वाचक सब नाम जो तथा इसके अन्य विकारी रूप अपभ्रंश से ज्यों के त्यों आगे तक चल आ रहे हैं ।

जो गुण गोवद अप्पणा । (हेम०)

जो मुमिरत विधि हाद । (मानस)

सूर श्याम का न जो माव । (सूर०)

जो लिम्बा जाता है यह पदा जाता है । (ख० बी०)

८ प्रश्न वाचक सब नाम के लिए अपभ्रंश में काइ और कषण दो रूप चलत थे (हम० ४।२६७) । इन दोनों में से काइ कालान्तर में अप्रचलित हो गया और कषण के रूपान्तर ही प्रचलित रहा । अवधा ब्रज और वज्जाला में इसका परिवर्तित रूप कौन चलना है ।

ताइ आर्य कषण घुण (हम०)

कषण ए द्याता (उक्ति०)

कारन कचन भरतु बन नाही । (मानस)

निशु न कौन देख का वासो । (सूर०)

कौन तुम हो बसत के दूत । (कामायनी)

१८. अनिश्चय वाचक सब नाम कोइ और कुइ या अपभ्रंश से यत्किंचित् रूपान्तर के साथ चल आ रहे हैं । कोइ' के साथ ही अवधा और ब्रज में कोउ, कोऊ या मिथवा है ।

कोइ देहु म मग्गहु कोइ । (हम०)

कोइ नहि हाद विचारक (कर्त्ति०)

मुनि आचरत्र करै जनि कोइ (मानस)

और सहाय न कोइ । (राम पचाध्याना)

कोउ राजा उद कोइ । (उक्ति०)

कोउ कहु कहा न काउ कहु पूछा । (मानस)
 कहुँ कोउ चल नहि मकत डराहि । (यूर०)
 कुछ बालए न जाय किछु धार । (कीर्ति०)
 काउ कहु कहा न काउ कहु पूछा । (मानस)
 अरिगत गति कहु कहत न थायै (यूर०)

सार्वनामिक विशेषण

२६ पुरुष वाचक और निज वाचक सब नामों के अतिरिक्त शेष सभी सर्वनाम यन्तुत विशेषण हैं लेकिन स्पष्टतः विशेषण से तभी प्रतीत होते हैं जब उनके साथ विशेष्य संज्ञा का भी प्रयोग कर दिया जाता है, जैसे यह लड़का, वह लड़की इत्यादि । फिर भी प्रायः यह, वह, जो, सा, कुछ, कोई आदि मूल सार्वनामिक विशेषणों का 'सार्वनामिक विशेषण' के भीतर ग्रहण करने की परंपरा नहीं है । उपर्युक्त मूल सार्वनामिक विशेषणों के साथ कुछ प्रत्यय लगाकर भी विशेषण बनाए जाते हैं, उन यागिक साथ नामिक विशेषणों का ही प्रायः इसके अन्तर्गत लिया जाता है । इनमें दो प्रत्यय—अइस और—एत्त मुख्य हैं । आधुनिक हिंदी में इनके रूप क्रमशः ऐसा, और एत्ता अथवा इनना जैसे होते हैं । इनके रूप विशेष्य संज्ञा के लिंग, वचन और कारक के अनुसार बदलते रहते हैं । उदाहरण स्वरूप ऐसा के सम्भावित रूप एसा। एसे हैं और इनना के इतनी, इतने तथा एत्ता व एत्ता, एत्ते आदि । इन सार्वनामिक विशेषणों के रूप अपभ्रंश से ही किंचित् रूपान्तर व साथ आधुनिक हिंदी तक चले आए हैं ।

३०—अइस > ऐस वाले रूप—

हेमचन्द्र (४१४०३) के अनुसार इसका जइसो, सइसो, फइसा और अइसो रूप हो सकते हैं । 'उच्चिम्यत्ति' में इसके—अस और—एम दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं—

को फस इहाँ (३२।१)

कैसे काह करत (२२।१)

अवधी में ये फस और कैसे दोनों रूप सुरक्षित रहे—

सो फासा सेइय फस न । (मानस)

सा मां सन कहि जात न कैसे (मानस)

राज में ऐसे और ऐसो वाले रूप ही अधिक मिलते हैं ।

कैसे चंगित किए हरि थयही (मूर०)

—अइस बाल प्रत्यय के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने (४।४०२)—एइउ वाले रूपों का भी उल्लेख किया है जैसे—

केइउ गगण एहु ।

लेकिन ये रूप स्वयं अपभ्रंश, साहित्य में भी कम मिलते हैं और समवत इसलिए परवर्ती शैलियों में इनका प्रचलन न हो सका ।

३ —एत्तिय वाले रूप —हेमचन्द्र (४।४०७) के अनुसार परिमाण्य वाचक और सख्यावाचक विशेषण 'इतना', 'उतना', 'जितना', 'तितना' के लिए —एवहु और—एत्तुल दो प्रत्ययअपभ्रंश में होते हैं । इनके रूप क्रमशः जेवहु, तेवहु और जेत्तुल, तेत्तुल होंगे । इन दोनों प्रकार के रूपों में अपभ्रंश के अधिक प्रचलित रूप जेत्तुल, तेत्तुल ही दिखाई पड़ते हैं । आगे चलकर परवर्ती अपभ्रंश में इनकी—उल स्वार्थिक प्रत्यय निकल गया और—एत्त वाले रूप चल पड़े । यही परपरा अबधी और ब्रज में भी चली, परंतु इसमें—उल की जगह—ना प्रत्यय जोड़ दी गयी ।

एतेँ कालेँ, एति वार (उक्ति०)

अमह एत्ता दुस्स सुनि किमि जिबिबह मुकु मापे । (कीर्ति०)

जान प्राति रस एमनेइ माहीं । (मानस)

अवभि गनत इक टरु मग जावत तथ एती नहीं भूली । (सूर०)

कथा, इवनी कहियो जाइ । (सूर०)

सख्यावाचक विशेषण

३३ पूणा क बोधक —हिंदी के प्रायः सभी पूणाङ्क बोधक सख्यावाचक विशेषण संस्कृत के उन्हां विशेषणों के रूपान्तर हैं । प्राकृत और अपभ्रंश की कतिपय ध्वनि-सम्यग्धी प्रवृत्तियों के कारण हिंदी पूणाङ्क सख्याओं के रूप बहुत पहले ही बन चुके थे अन्तर कथल इतना ही है कि प्राकृत अपभ्रंश के सख्यावाचक रूपों में जहाँ संयुक्त व्यंजनों और उद्धृत स्वरों की प्रधानता है, वहाँ हिंदी ने क्षतिपूर्क दीर्घाकरण, समीकरण, स्वर-संधि आदि निपटों के द्वारा उन्हें अपने उच्चारण के अनुबल बना लिया । उदाहरणस्वरूप—अपभ्रंश के चउदह और चौदह को हिंदी में चौदह बना लिया गया । नाचे अपभ्रंश और हिंदी की कुछ संख्याओं के रूप सुझाना के लिए दिये जा रहे हैं ।

अप०

हिंदी

एक-बास

एकइस, इकास

१ अपभ्रंश की संख्याओं के रूप का० सगारे के हि० प्रि० अप ५ ११४ से दिये गये हैं ।

षावीस	षाइस
अष्टावीस	अठ्ठाइस
चउतीस	चातीस
अष्टतीस	अइतीम
छयालीस	छियालीस
पण परणास	पचपन
छप्यण	छप्पन
सट्ठि	साठ
छावट्टि	छावठ
पैंच-सत्तर	पचहत्तर, पछत्तर
चठरासी	चौरासी
छण्णवइ	छानवे, छियानवे
णवणउयइ	निन्यानवे

सौ से ऊपर की सख्याएँ अपभ्रंश में संस्कृत के अनुकरण पर—उत्तर लगाकर बनायी जाती हैं जो अंग भी हिंदी में विकल्प से चलती हैं जैसे—

एककोत्तर सय = एकातर सै

अष्टोत्तर सय = अठोतर सै

कमी कमी इस क्रम का उलट भी दिया जाता है जैसे

चउदह सयइं छहुत्तरइ मुअइ गयह गयाइं । (प्रबंध चिन्तामणि)

चउयह-सय-छहुत्तर = चौदह सै छिहत्तर

आधुनिक हिंदी में प्रायः सौ के बाद की सख्याओं के ऐसे ही रूप प्रचलित हैं और बोलियों में एकोत्तर से जैसे रूप सुरक्षित हैं ।

३२ अपूर्णा के बोधक — अपभ्रंश में इसके अधिक रूप नहीं मिलते लेकिन जो मिलते हैं वे थोड़े से रूपान्तर के साथ हिंदी में भी चलते हैं जैसे

अद्द = आधा दियहद्द = डेढ़ अउह = अहुठ ।

३३ क्रमवाचक—

(क) प्रथम के लिए अपभ्रंश में पठम और पहिल दो रूप मिलते हैं। इन दोनों में पठम का प्रयोग अधिक दिखाई पड़ता है लेकिन हिंदी में पठम की जगह पहिल का ही प्रचलन हुआ। लिंग-वचन के अनुसार हिंदी में इसके पहला, पहली, पहले आदि रूप हा जाते हैं ।

(ख) द्वितीय के लिए अपभ्रंश में प्रायः विय रूप मिलता है कहीं कहीं दुइज भा दिखाई पड़ता है। इनमें विय याल रूप गुजराती में

आन भी सुरक्षित हैं, और दुइज्ज > दूज तिथियों का गणना मं तथा 'भैयादून' जैसे पद के नामों में हिंदी में भा दिखता है पढ़ता है। इसके अनिर्दिष्ट पुरानी हिंदी में दूजा दूजा, दूजे रूप बहुत दिना तक प्रचलित रहे।

(ग) तृताय के लिए अपभ्रंश म तइज्ज और साच रूप मिलता है—तखह तइज्जा भगि नवि (हेम०)

भज करेवा माणुसह तीचठ मग्गु न अथि (हेम०)

हिंदी में तिथि-गणना में तीन तथा क्रम गणना में तीन्ना (पुराना हिंदी) दृष्टिगोचर होता है।

(घ) दूना और ताजा की जगह आधुनिक हिंदा में—सर प्रत्यय वाले दूसरा और तीसरा जैसे रूप मिलते हैं। परिनिष्ठित अपभ्रंश में ये रूप तो नहीं मिलते लेकिन अवहट्ट में इनके प्रयोग दिखाई पड़ते हैं जैसे— जनि दोसरी अमरावती क अवतार मा। (कीर्ति०, पृ० २८) दाइए पनिअ दोखे माथे। (कार्ति०, पृ ६८) तेसरा लागि तानू उपक्खिअ (कार्ति , पृ ३४)

(ङ) चतुथ के लिए अपभ्रंश में चठट्ट आर चोत्यअ दा शब्द मिलते हैं इनमें से चोत्यअ > चौया हा हिंदा म प्रचलित हुआ।

३४ आवृत्तिवाचक—

हिंदी म पृथाकबोधक विशेषण के आगे 'गुना लगाकर आवृत्तिवाचक विशेषण बनाय जात है जैसे दुगुना, चौगुना आदि। इनमें से दुगुना मध्यग - ग - फ लाय हाने से दुडना > दूना हा जाता है। अपभ्रंश म दूना के लिए दोन और चौगुना के लिए चउग्गुण शब्द मिलते हैं—

जामिणि ज वयणिज्ज तुअ, त तिहुयणि णहु माइ।

डुक्खिहि हाइ चउग्गुणी, किअद सुहसगाइ ॥

—(सदेश रासक, १५६)

३५ समुदायवाचक—

किसा पूणाङ्गवाचक संख्या में—ओं लगाकर प्राय समुदाय का बोध कराया जाता है जैसे दोनों आदमी चले गये। इस तरह के प्रयोग अपभ्रंश में भी प्राप्त हान हैं—

दोएण थि अवसर निवडिअद तिण सम गणए विगिहु। (हेम०)

अथात् दानों ही अवसर आ पाने पर विशिष्ट वृत्त समान गिनता है।

तानुहु शनिक परात्ता जानलि (कार्ति०, १४)

षासी	षाईस
अष्टासी	अठाईस
चउतीस	चाँतीस
अष्टतीस	अड़तीस
छयालीस	छियालीस
पण पण्णास	पचपन
छप्पण	छपन
सट्ठि	साठ
छावट्ठि	छावठ
पँच-सत्तर	पचहत्तर, पड़त्तर
चउरासी	चौरासी
छण्णवइ	छानवे, छियानवे
खण्णउयइ	निन्यानवे

सी से ऊपर की सट्ठाएँ अपभ्रंश में संस्कृत के अनुकरण पर—उत्तर लगाकर बनाया जाती हैं जो अब भी हिंदी में विकल्प से चलती हैं जैसे—

एककात्तर सय = एकोत्तर सै

अष्टोत्तर सय = अठात्तर सै

कभी कभी इस क्रम का उलट भी दिया जाता है जैसे

चउदह सयई छहुत्तरइ मुंजई गयइ गयाई । (प्रथम चिन्तामणि)

चउदह-सय-छहुत्तर = चौदह सै छिहत्तर

आधुनिक हिंदी में प्रायः सौ के बाद का सट्ठाओं के ऐसे ही रूप प्रचलित हैं और बोलियों में एकोत्तर से जैसे रूप मुरजित हैं ।

३२ अपूर्णा के बोधक — अपभ्रंश में इसका अधिक रूप नहीं मिलते लेकिन जा मिलते हैं वे यादे से रूपान्तर के साथ हिंदा म भां चलते हैं जैसे

अद = आधा दियइद = छेद अउठ = अहुठ ।

३३ क्रमवाचक—

(क) प्रथम के लिए अपभ्रंश म पठम और पहिल का रूप मिलते हैं । इन दोनों म पठम का प्रयोग अधिक बिलाइ पड़ता है लेकिन हिंदी में पठम का जगह पहिल का ही प्रचलन हुआ । लिंग-वचन के अनुसार हिंदा म हमके पहला, पहली पहले आदि रूप हा जाते हैं ।

(ग) द्वितीय के लिए अपभ्रंश म प्रायः त्रिय रूप मिलता है कहीं कहीं दुइइ भां तिलाई पड़ता है । इनमें चिय वाला रूप गुजराती में

आज भा मुरच्छित हैं, और दुइज्ज > दून विधियों का गणना म तथा 'भैयादून' जैसे पर ष नामों में हिंदा में भा दिखाइ पड़ता है। इसक अनिश्चित पुराना हिंदा में दूना दूजा, दूजे रूप बहुत दिना तक प्रचलित रहे।

(ग) दूनाय क लिए अभ्रश में तइज्ज और तान रूप मिलता है—तयह तइज्जा भगि नवि (हेम०)

कत्र करेया माणुमह तानव मग्गु न अयि (हेम०)

हिंदा में नियि-गणना म तान तथा क्रम-गणना में ताना (पुराना हिंदा) दृष्टिगाचर हाता ह।

(घ) दूजा और ताना की जगह आधुनिक हिंदा में—मर प्रत्यय बाल दूसरा और तामरा तस रूप मिलत ह। परिनिष्ठित अभ्रश में य रूप ता नहीं मिलत लेकिन अथहट्ट में इनक प्रयोग दिखाइ पड़त हैं जैसे— जनि नेमरा अमराती क अबनार मा। (कार्ति० पृ० २८)
दाहाए पलिअ दोसरे माये। (कार्ति०, पृ० ६८)
तेमरा लागि तनू उपक्खिअ (कार्ति०, पृ ३४)

(ङ) चतुष क लिए अभ्रश में चउट्ट और चोत्थअ दा शब्द मिलत हैं इनम म चोत्थअ > चौया हा हिंदा म प्रचलित हुआ।

३४ आठुत्तिवाचक—

हिंदी म पूगाङ्कवाचक विरपण क आग 'गुना' लगाकर आठुत्तिवाचक विरपण बनाय जात हैं जैसे दुगुना चौगुना आदि। इनमें स दुगुना मरग— ग—क लाय हाने से दुग्ना > दूना हा जाता है। अभ्रश में दूना क लिए दोन और चौगुना क लिए चउग्गुण शब्द मिलत हैं—

गामिणि ज वपणिअ दुअ, त तिहुपरि राहु माद।

दुक्खिदि हाइ चउग्गुणी, मिअद मुइमगाइ ॥

—(सदश रासक, १५६)

३५ समुदायवाचक—

किन्ना पूगाङ्कवाचक सत्ता में—ओ लगाकर प्राय समुदाय का वाचक बनाया जाता है जैसे नेनों आदमी चल गये। इस तरह क प्रयोग अभ्रश में भा प्राप्त हान हैं—

दोएण वि अवर निवडिअद निण सम गणइ विमिहु। (हेम)

अयान् दानो हा अवर आ पन्न पर विधिइ वृत्त समान गिनता है।

वानुह शक्कि परात्ता जानलि (कार्ति०, १४)

क्रिया

३६ समा आधुनिक भारतीय ग्राम भाषाओं की तरह हिंदी को भा क्रियायें प्रायः तद्भव हैं। जा क्रियायें तत्सम प्रतीत भा होती हैं, वे यस्तुन किसी न किसा तद्भव क्रिया की सहायता से हा क्रिया का काम करने में समर्थ हाती हैं जैसे यह दर्शन करता ह वाक्य में क्रिया क लिए तत्सम सज्ञा 'दर्शन' का प्रयोग क्रिया गया है, लेकिन यह अपने आप दर्शाना नहीं सकती क्रिया का कार्य करने योग्य होने क लिए उसे हिंदी की तद्भव धातु 'कर' क तद्भव रूप की सहायता लना पड़ी है। इसी तथ्य का लक्ष्य म रंगत हुए प्रियसन^१ ने कहा है कि हिंदी म चा तत्सम शब्द हैं, वे हिंदी क अपने नहीं हैं, बल्कि पराये और उधार लिए हुए हैं क्योंकि वे भाषा की प्रकृत क अनुरूप व्याकरणिक परिवर्तन स्वाकार नहीं करत जैसे 'घाड़ा' जैसी तद्भव सज्ञा का विकृत रूप 'घाड़' हा जाता है, परंतु 'राजा' जैसी तत्सम सज्ञा का 'राजे' नहीं होता। इसीलिए हिंदी में अधिकांशतः सज्ञा, विशेषण, और अव्यय ही सच्चे अर्थों में तत्सम ह क्रियाएँ तत्सम नहीं हा सकतीं। यदि उनमें से कुछ की धातु किसी प्रकार तत्सम हो भी ता काल रचना वाक्य-परिवर्तन आदि क कारण वे तद्भव रूप धारण कर लेती हैं।

३७ तद्भव होने के कारण हिंदी की क्रियाओं का संस्कृत की संपूर्ण सपदा प्राकृत और अपभ्रंश क माध्यम से मिला है, इनमें भी विशेषतः अपभ्रंश के माध्यम से। संस्कृत से प्राकृत तक क्रिया की रूपावली म किस प्रकार क्रमशः हास होता गया और क्रिया रूपों की संख्या म कमा हाती गया इसे विद्वानों ने गणना करके सांग्रहण समझाया है।^२ प्रयाग, काल, दक्षिण आदि की संख्या में क्रमशः कमी होने के कारण संस्कृत म जिस धातु क रूप ५४० होते थे, पाली म लगभग २४ हा गए और प्राकृत म यह संख्या ७२ के आसपास पहुँच गयी। निरंतर रूप-क्षय होते रहने पर भी प्राकृत तक क्रियाएँ प्रायः संयोगात्मक थी प्राकृत में कुछ-एक कृन्तज क्रियाओं क बावजूद अधिकांशतः तिङन्त तद्भव रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। प्राकृत के बाद अपभ्रंश से क्रियाओं के इतिहास म एक नया अध्याय शुरू हुआ वे संहिति से व्यवहिति की आरंभ गति से उभरा हुआ है। धरे धरे इस दशा में इतनी प्रगति हुई कि हिंदी

१ धान २ माहन इंडो-मैयन वर्नाक्युमर्म (फरवरी १९३१ से दिसम्बर १९३३ ई तक) पृ ७

२ देखिए डा० धीरन्द्र वर्मा का हिंदी भाषा का इतिहास पृ० २८८ ९०

आदि आधुनिक भारतीय आयाभाषाओं के क्रिया-रूप अधिकारत व्यवहृत हा गये । काल-रचना प्रायः कृदन्त अथवा कृदन्त और सहायक क्रियाओं के तिङन्त-उद्भव रूपों क स्याग से हाने लगी सयुक्त काला और सयुक्त क्रियाओं की सख्या बढ गया । इससे क्रिया की रूपाधली में सरलता आयी । यद्यपि हिंदी में कालों की सख्या बढ गया अथात् सस्कृत में जहा फवल दस लकार होते थे, वहाँ हिंदी में लगभग पन्द्रह काल हा गये, तथापि रूप-रचना की दृष्टि से काइ उलभन नहीं बढी क्योंकि सहायक क्रियाओं की सख्या निश्चित है और उनके रूप भी स्थिर हैं इसी तरह क्रिया के शपश कृदन्त रूप भी लगभग स्थिर हैं क्योंकि उनम भा फवल भिग, वचन और पुरुष के अनुसार हा परिवतन हाता है ।

तानय यह है कि अपभ्रंश ने हिंदी क्रियाओं क निमाण में दुहरा योग दिया—धातु निमाण म और रूप रचना में ।

- ८ धातु—हिंदी धातुओं में सं अधिकार के रूप अपभ्रंश काल म ही प्रायः बन चुक थे । हानल^१ ने हिंदी धातुओं की ता सूची वर्गीकरण तथा व्युत्पत्ति के साथ दी है उससे हिंदी धातुओं में अपभ्रंश क योग दान पर अन्धा प्रकाश पड़ता है । यदि उस सूची म से अपभ्रंश धातुओं का अलगकार और फिर हमचन्द्र 'प्राकृत ाकरण' (४११—२५०) के धाल्वादेश के साथ अन्धी तरह उस मिलाकर व्युत्पत्ति की दृष्टि से अपभ्रंश धातुओं का वर्गीकरण किया जाय ता अनक महत्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते ह । प्राकृत धाल्वादेश^२ पर थोडा सा काय मियसन न भा किया है^३ जा अपभ्रंश काय होते हुए भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से उतना उपयोग नहीं है । यहा सत्तर म उन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा रहा है जिहों अपभ्रंश और हिंदी के उभयनिष्ठ धातुओं क निमाण म काय किया ।

- (क) समाय ध्वनि-परिवतन द्वारा निमित हान गले धातु जैसे ला ऽन्नाद्, चू ऽ श्रुत ताद् ऽनुट, दूट ऽनुट, पड ऽपद्, जुट ऽजुद्, चूम ऽशुम्, नहा ऽन्ना, ताक ऽतक, ह्य ऽहुद्, जल (जल) ऽजल् आदि ।
- (ग) विकरण विशिष्ट धातु—सस्कृत में एक रूप धातुओं का एकत्र कर उस गण (समूह) क प्रथम धातु क साथ आदि शब्द आकर उस गण का

१ बङ्गान एशियाटिक सोसायटी जनम जिल् ४६ सप्ट १ (१८८० ई०) प ३३८१

२ बङ्गाल एशियाटिक सोसायटी मन्वापस जिल् ८ संख्या २ (१६२४ ई०)

क्रिया

३६ सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तरह हिंदी की भा क्रियायें प्रायः तद्भव हैं। ना क्रियायें तत्सम प्रतीत भा होती हैं, वे यस्तुत किसी न किंसा तद्भव क्रिया की सहायता से ही क्रिया का काय करने में समर्थ होती हैं जैसे 'यह दर्शन करता है' वाक्य में क्रिया के लिए तत्सम सज्ञा 'दर्शन' का प्रयोग किया गया है, लेकिन यह अपने आप 'दर्शना' नहीं सकती क्रिया का काय करने योग्य होने के लिए उसे हिंदी की तद्भव धातु 'कर' के तद्भव रूप की सहायता लेना पड़ी है। इसी तथ्य का लक्ष्य में रगते हुए ग्रियसन ने कहा है कि हिंदी में ना तत्सम शब्द हैं वे हिंदी के अपने नहीं हैं, बल्कि पराय और उधार लिए हुए हैं क्योंकि वे भाषा की प्रकृति के अनुरूप व्याकरणिक परिवर्तन स्वाकार नहीं करते जैसे 'घोषा' जैसी तद्भव सज्ञा का विकृत रूप 'घाड़े' हो जाता है, परंतु 'राजा' जैसी तत्सम सज्ञा का 'राजे' नहीं होता। इसीलिए हिंदी में अधिकशत सज्ञा, विशेषण, और अव्यय ही उन्चे श्रेणों में तत्सम हैं क्रियाएँ तत्सम नहीं हो सकतीं। यदि उनमें से कुछ की धातु किसी प्रकार तत्सम हामी तो काल-रचना, वाच्य-परिवर्तन आदि के कारण वे तद्भव रूप धारण कर लेता हैं।

३७ तद्भव होने के कारण हिंदी की क्रियाओं को संस्कृत की संपूर्ण संपदा प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से मिली है, इनमें भी विशेषतः अपभ्रंश के माध्यम से। संस्कृत से प्राकृत तक क्रिया की रूपावली में किस प्रकार क्रमशः ह्रास होता गया और क्रिया-रूपों की संख्या में कमी होता गया इसे विद्वानों ने गणना करके सादाहरण समझाया है।^१ प्रयाग, काल, यचन आदि की संख्या में क्रमशः कमी होने के कारण संस्कृत में जिस धातु के रूप ५४० होते थे, पाली में लगभग २४ हो गए और प्राकृत में यह संख्या ७२ के आसपास पहुँच गया। निरन्तर रूप-क्षय होते रहने पर भी प्राकृत तक क्रियाएँ प्रायः सयोगात्मक थीं प्राकृत में कुछ एक शृङ्खलित क्रियाओं के बावजूद अधिकशत तिङन्त तद्भव रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। प्राकृत के बाद अपभ्रंश से क्रियाओं के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ वे सहित से व्यवहित की और तीव्र गति से उन्मुख हुए। धीरे धीरे इस दशा में इतनी प्रगति हुई कि हिंदी

१ ध्यान दे माहन इंडो प्रायन वर्नाइपुलस (फरवरी १९३१ से दिसम्बर १९३३ ई तक) § ७

२ दलिते डा० धीरेन्द्र वर्मा का हिंदी भाषा का इतिहास पृ २८८-९०

(च) सोपसर्गापद धातु —अपभ्रंश और हिंदी के अनेक धातु संस्कृत के सोपसर्ग (उपसर्ग + धातु से उत्पन्न) हैं । जैसे—आद०उप + विष्ट, उखाड०उत् + कृष्ट, बैठ०उप + विष्ट, पैठ०प्र + विष्ट आदि ।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी धातु हैं जिन्हें देशज कहा जा सकता है क्योंकि उनकी उत्पत्ति के लिए अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है । हेमचन्द्र के 'धात्वादेश' में से कुछ ऐसे ही आदेशों का उनके हिंदी रूपों के साथ यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

अच = ऐच (कृप्), अपपुण्य = अपन, उपन अभिड = मिड (सम् + गम्), उक्कुस = उकस (गम्) आगाह = उगाह (अच + गाह), आहाव = (बरखा का) ओहाव (आ + कम्), कोक्क = कूक, (वि + आ + क्), खिर = धिसने के अर्थ में (क्षर) घोट = घोट (पा), चक्क = चक (आ + स्वद्), चड = चढ़ (आ + रुह), छज्ज = छाज (राज्), छड्ड = छोड़ (मुच्), छिय = छू (सृष्ट्), छाल्ल = छोल छील (तद्), जिम = जीम (मुच्), भक्व = भँक्व (वि + लप्, सम् + तप्, निस् + श्वस्), भण्ट = भाँट (हिलाना) (भ्रम्), भूर = भूर (स्मृ), भौंस = भूस (क्षिप्), दक्क = दक (छाद्य्), दणोल = दँनार (गवेप्) दस = दौंस (वि + कृ), पजर = पजर (देखिए पृ० राधा) (कप्), पलोट = पलाट, (पल टट राधिका पायन) (परि + अस्), पार = पार (शक्) पुच्छ = पौछ (मृज्), विसर (विद्) सार (प्र + ह) सिह, एक देखे नौ सिहाय (सृह, फाद्) ।

काल-रचना

३६ व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिंदी के विविध कालों की क्रियाएँ अपभ्रंश के उन क्रियायुक्तों से विकसित हुई हैं जिनमें से (क) कुछ तो संस्कृत के तिङन्त रूपों के तद्भव हैं (ख) कुछ संस्कृत के कृदन्त रूपों के तद्भव हैं और (ग) शेष, इन तिङन्त-तद्भव और कृदन्त-तद्भव रूपों के सहाय हैं ।

अब इनमें से एक एक को लेकर विचार किया जा रहा है ।

तिङन्त-तद्भव

४० सहायक क्रिया—हिंदा में हैं, हैं, हूँ, हो तथा था, थे, थी, थी आदि जो सहायक क्रियाएँ हैं, वे संस्कृत के तिङन्त रूपों के अवशेष हैं और उन्हें वर्तमान रूप अपभ्रंश, अपधी, ब्रजभाषा आदि कई अवस्थाओं के माध्यम से प्राप्त हुआ है । इनका इतिहास निम्नलिखित है ।

नाम रग्न दिया गया था। इन गणों में से प्रत्येक के लिए कुछ निश्चित विकरण (मध्य प्रत्यय) हैं जो धातु में समाविष्ट होकर रूप-रचना करते हैं। इस तरह संस्कृत में धातु और विकरण दो मिला व्याकरणिक इकाइयाँ मानी जाती हैं। अपभ्रंश ने संस्कृत के विकरण युक्त धातु रूप को धातु स्वीकार कर लिया और आगे चलकर हिंदी में भाषा के धातु उसी रूप में स्वीकृत हुए जैसे—सुनलभु + नु, नाचलनृत + य, शूकलसुध + य, जानलशा + ना, रूँधलरुध् + न, सुमिरलस्मृ + थ्र, हरलह, करलकृ, धरलधृ, डरलड, गिरलग्र, आदि।

इनमें से अतिम शृकारान्त धातुओं में होनेवाले विकरण जनित परिवर्तन को प्रवृत्ति अपभ्रंश में अत्यंत व्यापक दिखाई पड़ती है। संस्कृत के प्राय सभी 'शृ' कारान्त धातु अपभ्रंश और हिंदी में 'र' कारान्त हो गये। इसमें अतिरिक्त 'इगुणध' (इ, उ, शृ, लृ कारान्त) धातुओं में स्वरान्तरण (वॉवेल प्रैशन्) अथवा गुण' के द्वारा इ उ का ममथ ए और ओ हा गया, जैसे चेतलचित् पोसलपुप, सोधलशुध्, जाडलडुड्, खादलक्षाद आदि।

(ग) गण-परिवर्तन से प्रभावित धातु —संस्कृत के दस गणों में भी 'भ्यादि' गण में सब से अधिक धातु थे और उसी गण के रूप प्रभावशाली दिखाई पड़ते थे। अपभ्रंश तक आते आते यह प्रभाव अत्यंत व्यापक और सक्रिय हो गया। जैसे—रा (राध) लरुद्, पावलआप् लेलला, देलदा आदि।

(घ) काल-परिवर्तन से अभिभूत धातु —कभी-कभी भविष्यत् काल के रूप को ही धातु का आधार बना लिया गया जैसे दृश् का लृट् लकार में द्रक्षति होता है परंतु अपभ्रंश और हिंदी की √देख 'द्रक्ष के आधार पर बनी √दृश से उसका कोई संबंध नहीं।

(ङ) कृदन्त युक्त धातु —अपभ्रंश और हिंदी के अनेक धातु संस्कृत के कृदन्त रूप (धातु + कृत् प्रत्यय) से बने हैं। ऐसे धातुओं की संख्या बहुत अधिक है जैसे—सुकलच्युत् + कृ, पैठलप्र + विश + त्त (प्रविष्ट), रुठलरुठ, ल हाँकलहक् + कृ, सटकलसत्त (सद् + कृ), लुकललुप् + कृ, भूललभ्रष्ट, भागलभग्न, मदलमृष्ट, वेदलवेष्ट, वैठलउपविष्ट, पाठलपिष्ट, फूँकलफूत् + कृ, पलतलपयस्त, पकड़लप्रकृष्ट, थकलस्तम्भ + कृ ठाढ़लस्तम्भ, जुटलजुत्त फाड़लकृष्ट आदि।
ऐसे धातुओं में से अधिकांश भूल कृदन्तज हैं।

(च) सोपसर्गापद धातु —अपभ्रंश और हिंदी के अनेक धातु संस्कृत के सोपसर्गज (उपसर्ग + धातु से उत्पन्न) हैं । जैसे—आइलउप + विष्ट, उखाडलउत् + कृष्ट, बैठलउप + विष्ट, पैठलप्र + विष्ट आदि ।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी धातु हैं जिन्हें देशज कहा जा सकता है क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति के लिए अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है । हेमचन्द्र के 'धात्वादेश' में से कुछ ऐसे ही आदेशों का उनके हिंदी रूपों के साथ यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

अच = ऐंच (कृप्), अपपुण्य = अपन, उपन अभिष्ट = भिष्ट (सम् + गम्), उक्कुस = उकस (गम्) आगाह = उगाह (अव + गाह), आहाय = (वरखा का) ओहाय (आ + म्), काक्क = कूक, (वि + धा + क्), खिर = घिसने के अर्थ में (चूर), घोट्ट = घोट (पा), चन्ख = चल (आ + स्वद्), चड = चढ़ (आ + रुह), छज्ज = छाज (राज्), छड्ड = छोड़ (मुच्), छिय = छू (स्पश्), छोल्ल = छोल छोल (तद्), जिम = जाम (युज्), भूव = भूव (वि + लप्, सम् + तप्, निस् + श्वस्), म्पट = मॉट (हिलाना) (भ्रम्), भूर = भूर (स्मृ), भौंस = भंस (चिप्), दक्क = दँक (छाद्य्), दणाल = दँदाल (गवेप्) दस = दौंस (वि + वृ), पज्जर = पजर (देखिए पृ० रासो) (क्य्), पलाट्ट = पलोट, (पलाट्ट राधिका पायन) (परि + अस्) पार = पार (शक्), पुन्ड = पोंड (मृज्), विमूर (लिद्) सार (प्र + ह) सिह, एक देखे नौ सिहाय (सृह, काद्) ।

काल-रचना

३९ व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिंदी के विविध कालों की क्रियाएँ अपभ्रंश के उन क्रियापदों से विकसित हुई हैं जिनमें से (क) कुछ तो संस्कृत के तिङन्त रूपों के तद्भव हैं (ए) कुछ संस्कृत के कृदन्त रूपों के तद्भव हैं और (ग) शेष, इन तिङन्त-तद्भव और कृदन्त-तद्भव रूपों के सयोग हैं ।

अब इनमें से एक एक को लेकर विचार किया जा रहा है ।

तिङन्त-तद्भव

४० सहायक क्रिया—हिंदी में है, हैं, हूँ, हो तथा था, थे, थी थी आदि जो सहायक क्रियाएँ हैं, वे संस्कृत के तिङन्त रूपों के अवशेष हैं और उन्हें वर्तमान रूप अपभ्रंश, अपधी, व्रजभाषा आदि कई अवस्थाओं के माध्यम से प्राप्त हुआ है । इनका इतिहास निम्नलिखित है ।

है तथा उसके अन्य रूप — विद्वानों ने है या सबध संस्कृत के ✓अस के वर्तमानकालिक रूप अस्ति से माना है। अनुमानत अस्ति और है के बीच की अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

अस्ति ७ असति ७ अछइ ७ अहइ ७ अहै ७ है ।

इनमें से अपभ्रंश में है, अहै और अहइ में से कोई भी रूप प्राप्त नहीं होता। इनके स्थान पर अच्छ अथवा अन्छ अवश्य मिलता है जैसे—

होसइ करत म अच्छि (हेम ४/३८८)

‘उत्ति व्यक्ति’, ‘यश रत्नाकर’ और ‘कीर्तिलता’ के क्रिया-पदों का अध्ययन करने से भी पता चलता है ‘अवदट्ट’ में भी अछ वाले रूपों की ही प्रधानता थी।

देखत आछ, चारत आछ, सँधत आछ (उत्ति०, ६)

होइते अछ (वर्ण०, १३ क) चरइते अछ (वण०)

आरम्भिक अवधि में भी कहीं-कहीं अछ वाले रूपों का प्रयोग प्रचलित प्रतीत होता है—

मलहि जा आछै पास । (पद्या०)

कँवल न आछै आपनि चारी । (पद्या)

कहा निधित रे मानुष आपन चीते आछु । (पद्या०)

परवर्ती अपभ्रंश में विकल्प से यत्र तत्र अह वाले रूप भी मिलते हैं जैसे—

करइते आह (वण०, ३७ ए, ५५ क)

अवधि और ब्रज में अह वाले रूप के भी अवशेष दिखाई पड़ते हैं—

माट अहै ईसर के फला (पद्या०)

एहि घाट ते घोरिक दूर अहै । (कवितावली)

वासों अहै अन-वया । (काव्य निखय, १६)

लेकिन अहै वाले रूप प्रधानत अवधि के ही हैं।

है का प्रयोग परवर्ती अवधि तथा ब्रज से ही मिलने लगता है।

है कछु कुटिल भाउ मन माहीं । (मानस)

आवत है दिन गारि । (घर०)

कीर्तिलता में भी एक स्थान पर है का प्रयोग मिलता है—

लिसियाय खाण है (पृ ४०)

(ख) या तथा उसके अन्य रूप — मूलकालिक सहायक क्रिया था का सबध कुछ लोग ✓अस् से और कुछ ✓भू — धमूत से मानते हैं। अभूत से था तरु पहुँचने में अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों का अनुमान किया जाता है।

अमृत > अहृत > हृत > हुतो = हो, तो, या (त + ह)

भाषा में 'ता क पूव' रूप की ये सभी अवस्थाएँ नहीं मिलतीं। ब्रजभाषा में हुतो हो (हा, हे) तो (ती, ते) आदि रूप मिलते हैं या वाले रूप अपभ्रंश से लेकर ब्रजभाषा तक कहीं नहीं मिलते।

एक हुतो सो गयो स्थाम संग । (सूर०)

पौन सा जागति आगि सुनी ही । (घनानन्द)

मैं हो जान्या लायननु सुरत बादि है जाति । (विहारा०)

चरनि गइ ती फरि चरनन लागी री । (पद्माकर)

या वाले रूपों का प्रयोग खड़ा बोला का अपना विशेषता मालूम होता है।

'दक्षिणी हिंदी' में ये रूप पहुँचायत से मिलते हैं—

अथे दा नने । रतन या अथे । अथ्या अथा, ध्या आदि^१ ।

(ग) होगा और उसका अन्य रूप—

अपभ्रंश में भविष्यत् काल बनाने वाला सहायक क्रिया होगा अथवा उसकी तरह का काद रूप नहीं मिलता। 'उक्ति व्यक्ति' 'बन्ध रनाकर आर 'कार्तिलता में उस तरह के रूप नहीं हैं। अबधी क प्रयोग में भा इसका प्रयोग नहीं हुआ है। एसा प्रतात हाता है कि यह पश्चिमा हिंदी में सालहवीं सदा के आसपास विकसित और प्रचलित हुआ। समवत आरम्भिक ब्रजभाषा में भा इसका प्रयोग नहीं हाता था। प्रथम साहच में उसका प्रारूप मिलता है—

ना को मरा किस गही ना का हात्रा न होग ।

तिस दिन दूसर हात्रा न होग ।

था कर पाया साइ होग ।

नित नित नाअज समालायन देखैगा दवणहार ।

काहु बाल न पहुचग प्राणी ।

मिना खान अरने 'ब्रजभाषा' शाकरण^२ (१६७६ ई०) में भविष्यत् के लिए गा वाले रूप करैगे, करौगे, कहूँगी, करैगी, करैगा आदि लक्षित किये हैं।

दक्षिणी हिंदी में भी हूँगा सकेगा, अछेगा जैसे प्रयोग मिलते हैं। गा वाले रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में सन्देह है। समवत सहायक क्रिया होगा तथा

१ डा सन्सेना द्वारा दक्षिणी हिंदी पृ ६१ पर उद्धृत।

२ त्रियाउहीन—मिर्जा खान स मर अब ब्रजभाषा (१६४६ ई०)

है तथा उसके अन्य रूप — निदानों ने है का संबध स्मृत के $\sqrt{\text{अस}}$ के वर्तमानकालिक रूप अस्ति से माना है। अनुमानत अस्ति और है के बीच की अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

अस्ति ७ असति ७ अछइ ७ अहइ ७ अहै ७ है।

इनमें से अपभ्रंश में है, अहै और अहइ में से कोई भी रूप प्राप्त नहीं होता।

इनके स्थान पर अच्छ अथवा अच्छ अवश्य मिलता है जैसे—

होसइ करत म अच्छि (हेम० ४/३८८)

‘उत्ति घ्यत्ति’, ‘वर्ण रत्नाकर’ और ‘कीर्तिलता’ के क्रिया-पदों का अध्ययन करने से भी पता चलता है ‘अवहट्ट’ में भी अछ वाले रूपों की ही प्रधानता थी।

दखत आछ, चारत आछ, सँघत आछ (उत्ति०, ६)

होइते अछ (वर्ण०, १३ क) चरइते अछ (वर्ण०)

आरमिक अवधी में भी कहीं-कहीं अछ वाले रूपों का प्रयोग प्रचलित प्रतीत होता है—

मलहि जा आछै पास। (पद्मा०)

कँवल न आछै आपनि चारी। (पद्मा०)

बहा निचित रे मानुप आपन चीते आछु। (पद्मा०)

परवर्ती अपभ्रंश में विकल्प से यत्र तत्र अह वाले रूप भी मिलते हैं जैसे—

करइते आह (वर्ण०, ३७ ए, ५५ क)

अवधी और ब्रज में अह वाले रूप के भी अवशेष दिखाई पड़ते हैं—

माट अहै ईसर कै कला (पद्मा०)

एहि घाट ते घोरिक दूर अहै। (कवितावली)

वामो अहै अन-वया। (काव्य निर्णय, १६)

लेकिन अहै वाले रूप प्रधानत अवधी के ही हैं।

है का प्रयोग परवर्ती अवधी तथा ब्रज से हा मिलने लगता है।

है कछु कुटिल भाउ मन माहीं। (मानस)

आवत है दिन गारि। (सुर०)

कीर्तिलता में भी एक स्थान पर है का प्रयोग मिलता है—

रिसियाय पाय है (पृ० ४)

(ख) या तथा उसके अन्य रूप — भूतकालिक सहायक क्रिया था का संबध कुछ लोग $\sqrt{\text{अस्}}$ से और कुछ $\sqrt{\text{भू}}$ — अभूत से मानते हैं। अभूत से था तक पहुँचने में अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों का अनुमान किया जाता है।

अभ्रत > अहृत > हृत > हुतो = हो, ता, या (त + इ)

भाषा में धा के पूर्व रूप की ये रुमा अवस्थाएँ नहीं मिलतीं। ब्रजभाषा में हुतो हो (हा, हे) तो (ती, ते) आदि रूप मिलते हैं धा वाले रूप अभ्रश से लेकर ब्रजभाषा तक कहीं नहीं मिलते।

एक हुतो सा गया त्याग संग । (सूर)

पौन सा जागति आगि मुना ही । (घनानन्द)

मैं हो जान्या लायननु सुरत बाढ़ि ह जाति । (विहारा०)

चरति गइ ती परि चरन लागी री । (पद्माकर)

धा वाले रूपों का प्रयोग खड़ी बोला का अपना विशेषता मालूम होता है। 'दक्षिणी हिंदी' में ये रूप बहुतायत से मिलते हैं—

अथे दा जन । रतन या अथे । अध्या अथा, प्या आदि^१ ।

(ग) होगा और उष्क अन्य रूप—

अभ्रश में भविष्यत् काल बनाने वाला सहायक क्रिया होगा अथवा उसका तरह का काइ रूप नहीं मिलता। 'उक्ति व्यक्ति' रूप बनाकर आर 'कारित्वता' में इस तरह के रूप नहीं हैं। अवधी के प्रयोग में भा इसका प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पश्चिमी हिंद में सालहवीं सदी के आसपास विकसित और प्रचलित हुआ। समस्त आरम्भिक ब्रजभाषा में भा इसका प्रयोग नहीं होता था। 'अथ सहाय' में इसका प्रारूप मिलता है—

ना का मरा किस गहा ना को हाआ न होग ।

तिस बिन दूसर हाआ न होग ।

जा कर पाया साइ होग ।

नित नित जाअउ सनालीअन दुखैगा उवणहार ।

काहु बान न पहुचग प्रानी ।

मिजा गी ने अरने 'ब्रजभाषा' याकरग^२ (१६७ ई०) में भविष्यत् के लिए गा वाले रूप करैगे, करौगे, करूँगा, करैगो करैगा आदि लक्षित किये हैं।

दक्षिणी हिंदी में भी हूँगा मवेगा अछेगा जैसे प्रयोग मिलते हैं। गा वाले रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में सन्देह है। समस्त सहायक क्रिया होगा तथा

१ हा० सभना द्वारा दक्षिणी हिंदी प ६१ पर उद्धृत ।

२ त्रिपाठदीन—मिर्जा खान स प्रथम प्रथम ब्रजभाषा (१६४ ई०)

है तथा उसके अन्य रूप — विद्वानों ने है का सर्वथ स्मृत व $\sqrt{\text{अस}}$ के वर्तमानकालिक रूप अस्ति से माना है। अनुमानत अस्ति और है के बीच की अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

अस्ति ७ असति ७ अछइ ७ अहइ ७ अहे ७ हे ।

इनमें से अपभ्रंश में है, अहे और अहइ में से कोई भी रूप प्राप्त नहीं होता। इनके स्थान पर अच्छ अथवा अन्छ अवश्य मिलता है जैसे—

होसइ करत म अच्छि (हेम० ४/३८८)

‘उत्ति व्यक्ति’, ‘वर्ण रत्नाकर’ और ‘कीर्तिलता’ व क्रिया-पदों का अध्ययन करने से भी पता चलता है ‘अयहइ’ में भी अछ वाले रूपों की ही प्रधानता थी।

देपत आछ, चाखत आछ, सूँधत आछ (उत्ति०, ६)

होइत अछ (वर्ण०, १३ क) चरइते अछ (वर्ण०)

आरंभिक अवधि में भी कहीं-कहीं अछ वाले रूपों का प्रयोग प्रचलित प्रतीत होता है—

मलाहि जा आइ पास । (पद्मा०)

कँवल न आछै आपनि बारी । (पद्मा०)

कहा निचित रे मानुष आपन चीते आछु । (पद्मा०)

परवर्ती अपभ्रंश में विकल्प से यत्र तत्र अह वाले रूप भी मिलते हैं जैसे—

करइते आह (यण०, ३७ ख, ५५ क)

अवधी और ब्रज में अह वाले रूप के भी अवशेष दिखाई पड़ते हैं—

माट अहै ईसर कै कला (पद्मा०)

एहि घाट ते धोरिक दूर अहै । (कवितावली)

यासों अहै अनवया । (काव्य निणय, १६)

लेकिन अहै वाले रूप प्रधानत अवधी के ही हैं।

है का प्रयोग परवर्ती अवधी तथा ब्रज से भी मिलने लगता है।

है कछु कुटिल भाउ मन माहीं । (मानस)

आवत है दिन गारि । (सर०)

कीर्तिलता में भी एक स्थान पर है का प्रयोग मिलता है—

खिवियाय दाण है (पृ ४०)

(ख) या तथा उसके अन्य रूप — मृतकालिक सहायक क्रिया या का सर्वथ कुछ लोग $\sqrt{\text{अस्}}$ से और कुछ $\sqrt{\text{भू}}$ — अभूत से मानते हैं। अभून से या तक पहुँचने में अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों का अनुमान किया जाता है।

मिलते हैं —

(क) — स प्रकार जैसे — करिसइ, करिसहि, करिसु, करसहुं आदि

(ख) — ह प्रकार जैसे = करिहइ करिहहि, करिहहि, करिहहु, करिहउ, आदि ।

दोनों ही संस्कृत ष - घ्य - वाले रूपों के अपभ्रंश हैं । इनमें से - स प्रकार ष रूप राजस्थानी बोलियों में सुरक्षित है जैसे

उहाँ लग मा लगसा (ढाला०)

कभी कभी अवधा में भी ऐसे रूप मिलते हैं जैसे निकल होसि तैं कपि के मारे । (मानस)

और — ह प्रकार क रूप अवधी, ब्रज आदि बोलियों में प्रचलित हो गये जैसे—

हैंहैं सोइ जा राम रचि राखा । (मानस)

पति रहिहैं ब्रज त्यागे (घूर०)

मग जोग न कीमल क्यों चलिहैं । (कथितावला)

जैहौ अपघ कवन मुँह लार्ह । (मानस)

२३ घर्तमान आज्ञार्थ—इमचन्द्र ने आज्ञा के लिए—इ,—उ और—ए प्रत्ययों का आदेश दिया है (प्रा व्या , ४।३८०) । इस प्रकार सुमरि, मिलम्बु और करे तीन प्रकार के रूप बनते हैं जैसे—

कुजर सुमरि म सल्लदउ ।

के वि दियहटा विलम्बु ।

प्रिय एग्गहि करे ।

ये वस्तुतः - हि प्रत्यय के विकार हैं । हिंदी बोलियों में इनके रूप इस प्रकार हैं—

वार हजार लै देखु परिच्छा । (सुदामा चरित)

अली जिय जानि । (विहारी)

गारस बेंच री आज तैं । (रसदान)

इनके अतिरिक्त—हु और—ओ प्रत्यय वाले रूप भी मिलते हैं

प्रिय तहि देखहि जाहु । (इम०)

दारका जाहु नू । (सुदामा चरित)

धवण सुनो तिनकी कया । (भक्तमाल)

गढ़ी हिंदी में इनमें से केवल—अ और—ओ वाले रूप ही मिलते हैं जैम—तू कर और तुम करो ।

उसके अन्य रूपों के हो और गा दो भिन्न क्रियाओं से उत्पन्न हुए हैं और फिर संयुक्त हो गए।

४१ सामान्य वर्तमान काल—अष्टाक्षर में सामान्यतः सामान्य वर्तमान काल के रूप निम्नलिखित प्रकार के होते हैं।

	एक०	बहु०
अ० पु०	करह	करहि
म पु०	करहि	करहु
उ० पु०	करउ	करहुँ

अवधी और ब्रज में प्रायः ये रूप व्यो के व्यो प्रचलित रहें परंतु इनके साथ ही इनके कुछ विकृत रूप भी चल पड़े। इन विकृत रूपों का इतिहास निम्नलिखित है।

—अइ>—ऐ—

गारल सुधा रिपु करै मिताइ। (मानस)

ऊधो विरहो प्रम करै। (सूर०)

—अइ>—ए—

काहू काहू अइसनभा सगत करे। (कीर्ति० १४)

—अइ>—अ—

इसका प्रयोग विशेषतः अवधी में मिलता है।

नेधु गाज, बाउ बाल डोलाय, केयद नाव घनाय।

(उक्ति०, ३८ ३९)

तये मन कर, तन्हि केस कुसुम घम। (कार्ति०, ३४ ३६)

धुति पुरान मुनि गाव (मानस)

--अहि>—ए—

बार बार प्रभु चहँ उठाय। (मानस)

कैसे रहँ रूप रस राँवी। (सूर०)

—अउँ>—औं—

बंनौ गुर पद पदुम परागा (मानस)

धसौं ब्रज गाकुल गाँव के ग्वारन। (रसखान)

—अउँ>—ऊँ—

मतो कर्हा बुभाऊँ। (कबीर)

जो जग और बियो हीं पाऊ। (सूर०)

४२ सामान्य भविष्यत् काल—अष्टाक्षर में भविष्यत् काल के रूप दो प्रकार के

मिलते हैं —

(क) — स प्रकार जैसे— करिसद, करिसहि, करिसु, करसहुँ आदि

(ख) — ह प्रकार जैसे= करिहइ करिहिहि, करिहिदि, करिहिहु, करिहउ, आदि ।

दोनों ही सङ्घट क-प्य-वाले रूपों के अपभ्रंश हैं । इनमें से-स प्रकार क रूप राजस्थानी बालियों में सुरजित हैं जैसे

उहाँ लग मा लगसा (दाला०)

कभा क्भा अवधा में भा पसे रूप मिलत हैं जैसे बिकल होसि तें कपि के मारे । (मानस)

और-ह प्रकार क रूप अवधी, ब्रज आदि बोलियों में प्रचलित हो गये हैं—

हैंहैं सोइ जो राम रचि राखा । (मानस)

पति रहिहैं ब्रज त्याग (सुर)

मग जाग न कामल क्यों चलिहैं । (कथितावला)

जैहैं अवध कवन मुँह लाई । (मानस)

२३ वर्तमान आक्षार्य—हेमचन्द्र ने आशा क शिष्ट-ए, -उ और-ए प्रत्ययों का आदेश दिया है (प्रा० व्या , ४।३८७) । इस प्रकार सुमरि, विलम्बु और कर तीन प्रकार क रूप बनते हैं जैसे—

कुजर सुमरि म सलरउ ।

क पि दियहटा विलम्बु ।

प्रिय एम्बहिं करे ।

य वस्तुतः -हि प्रत्यय क विकार हैं । हिंदी बोलियों में इनके रूप इस प्रकार हैं—

वार हजार लै दसु प रब्धा । (मुत्तमा चरित)

अली निय जानि । (बिहारा)

गारस बेंच रा आन तें । (रसखान)

इनके अतिरिक्त-हु और-ओ प्रत्यय वाले रूप भी मिलते हैं

प्रिय तहि देखहि जाहु । (हम्०)

दारका जाहु नू । (मुत्तमा चरित)

भरण सुनो तिनकी कथा । (भक्तमाल)

वही हिंदी में इनमें से कबल-अ और-ओ वाले रूप हा मिलते हैं जैसे-तू कर और तुम करा ।

सहायक क्रिया का तिङ्त् रूप जोड़ देने से अपूर्ण भूतकाल का बाध होता है, जैसे करता था, करते थे, करता था आदि। अपभ्रंश में भूतकालिक सहायक क्रिया का विकास न होने के कारण इस काल व संयुक्त रूप प्राय नहीं मिलते, लेकिन परवर्ती अपभ्रंश से इसके उदाहरण मिलने लग जाते हैं।

को तहाँ जेवँत आछ = कस्तत्र भुञ्जान आसीत। (उक्ति०, २१)

काल्हि हमहि केसे निदरति हो = निदरती यी (सू०)

५० आसन्न भूत (पूर्ण वर्तमान) काल — भूतकालिक वृद्धत के बाद घटमानकालिक सहायक क्रिया के तिङन्त-तद्भव रूप को जोड़ने से पूर्ण वर्तमान अथवा आसन्न भूतकाल की क्रिया बनती है जैसे किया है, किये हैं, आदि।

इस तरह के रूप ब्रजभाषा में ही प्रचलित दिखाई पड़ते हैं।

हम पढ़े एक साथ हँ = हम एक साथ पढ़े हैं। (मुद्रामा०)

मुडुट धरे माय हँ = माये मुडुट धरे हँ। (")

जिनका विधि दीन्दी है दूटा सी ज्ञानी। (")

५१ पूर्ण भूतकाल — भूतकालिक वृद्धत के बाद भूतकालिक सहायक क्रिया के तिङन्त-तद्भव रूप का जोड़ने से पूर्ण भूतकाल की क्रिया बनती है, जैसे किया था, किये थे आदि। खड़ी बोली के व रूप ब्रजभाषा काल से ही चले आ रहे हैं जैसे—

आजु गइ हुती भोरहि हां। (रसखान)

में हो जायो नाहि। (विहारी)

संयुक्त क्रिया

५२ संयुक्त काल के अनिश्चित अपभ्रंश में संयुक्त क्रिया बनाने की भा प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ये क्रियाएँ प्राय घटमानकालिक वृद्धत, भूतकालिक वृद्धत, पूर्वकालिक वृद्धत और क्रियायक सहा के विकारी रूपों की सहायता से बनाई जाती हैं। इनमें से प्रत्येक का इतिहास यथासंभव अपभ्रंश से लेकर पढ़ी जाती तरु दिया जा रहा है।

(क) घटमान-कालिक वृद्धत निमित्त—

अभा लग्गा टुंगरहि पड़िउ रहितउ जाइ = रटता जाता है
(रम, ११०५)

मिलि न जाइ नहि गुदरते बनइ। (मानस)

अभिगत गति फछु फहत न आवै (सू०)

(ख) भूतकालिक वृद्धन्त-निमित्त—

अद् भग्गा धर एन्तु = भग्गा एन्तु = भागा आता । (ह्रम०, ४। ५)
 वहि पुणु सुमरण जाउं गउ = चाया गना । (चला गया)
 (ह्रम०, ४।४२६)

तह्य गध सञ्जा क्रिआ । (प्राकृत पैगलन्, ५ ७)

सा खलि गा पाताल तुरठा । (मानस)

वहू नाव मागत उतराइ । (सूर)

(ग) पृथक्कालिक वृद्धन्त निमित्त—

घाए असवारहि मारिअ = घाए मारिअ = घाइ मारिअ (कति० ६६)

आहु सैवान खोनि स्या = खाद कर खा टालगा । (')

पकलि दबो असनान = पकड़कर देता हूँ । (कति० १०)

रकन कराङ्गन मौय उपरि फखा फोरि रया । (कति, १८)

पुनि सभारि उठी सा लजा । (मानस)

अरनो चांड आनि उहि बैठो । (सूर)

(घ) क्रियायुक्त सज्ञा निमित्त—

पथाधर क मरे भागए चाह = भागना चाहती हूँ । (कति०, ३६)

उपर चदावए चाह धार = चदाना चाहता है । (कति०, ३६)

सवे सइना दरि घाइ । (पद्मा०)

तपै लागि अब जेठ असादा । (')

सत्य कहीं माहि जान द माइ (मानस)

लगे संधारन सकल मुर (')

मन हा मन मार पिरैवी करे (बाघा)

खलन फिरन दव । (ठाडुर)

उत्पुन सुनुन कान और सुनुन क्रिया के उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारतीय आम भाषा अपभ्रंश से व्यवहृति का आरंभ अग्रसर होता गइ ।

अन्यथ

५३ क्रिया विशेषण—द्वि-एक का छान्दस् अग्रभ्रंश क अधिकारा विशेषण संभूत क तद्भव है और घाद से ध्वन्यात्मक परिवर्तन क साथ उनमें से कई-एक अवधा, अत्र तथा गद्गा शब्दा में प्रचलित दिखाई पड़ते हैं । नाचे एने हा विविध क्रिया-विशेषणों का सूत्रा पा पा रहा है ।

(क) कालयाचक—अत्रु = अत्रु, आज पवहि (अनुना) = अगहि, अब कइयह (फग) = कहिया (अवधा मात्रपुनिया) जइय (यदा) =

जहिया जय (यद्वा) = जय जाँव (याषत्) = जी (लीं), तइय (तदा)
= तहिया तने (तदा) = तय ता (तत) = ता पञ्चए (परचात्) =
पाछे, पाछे ।

(ख) स्थानवाचक—

फहि (पुत्र) = फह, फहाँ फहि (यस्मिन्) = जह, जहाँ, तहि (तत्र)
= तहँ, तहाँ याहिर (बहि) = याहिर, याहर ।

(ग) रातिवाचक—

एउ, एउ, एव (एवम्) = यों शिर, शिराइउ (नितराम्) =
निरा खहि (नास्ति) = नाहि, नाही, नही कुहु (स्फुटम्) = पुर, पुरे
(अवशो) ।

(घ)—विविध

अयस (अवश्यम्) = अवस, अयसि (अनधी) इ (अपि) = इ,
जखि, जणु (इव) = जनि, अनु (अनधी) श (इव, अयमा वदिक न) = लीं,
इ यादि ।

५४ समुच्चय घोवक अयय —

अनु (अयया) —

विरहागल-जाल-करालियउ रहिउ को वि बुद्धिउ ठिअउ ।

अनु सिधिर कालि सीअल जलहु धूम कहन्तिहु उडियउ ।

—(हेम०, ४।४१५)

देहु उवव अनु करहु कि नाही । (मानस, अयाध्या कांड, पृ० १६६)

अपभ्रंश के अनु का प्रयोग हिंदी में बहुत कम मिलता है 'मानस' में
जहाँ अनु मिलता है वहाँ उसके लिए 'अरु' पाठ भी मिलता है अनु पाठ पर
शम्भूनारायण जीव क संस्करण में ही सुरक्षित है ।

जइ, जा (यदि) कि (घा) जैसे—अ-ज कि कलि ।

वाक्य विन्यास

५५ अब तक वाक्य के एक एक अवयव (पद और पदमात्र) का लेकर अग्रभ्रम से हिंदा का उद्भव और विकास देखा गया। हमने देखा कि किस प्रकार हिंदा संज्ञाओं का कारक विभक्तियों और परसग सवनम सामानिक विशेषण और सरदा-वाचक विशेषण, क्रिया के धातु और उनके प्रयोग तथा अन्य अग्रभ्रम से विकसित हुए हैं। लेकिन क्रिया भाग में वाक्य के अवयवों का क्रम रूपान्तर और प्रयोग जानना हा काना नहीं है, बल्कि उन अवयवों का पारस्परिक संबंध जानना भा आश्यक है। वाक्य में शब्दों के पारस्परिक संबंध का अर्थ है एक दूसरे से उनकी अन्वय एक दूसरे पर उनकी अधिकार और अन्त में उनकी क्रम। इन्हीं सब बातों के द्वारा क्रिया भाग का वाक्य विन्यास तथा विशेषणों का पदा चयनता है। नच हिंदा वाक्य विन्यास का उन धातु-सा विशेषणों का उल्लेख किया जा रहा है जिन्हें अग्रभ्रम ने या ता अपना अर्पित समिति के रूप में हिंदा का दिया है अथवा संस्कृत का परसग का याडा-सा परिवर्तित करके अन्त बढ़ाया है।

५६ विभक्ति-व्यत्यय—कारक विभक्तियों का संस्कृत संहिता में हाता आ रहा है। हमचन्द्र ने प्राकृत अग्रभ्रम वाक्य-रचना में इस व्यत्यय का लक्षित किया है। उनके अनुसार संबंध कारक का अपना विभक्ति का प्रयोग कम करण, सम्प्रदान और अधिकरण के लिए भा हाता है।^१ इसके अतिरिक्त अधिकरण कारक का सप्तमा विभक्ति का प्रयोग कम और करण के लिए हाता है,^२ असात्त कारक का पंचमी विभक्ति का प्रयोग करण कारक के लिए और कम कारक का द्वितीया विभक्ति का प्रयोग अधिकरण के लिए हाता है।^३ ये नियम हमचन्द्र ने प्राकृत वाक्य-विन्यास के लिए बताये हैं अग्रभ्रम का चर्चा करते हुए उन्होंने इस

१ चतुर्थी पठ्यी (३।१३१) क्वचिद् द्वितीया (३।१३४)—अन्त द्वितीया पठ्यी... अन्त तृतीयाया अन्त पञ्चम्या... अन्त सप्तम्या । (प्राकृत व्याकरण) ।

२ द्वितीया तृतीयो सप्तमा ३ पञ्चम्यास्तृतीया च ४ सप्तम्या द्वितीया ।
(हम० प्राकृत व्याकरण—३।१३५, १३६ १ ७)

विषय में अलग से और कुछ नहीं कहा है फिर भी उनके दिये हुए अपभ्रंश उदाहरणों में उपयुक्त विमति-व्यंथय तथा उमा तरह के कुछ और अन्वय पंक्त मिलते हैं। अपभ्रंश की इस प्रवृत्ति का प्रिकाम प्रमश हिंदी में किम प्रकार हुआ—यह नाचे के कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो सकता है।

(क) सवध कारक के विशिष्ट प्रयोग

(१) कम कारक के अर्थ में—

तापि महहम सउणाह अवराहिड न करति । (हेम०) = शकुनियों की ।
 वेस विसिदुह वारियह । (कुमार० प्रतिवाध) = वष विशिष्ट लोगों को
 तुअ हिययट्टियह छुट्टिनि । (सु रास०, ७५) = तुम हृदयस्थित का
 पिउ आणि मउक संतासिहह । (सं० रास० १६७) = मुझका
 लोग कई पाचु सा न साचु न सकाचु भेरे । (कवितावली) = मुझ
 शरीर का तपाना व्यर्थ है = शरीर को

(२) करण कारक के अर्थ में—

कंत जु सीहहो उवमियह (हेम) = सिंह से
 सत्यावत्यह आलमणु साटुवि लाउ करेह । (हेम) = स्वस्वावस्था
 वालों से ।

क्या करना है प्रकाश का हमका (साकेत) = प्रकाश से ।

आँल का अधा, निर्पात का मारा, दूध का जला ।

(३) सम्प्रदान के अर्थ में—

दहउ घडावद रणि तछुँ सउणिहँ पकक पलाह । (हेम०) =
 शकुनियों के लिए

जीविउ कासु न वल्लहउं । (हेम०) = किसके लिए

कितने पैसे तुम्हारे चाहिये । (मुनीता) = तुम्हारे लिए ।

प्राङ्गण का दिया व्यर्थ नहीं जाता । = ब्राह्मण के लिए ।

(४) अपादान के अर्थ में—

तेहि नाहरिय घरस्स । (कुमार प्रतिवाध) = घर से

कुछ का कुछ हो गया = कुछ से कुछ हो गया ।

यात का चूना आदमा, डाल का चूना बंदर = यात से, डाल से

(५) अविकरण के अर्थ में—

पिउ सगमि कउ निहबी पिअहो परोन्वहो कँव (हेम)

= प्रिय के परोक्ष होने पर

कुनर अनहँ सरुअरह पुडुण पल्लह द्यु (हेम०) = अन्व

तकवरो पर ।

सिख लहासिउ खघस्सु (हेम०) = कंधे पर

इन बातों का विचार मत काजिए = बातों पर

पेड़ का चढ़ना कठिन है = पेड़ पर

(६) सबध, स्वतंत्र कारक के अर्थ में—

महु धन्तहो गुठ्ठठिठ्यहो कउ मुम्पहा बलति (हेम०) = मेरे
कत के घर रहते या रहने पर ।

तुअ हिअयठिठ्यह, विरह विडम्बह काउ (स० रास०, ७९)
= तुम्हारे हृदयस्थित होने पर

(७) करण कारक के विशिष्ट प्रयोग —

अधिकरण कारक के अर्थ में—

निद्रए गमिहो रत्तजा (हेम) = निद्रा में ।

बरिस-सपरण वि जो मिलह (हेम०) = वर्ष-शत में ।

चरणेण पहुँचन्ह दूथडउ (पु० हि) = चरण में

भीरा मुक्तू निहर कर (कवीर) = मुक्त पर ।

फिर और काम से लगेगा (सुनीता) = काम में ।

(८) अधिस्रण कारक के विशिष्ट प्रयोग—

करण के अर्थ में—

तुह जलि महु पुणु बल्लहह निहवि न पूरिअ आस (हेम०) = जल से,
बल्लम से ।

थाठ पहर का दाभणा मो पै सहा न जाह (कवीर) = मुझसे ।

मो पै किमि कहि आवै (तूर०) = मुझसे ।

हिदा में अधिकरण परसग 'पर' या 'पै' का प्रयोग सम्प्रदान और अभावान
में भी होता है जैसे—

अब कापर हम करउ सिगारा (पद्मा०) = किसके लिए ।

कापर करी सिगार पुरुष मोर अधिर = किसके लिए ।

जापै मुग चाहत लिया (विहारी) = जिससे

इसी तरह अन्य कारकों में भी व्यत्यय होता रहता है ।

(९) संस्कृत में कच् का कम सदैव द्वितीया विभक्ति में रहता है, परंतु हिदा में
उसके साथ करण-परसग से हागाया जाता है जैसे—मैंने उससे कहा ।

हिंदी में 'मैंने उसको कहा' जैसा प्रयोग नहीं होता । हिंदी में यह विशेषण

अपभ्रंश से आर्द्र है जैसे—

मुणिवि नंदु बुर्चतु यह सयडालस्म फदेइ (डुमार० प्रति०) यहाँ सयडालस्स म यद्यपि सवध कारक की विभक्ति-स्स दिव्वाई पकती है, परंतु है वह—से का श्रय देने वाली ।

५७ कर्मवाच्य के प्रयोग की विशेषता—हेमचंद्र ने विध्यर्थक—ज्ज प्रत्यय वाले रूपों के प्रयोग को व्याप्ति यतमान काल, भविष्यत् काल तथा आशयें यतज्ञाने के बाद भाववाच्य और कर्मवाच्य में भी उसके प्रयोग का निधान किया है। हिंदी कर्मवाच्य के अनेक रूपों में से एक यह भी है। इस कर्मवाच्य की, अपभ्रंश से हिंदी तक के विकास की, अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

हउ मलि किजउं (हेम०) = मैं बलि [की] जाऊँ ।

आइजइ तहि देसइइ (हेम०) = उस देश में जाया जाय ।

अइ आबइ तो आणिअइ (हेम०) = यदि आवे तो आना जाय ।

अइ प्रिउ उम्यारिजइ (हेम०) = यदि प्रिय उचारा जाय ।

कएए मुगन।को चहियत यही सजाय (रत्नीम) = चाहा जाती है ।

भसक की पाँसुरी पयाधि पाटियतु है = पाटा जाता है ।

बालत सुनियै टर (सूर०) = टेर सुनी जाती है ।

नैनन का तरसैय यहाँ लीं (दास) = तरसाया जाय ।

(ख) कर्मवाच्य का दूसरा रूप हिंदा म वह है जिसमें करण कारक के परमग न युक्त कता के साथ सक्रमक धातु का भूतकालिक कृदन्त रूप आता है जैसे मैंन कहा। यह प्रयोग भा अपभ्रंश से ही चला आ रहा है।

दाल्ला मईं तुईं धारिया (हेम०) = मैंने धारया यारा ।

निहाए मईं मणिय तुईं (हेम०) = मैंने मन्या ।

जेहे रिउ न डुम भँजिअ । (काति०)

१ ईअ-इज्जी घयस्य ।

निजि प्रभृतीभा भावकमविधि कल्याण । यथा तु न वचपते तथा संस्कृतातिदेशात्प्राप्तस्य क्यस्य स्थान ईअ इज्ज इत्येतावादेशौ भवत । हसीमइ । हसिज्जइ । हसीमन्तो । हसिज्जन्तो । हसीममाणो । हसिज्जमाणो । पडीमइ । पडिज्जइ । हाईमइ । होज्जइ ॥ बहुताधिकारात् क्वचित् क्योपि विकल्पेन भवति । मए भवज्ज । मए भविज्ज । तए सहज्ज । तए सहिज्ज । तए मध्येज्ज । तए धिज्ज । तए मन्धीमइ ॥— (प्रा० व्या० ११।१६०)

जेन्ने जाचक जन रज्जिअ । (कार्ति०)

बहुवचन कता के साथ—

उन दानन्ह अस का जो न मारा । (गायत्री)

क्रिया-सवधी कुछ अन्य विशिष्ट प्रयोग—क्रियायक सहा और जाइ क्रिया के साथ अपभ्रंश में कमी-कमी निषधवाचक वाक्य बनाया जाता है जा माधवाच्य के अनुरूप होता है जैसे—

पर मुत्तण्ट न जाइ (हेम०) = भांगा नहीं जाता ।

हिअउ न धरणउ जाइ (स रास) ।

पर मद् रहण न जाइ (स० रास)

इसके समान हिंदी में 'हमसे न रुहा जाय', 'हमसे न मरा जाय' जैसे प्रयोग मिलते हैं । पुराने साहित्य में भी—

और गना नहि जात (मूर)

तौ काहू पै मेटा न जाति अगानी (सुदामा चरित)

संयुक्त क्रिया—अपभ्रंश से हिंदी की संयुक्त क्रियाओं का जो विकास हुआ है वह भी रूप और अर्थ को दृष्टि से वाक्य-विन्यास की महत्वपूर्ण विशेषता है । संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में सबसे पहले अपभ्रंश में ही दिखाई पड़ता है लेकिन रूप और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से अपभ्रंश का संयुक्त विन्यास अत्यंत सरल और आरम्भिक अवस्था में है । उनकी अपेक्षा आधुनिक हिंदी में संयुक्त क्रियाओं का गठन बहुत पेचदा हो गया है । अपभ्रंश और हिंदी का संयुक्त क्रियाओं का कुछ तुलनात्मक परिचय 'क्रिया' के प्रसंग में दिया जा चुका है, अतः पुनरावृत्ति अनानर्थक है ।

वाक्य-गठन सवधी अन्य विचार—अपभ्रंश में प्रायः छान-छांट साधारण वाक्य ही मिलते हैं एक से अधिक वाक्यों अथवा उपवाक्यों वाले मिश्रित और सरलवाचक वाक्य बहुत कम मिलते हैं । मिश्रित वाक्य प्रायः वहाँ आते हैं जहाँ एक वाक्य शत बाधा होता है जैसे—

जइ आव ता आणिअर (हेम)

जइ समणेहा, ता मुदअ (हेम०)

जइ पुन्धइ घर बहूअ, ता गृहा पर आइ (हेम०)

जर कवर पागामु निउ अक्रिया कुडु करीतु (हेम०)

परन्तु अपभ्रंश में एक से अधिक विशेषण उपवाक्यों का आगमन के लिए सवधवाचक संज्ञानाम 'जा तथा उग्रक अन्य रूपों से मदद लने का अपेक्षा

‘एनाफोरिक’ ढंग से स्वतंत्र वाक्यों में रखने की श्रम प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है^१ जैसे—

एय घण रेह विण्णाय निम्मलकर सरयरयणि-पञ्चक्खु अमियमह भरंतउ
पुरइ तह चंदह जिण्णायु पियह सजणिय-सुट्टु मुट्टु विग्गिग्गिधूमि कइयलमि
भणियउ । (सं० रास०, १२२)

(नयघन रेखा विनिर्गत निमल कर शरद्रजन्या प्रत्यक्षममूतमरं चरन्
स्फुरति, तस्य चन्द्रस्य जयनाथ प्रियस्य संजनितसुख मुपं विरहाग्निधूमन क
दिनमारम्य भणितम् ।)

विशुल्लता का तरंग, ते पय-दिश शान हाइते अछ (वण , ३१ क)
मद् जो ठमच हाथि, तहि के जे दाँते आघातल सरल वृद्ध ता सभो च्युत
मेल जे निर्यास, तकर परिमल से कइसन अखलु ? जनि नन देवता काँ आयतन
धूप देल अछ । (वण , ५० क)

पदाति-क घम, एन्हि बाट कादव भइ गउ । (वण०, ४६ क)

किसी भाषा की आरंभिक अवस्था में ऐसी सरल वाक्य-याचना का मिलना
स्वभाविक है । लेकिन आगे चलकर खड़ी बोली में जब गद्य-साहित्य का काफी
विकास हुआ तो अनेक प्रकार के मिश्रित वाक्यों की योजना हुई । अपभ्रंश
वाक्य-गठन की उच्च विधि हिंदी की मिश्रित और संयुक्त वाक्य-रचना की आरंभिक
प्रयत्न है ।

‘पद्मावत’, गमचरित-मानस’ आदि में संस्कृत शब्दों के साथ ही अरबी-फारसी शब्दों का मा ब्रह्म किया गया, ता ‘दक्खिनी हिंदा’ में अरबी-फारसी के साथ ही संस्कृत शब्दों का भी सुरक्षित रखा गया। दक्खिनी हिंदा में—

अंग, अगन अगड, अघर अचर, अम्वल अन्तर, अयाग अवतार, आदि, आघार, अनन्त, उपकार, उपचार, अग्रम्य उत्तम, काच काल, कना, कुच, कुन्तल, गान, गच, गम्मार, मास, धन, छल, छद तुग्ग, धाना, दिक्क, धरिवा धना, धार चतुर, दल, देह नारी, पवन, वर, परमेश पुव्य वस्तु, मानु मान, रामान्नि, वाणा, सम्मुख मूर, सेवक, हस्ति, तच दार, दया, दिवाकर, समाग, स्ना, सम, सग्राम, सुरग आदि, संस्कृत शब्दों का प्रयोग अस्तर मिलता है। ‘दक्खिनी हिंदा’ में इन संस्कृत शब्दों के प्रयोग का महत्त्व इसलिए और बढ़ जाता है कि जिन प्रयोगों में ये शब्द मिलते हैं वे उच्च भाषा के बताए जाते हैं और जो कवि इनके प्रयोग हैं वे मुसलमान हैं।

इस समता का कारण स्पष्ट है। तरहवी सत्ता का पुनरुत्थान (रेंसर्स) हिंदू और मुसलमान जातियों में अपना अपना परपरा के अनुसार उत्पन्न और विकसित होने पर भी भावना का दृष्टि से एक था। यूरोप में न इस्लाम का धार्मिक कट्टरता ब्रह्मादिभर आदि अंध-दृष्टियों के विरुद्ध वही कार्य किया जा मनि भावना न हिंदू धर्म का रुढ़ियों के विरुद्ध किया। ऊपर से देखने पर दो तरह का प्रभाव होता हुआ मा दोनों के मंतर काम करने वाला चेतना मूलत एक ही था, क्योंकि वह चेतना एक ही स्तर के सामान्य जन-समूह के अस्तित्व से पैदा हुई थी। मने हा कुद्ध मना शायद अपना साक्षरी के कारण अरबी फारसी शब्दों के पुराने स्कार में अपने का सुक्त न कर सक हों फिर भी उन्होंने सामान्य जनसमूह का बाला म निव्वन की काशिश का। ‘दक्खिनी हिंदा’ ऐसे ही मौलवा शायरों के परिभ्रम स पनया। लेकिन जायसा, कुतुबन, मरुन जैसे जा ग्रामवासी सूत्रा सत य और जिनके सत्कार अरबी-फारसी के उतने न य जिनने अग्रप्रथ आदि के, उन्होंने स्वभावत अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग नहीं किया। अवधा ऐसे हा सत कवियों के कठ से कृपा।

इसा तरह भक्त कवियों में स जिनके सत्कार अर्थात् शास्त्राय ध, व विश्वताय संस्कृत शब्दों का उपयोग न अस्मय य फिर भी उन्होंने संस्कृत में न निम्नकर ‘भाषा’ में हा अपना भावना बना। उनके लिए इतना हा बहुत था। तुषभादाय मत्तदाय आदि का विश्वता ऐसा हा था। इनमें मा तुषभा न अपने का जो संस्कृत में बहुत कुद्ध सुक्त कर लिया, उसका मुख्य कारण उनका अत्यधिक

लोक-सम्पर्क ही समझना चाहिए। दूसरी ओर सूरदास ऐसे भावुक भक्तों के लिए जहाँ शास्त्रीय सीमाएँ न थीं, लोक गीतों ने अपने वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन किया।

तात्पर्य यह है कि हिंदी शैलियों के उदय काल में जा सस्कृत और फारसी तत्सम शब्दों के आगमन का सबसे बड़ा तद्भव शब्दों का जोर है, वह तेरहवीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की लोकांगुणा प्रकृति का प्रभाव है और उसमें जो सस्कृत और फारसी के तत्सम शब्दों का आगमन है, वह हिंदुत्व और इस्लाम के शास्त्रीय संस्कारों के पुनरुत्थान का परिणाम है।

इन द्वित्रिंशत् संस्कारों से प्रभावित शब्दसमूह का काल में एक सामान्य शब्द-समूह और व्याकरण के आधार पर कतिपय प्रादेशिक भेदों के साथ साहित्यिक हिंदी का उदय हुआ। परन्तु अनुकूल ऐतिहासिक परिस्थितियों के अभाव में यह कार्य आज तक पूरा न हो सका। उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने जहाँ सबसे बड़ा काम यह किया कि खड़ी बोली को साहित्यिक हिंदी के रूप में प्रतिष्ठित करके प्रादेशिक शैलियों के भेद का दूर करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार की और दूसरी ओर उर्दू तथा हिन्दी शैलियों का समापन आने का अवसर दिया, वहाँ दूसरी ओर उसमें निहित हिन्दू और मुस्लिम पुनरुत्थान भावना ने दो भिन्न शब्दसमूहों के द्वारा एक ही भाषा को दो शैलियों में विभाजित कर दिया। भाषा में जहाँ एक एकना थी, भाषा का भी आधार एक था लेकिन भाषा में जहाँ भेद उत्पन्न हुआ, भाषा के रूप में भी भेद आ गया। विदेशी अल्पमान का विरुद्ध जातीय सम्मान और प्रचलन रूढ़ियों के विरुद्ध आधुनिकता का आक्रमण—ये दोनों बातें शहरों के पठे लिखे मध्यम में एक ही आयी और इस मामले में भाषा और भाषा से दोनों एक दूसरे का करार आय। लेकिन जातीय गौरव की खोज में जब वे अपनी अतीत संपदा का अंतर मुड़े तो अलग-अलग जा पड़े। इस तरह वे एक जगह से चलकर दो राहों में जा निकले। निःसंदेह विदेशी शक्तियों ने भी इस भेदभाव का बढ़ाने में मदद की।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अधिक से अधिक भाषा का शब्द-समूह में हा इतर कर सकती हैं और हिन्दी भाषा में इन दो पुनरुत्थानों ने अपने अपने जगह से काम किया।

६२ इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर वहाँ हिंदी का तद्भव और ऐसी शब्द-समूह का ज्ञान में अष्टांश का योगदान का लेखा व्यवस्थित किया जा रहा है। आरंभ में हेमचंद्र का प्राकृत व्याकरण में आय हुआ उन महत्त्वपूर्ण शब्दों की सूची दी जा रहा है जो याद में ध्यान-परिचयन का साथ साहित्यिक हिंदी तथा

उसकी किसी 'गोली' में मिलते हैं फिर 'देसी नाम माला' तथा अपभ्रंश की कुछ अन्य रचनाओं के कुछ देसी शब्दों का तालिका दी गई है, जो हिंदी शालियों में आज भी प्रचलित हैं।

अच्छरा	११२०	अछरा, अछरी
अच्छरिज	११५८	अचरन
अनु	४१४१५	अन्यथा
अन्वही	४१८५५	अंतही
अबलो	११७३	आंधरो
असड्डल	४१८२२	असड्डल (अबपी)
आसीसा	२११७४	असीस
उजाउगरा	१११७७	उजागर
ओखल	१११७१	ओखल, आखली
कसालो	२१६२	कसेरा
कुमल	११२६, २१५२	कोपल
कुम्भार	११८	कुम्हार
काहण्डी	११२२४, २१७३	काहका
खम्मा	११६८७, ४१३६६	खम्मा
खाइ	४१४२४	खाइ
खाडि	४१४१६	खाट (खोप)
गड्डी	११२५, २१३५	गड्ढा
गहिर	११११	गमीर
गाई	१११५८	(गौ)
घवल	४१६२२	भगबालू
घढा	२११७४	(घुण)
घाउ	४१३४६	घाव (घात)
घुग्घिउ	४१४२३	घुक्की
घुण्ट	४१४२३	घूँट
चिडुर	१११८६	(चिडुर)
चूडल्लउ	४१३६५, ४२०	चूडिला
चोव्वारो	१११७७	चौवारा (चतुर्थाई)
छल्ल	४१४१२	छल, छरल
छायो	११२६२	छाँना (शाय)

छाहो	१।२४६	छाही, छाँह (छाया)
छिछि	२।१७४	छी छी
छुच्छ	२।२०४	छूँछा (चुच्छ)
भीण	२।३	भीना (बीण)
मुम्भडा	४।४१६, ४१८	भौंभडा
ठाठ	४।२५८	टॉठ (स्थानम्)
डाल	४।४४५	डाल (शाखा)
डाङ्गर	४।४२२	डूंगर (पहाड़)
डुगर	४।४४५	,,
दात्ला	४।३६०	(दुल्हा),
तिक्ल	१।८२	(तादण)
तिरिच्छा	४।८१४	(तियक्)
तूर	२।६३	(तूय)
थू	२।२००	(कुत्लाया निपात)
थूणा	१।१२२	थूनी (स्थूणा)
दाहियो	१।४५	दखिण
दुवार	२।११२	द्वार
देउल	१।२७१	(देवकल)
दोहला	१।२७७, २२१	(दोहल)
धणुहं	१।२२	धनुहा, धनुही (धनु)
नवली	४।४२०, ४२२	नागरी (नवा)
नवला	२।१६५	नवल (नव)
नान	४।४२	(नौ)
निच्चट्टु	४।४२२	निचाट
पराइ	४।१५, ३६७	(परकीया)
पहा	१।६	पह, पौ (प्रभा)
पाइक	२।१३८	(पायक पदाति)
पात्रा	१।५	(पात्र) पौत्र
निश्वास	४।४२४	(प्वास पित्रावा)
वाण्डा	४।३८७	वापुरा
वेल	१।८५	वेल (विल्व)
भला	४।३५७	भला (मद्र)

मडह	१।१०७	मार (मुकुट)
मग्गसु	४।४ २	मगन (भागण)
मयगल	४।४०६	मैगल (मदकल)
माउसिआ	२।१४२	मौसी (मातृसा)
मुग्गडा	४।४०६	मूग (मुह्ना)
मात्था	(१।१६६)	मोथा (मुस्ता)
रण्ण	१।६६	रन-वन (अरण्य)
रस्सी	१।३५	(रश्मि)
राउल	१।२६७	राउर (राजकुल)
रुक्क	२।१६	रुल, रुक् (वृक्ष)
रुसणा	४।४१८	रुसना (रापयुक्ता)
लज्जालुआ	२।१५६	(लज्जावता)
लडा	१।२४७	लाठी (यष्टि)
सोआडा	४।४२५	सुगरी
लाग	१।१७७	(लोक)
वक्कल	२।७६	वोकला (वल्कल)
वक्कपाय	२।६०	वखान (ध्याएमान)
वण	५।२०६	वनै (अवधी) (निश्चयाद्यर्थे निपत्त)
वाउल	१।१२१	(वातुल, व्याकुल)
विचि	४।३५०, ४२१	वाच (वत्मनि)
विसाहिउ	४।२८६, ४११	वसाह (विसाधितम्)
विहाण	४।२३०	विहान
सकल	१।१८६	सकल (श्रु सला)
सघारा	१।२६४	(सहार)
सप्पा	१।६,	(सप्पा)
सम्मोणी	४।४२०	(सल्लागण्या)
सहण	१।२३६	(शफरा)
सुवण	२।५	(शुभकं)
साहिल्ला	२।१५६	साहिला (शाभानान)
हरह	१।६६	हर
हलहा	१।८८	हल्दी (शक्ति)
हठ	४।४४८	हठ (अघ)

६३ हेमचन्द्र की 'देसी नाम माला' में आये हुए व शब्द, जो भाइ से प्यारि परिवर्तन के साथ आज भी हिंदी शैलियों में मिलते हैं —

अघाणा,	१११६	अघाना (मृत दाना)
आइप्यण,	११७८	ऐपन (तंदुलपिष्टक्षीरं गृहमएदनमित्यन्य)
ईगाली	११७६	इगारी, अगारी (इन्तुण्णड)
उकवली,	११८८	आगली
उगाहिअं,	११२०६	उगाहा (गृहीतम्)
उबाडा,	११६७	उचटना
उज्जड,	११६६	ऊजड
उडिदा,	११६८	उडद
उडुसो,	११६६	उडस (एटमल)
उडुस,	११६८	उडस (उडुस, सताप)
उण्णुण्ण,	११६२	उफनना (आपुणाम्)
ऊया,	११८६	उम्मा (पक्काधूम)
उल्ला,	११८७	ऐल, अलाप (चूरुह, चूर्द्धा)
उवरिअं,	१११३२	उवरना उवरुवा (अधिकम्)
उवाआ,	१११०२	ऊवना (तु० हेम० प्राकृत याकरण ८।४।२४)
ऊसत्था,	१११४३	ऊसठ (जमित, मनहूस)
आज्जरी,	१११५७	आभरी (अत्रावरणम्)
आड्ढण,	१११५५	आदना, आदनी (उत्तरीयम्)
आलरिअं,	१११६३	आलरना (मुसम्)
आसणं,	१११५५	आसाना (उडिगे जैसे, अनाज आसाना)
आसरिआ,	१११६१	आसारा (अलिद)
आसा,	१११६४	आस
आहटा,	१११६६	आहटना, (अपसवम्)
आहरणं	१११७४	आहरना (विनिपातम्)
कडल,	२१७	कौड (करारं । तच्च गोमय खण्ड तच्छूण च)
कटारी,	२१४	कटारी
कड्ढु,	२१७	करडुल (अयावर्षी)
कतवार,	२१११	कतवार (तृणायुक्तर)
करिल्ल,	११०	करिल (वशाङ्कुर)
कटोकी,	२१६	कलोर (वत्सतरी)

कसर,	२।४	कसर गरियार (अथमयर्नीयद्)
काहाग,	१।२७	कहार (परिष्का, जलादिनाहा कमकर)
कुडय,	२।६२	कुडा (लघुभाण्ड)
कुल्लड,	२।६२	कुल्लड (,,)
काइला,	२।६६	कायला (काटाहार)
काल्हुआ,	२।६५	काल्ह (इन्तुनियानयन्त्रम्)
कासय,	२।६७	कासा कासा (लघु शराव)
खट्टिना,	२।७०	खट्टिक (सैनिक)
खड,	२।६७	खरह (दृग)
खण्का,	२।७१	खिक्का (लघुद्वारम्, वानायनम्)
खडा,	२।६६	खड्ड
खगुमा,	२।६२	खुनिष्ठ (क्रोध), गलत खुनिष्ठ न कबहूँ दया— तुलसी, मानस ।
खलदय,	२।७१	खाला खला (रिक्तम्)
खला,	२।६६	खाल (चम)
खवआ,	२।६७	} खरें (काव)
खवा,	२।७७	
खारआ,	२।७३	खाई (परिष्का)
खिलणा,	२।७४	खेखर (सामडा)
खु	२।७४	खुण (शुद्धितम्)
खुपा,	२।७५	खोना (कश्च वृशादिमयं यतिनिवारणम्)
गगरा,	२।८८	गगरा (जलभात्रम्)
गडुरा,	२।८८	गडगिया (भङ्ग रखने वाला) गडुलिक
गडा,	२।८२	गाडा
गना,	२।८१	गद (दुग)
गडार,	२।८२	गडरा (इच्छुण्णम्)
गवत्त,	२।८२	गव कद का गव
गु नलिअ,	२।६२	गु नलक (विडाहृतम्)
गुत्ता,	२।११	गाँता (वधनम्)
गुदा,	२।१०१	गुडा (अथम)
गुम्मदआ,	२।१३	गुमाना
गोअला,	२।६८	गवाला, गवानिन (दुग्धविक्रियकर्त्री)

गोशालिआ, २।६८	ग्यालिन (माचुपि कीटविशय)
गाच्छा, २।६५	गुब्धा
गोबर, २।६६	गोपर
गोहुर, २।६६	गोहरा, गोपठा
घग्गर, २।१०७	घघरा (जघनस्थ-वस्त्रमद)
घट्टा, २।१११	घाट (नदीत घम्)
घग्गाइ, २।१०६	घमोय (गण्डुत्तरु तण्णुम्)
	तु० घेनुमूल सुत मण्ड घग्गाइ (तुलसी, मानस)
घरोली, २।१०५	घरिला, घुरलो, घरिया (घर-गोलिका)
चउक्क, ३।२	चौक
चंग, २।१	चंगा
चाउला, २।८	चानल
चासो, ३।१	चाम (हलस्फाटित मूमिरेला)
चिकका, ३।२१	चिकका (तैला)
चित्तफ, ३।४	चीनल (मन्त्रिम्)
चिल्लरी, ३।२	चिल्लर (मशफ विशय ज)
चोष्टी, २।१	चाटी (शिखा)
छदल्लो, ३।२४	छैल (मिदग्घ)
छलिआ, ३।२४	छालिया (विदग्घ)
छरला, २।२४	छाल, छिलका
छासी, ३।२६	छाँछ (तरुम)
छिद्योमी, २।२६	छिद्याल (लघुजल प्रवाह)
	तु० छुट पट छिद्योल—ढाला०
छिण्णाला, ३।२६	छिण्णाल (जार)
जाण्णलिआ, ३।५	जान्दरी (प्यार, धान्यविशेष)
जोवारी, ३।५०	ज्वार (धान्यविशेष)
कण्णरी, २।५४	कण्णइ (शुष्कतरु)
भखा, ३।५३	कण्णना (पण्णवाना)
कडी, ३।५३	कड़ी (निरतर, नुटि)
कटिअ, ३।५५	कॉटना (प्रहृतम्, हिलाना)
कंटी, ३।५३	कौटा (लघुप कशा)
कण्णुनिअ, ३।५६	कण्णका (वग्घम्, पणोला)

मनुचित्र	३।५६	मुलसना (दग्धम्)
माढं	३।५७	माङ्ग (लतागहनम्)
मिल्लिरिञ्चा	२।६२	मिल्ला (मींगुर)
मुठ	३।५८	मूठ
मुल्लारा	३।५८	मालार, मखरी (गुल्म)
मालिञ्चा	३।५६	मोला
दु टा	४।३	टूट (छिन्नकर)
ठल्लो	४।५	ठाला, निम्बला (निघन)
डडञ्चो	४।८	पग-डंडी (रप्या)
डला	४।७	डलो, डला, डेला (लोड)
डल्ल	४।७	डलिया, डाली (मिटिका)
डाली	४।६	डाल डाली (शावा)
डुगरा	४।११	डू गर (शैल)
डुवा	४।११	डाम्ब, डोम (श्वरच)
डोला	४।११	डाला, डोली (शिविका)
डकणा	४।१४	डकना (विधानिका)
डैका	४।१७	डैका, डैबुला (कृम-बुला)
तग	५।१	ताग (सूत्रम्)
तडपरिञ्च	५।६	तडपरिञ्चाना
डारा	५।३८	डारा (सूत्रम्)
पखुङ्गी	६।८	पखुङ्गी (पत्रम्)
पक्खरा	६।१०	पक्खर (दुरङ्ग संनाह)
पप्पाञ्चो	६।१२	पपाहा
परिहण	६।२१	परिहन (परिधानम्)
पावो	६।३८	पोवा (सय का बच्चा)
पड्डा	६।८०	पाँडा (मैस का बच्चा)
पैडारो	६।५८	निडारे, निडारा (डाडुञ्चो का दल)
पाट	६।६०	पोटरी, (पट)
		मु० माई निहारै पाटय, मेहरिया निहारै माटरा ।
पग्गू	६।८२	फाग, पगुञ्चा (बसतात्सव)
बडल्ल	६।६१	डैन
बप्पा	६।८८	बार

बुक्का	६।६४	बुक [मर] (मुठी मर)
बुलबुला	६।६५	बेड़ा (बुदबुद)
बेडो	६।६५	बेड़ा-(नौ)
बोककडो	६।६६	बकरा (छाग)
बोहारी	६।६७	बुहारी (भाड़)
बोदित्या	६।६६	बाहित (प्रवहणम्)
मउज्जा	६।१०३	मौजी, मौजार, भावज (भ्रातृजाया)
भेली	६।११०	भला (बेड़ा)
मक्कोड़ा	६।१४२	मकोड़ा (कीड़ा-मकोड़ा, मफड़ा)
मम्मी, मामी	६।११२	मामी (मातुलानी)
मल्हण	६।११६	मल्हना (लीला)
माउआ	६।१४७	माई (सली)
माडुर	६।१३०	माडुर (शाकनिशेप)
मोगरो	६।१३६	मोगरा (पुष्पविशेष)
राफ़ी	७।४	रार (भगना)
रोट्ट	७।११	रोट, रोटी
लसकं	७।१८	लसका, लासा (तरुक्षीरम्)
बट्ट	७।११	घाट (पंथ, वर्त्म)
घड्डो	७।२६	बड़ा
बट्टदह्यो	७।४४	बदर्
बट्टदखसालो	७।४६	बाँक (छिनपुच्छ)
बवयी	७।३२	बनौ, विनौला, सन एक्यो बीस्यो बनौ (महारा)
बहोली, बाहली	७।३६	बाहा, बहिया (लघु जल प्रवाह)
बाउरुलो	७।५६	बाउल, बावला (बाहुल, प्रलपनशील)
बारिओ	७।४७	बारी, नाऊ-बारी (नापित)
विगोवा	७।६४	विगोवा (व्याकुलभाव, विगाड़ना)
विन्धोहो	७।६२	विछोह (विरह, वियोग)
बो-भओ	७।८०	बोफ (भार)
सह-भो	८।१०	सामी (हिस्सेदार, प्रातिवेशिक)
साहयी	८।१७	साहनी (खेत निराना)
हरिभाली	८।६४	हरियाली
दिल्लूरी	८।६७	दिलोर (सहरी, हिल्लोल)

६४ इनके अतिरिक्त अपभ्रंश काव्यों में प्रयुक्त कुछ अन्य तद्भव और देशी शब्दों की तालिका दी जा रहा है जिनका प्रयोग किञ्चित् ध्वनि-परिवर्तन के साथ हिंदी बोलियों में शाब्द भा हाता है ।

अन्स्ताहय	(प० च० ४।११)	अस्ताड़ा
उत्ताथलिय	(प० च० ३६।१५)	उतावला
उग्मेह	(प० च० २५।१४)	उमेठ
कक्कर	(प० च० २६।२)	ककड
कल्परिय	(प० च० ४५।१०)	कलवार
कल्लप	(प० च० २।१२)	(माथी) कल
कसद	(महा० १।२।१२)	कसरू (नृगविशेष)
कुट	(सं० रा १७३)	कूटना (प्रहार)
कुट	(महा० ४।३।७)	कुड (जलद्रोणी)
कु डवाल	(सं० रा० १७५)	कु डल, कु डली (बतुल)
कञ्च	(प० च ११२)	रौंच
खाट	(शबरपा, चया० २८)	खाट (चारपाई)
खुरप	(महा० ११।१।६)	खुरपा < छुरप
खण्डिय	(प० च० २०।८)	खदना, भगाना
गिल्ल	(महा० २६।५।३)	गीला (आद्र)
गुज्ज	(प० च० १४।७)	गाभिया
घरवार	(प० च ४।१२)	घर-झार
घल्लइ	(महा० ३।१६।१०, इम० ८।४।३३४)	घालना (फेंकना)
चनसह	(महा० २।१६।४)	चखना (आस्वाद लेना)
चडई	(महा० २।१६।१)	चदना
चहाविह	(महा० ३ । १२।६)	चदाना
चगका	(कयइ० चर्या १)	डलिया
चुणइ	(महा० १६।१३।२)	चुनना चु गना
चेल्लु	(सरह, दोहा १)	चेला (शिष्य)
चाज	(महा० ८।७।२३)	चाज (कौटुक, आरचय)
छज्जइ	(महा० १।१४।३)	छात्रै (राजते, शोमते)
छडइ	(महा० ७।१६।१५)	छाड़ना, छाड़ना
छाहि	(प० च० २६।१३)	छाँह
छिक्क	(महा० ४।५।१३)	छूना

छिक	(महा० २६।४।२)	छीक
छोकर	(जस० पृ० ४)	छोकरा (लड़का)
जैवइ	(महा० १८।७।११)	जैव, जीमना (भुक्ते)
जोखइ	(महा० ४।५।५)	जाल, (तोलयति)
भग्इ	(सं० रा० १६२)	भग्इ (भंक्ता)
भइप्पइ	(महा ३०।४।६)	भगट
भइप्पण	(महा० २५।४८)	भइप (ताइन)
भंगइ	(महा १।११।४, सं० रा २६)	भंग* (श्रान्त्वाद्यति)
भीण	(सं० रा० १७१)	भीना (चीण, सूदम)
भुल्लइ	(महा० १४।५।१२)	भुल* (कम्पते)
भुण्डा	(हेम० प्रा० व्या० ८।४।४१६)	भण्डा (कुटीर)
भुण्णुक	(प० च० ५५।५)	भूमक
टक्कर	(महा० ३१।१६।४)	टक्कर
टाल	(प० च १२।२)	टालना
टोपी	(जस०, पृ० ६)	टोपी
डर	(स रा० १६३)	डर (भय)
डकिय	(महा० ३०।१२।८)	डक मारना
दइदस	(प० च० ४६।१७)	दाइस
दलइ	(महा० ३१।१६।१२)	दल (चयति)
दलिय	(महा० ८।८।१२)	दोला (खस्त)
दकइ	(महा० १।१३।१०)	दक* (अन्ध्याद्यति)
दुककय	(सं० रा १८६)	दुक* (छिपना)
दोय	(प च २।६)	दोना
दार	(प० च० २।७)	पशु
शत्य	(प० च० ४७।१)	नय
ताँति	(कयह० चया० १०)	ताँत
तिम्मण	(प० च० ५०।११)	तीरन (भोजनविशेष)
तिपा	(महा० १।१५।४)	तिपा (स्त्री)
तुरन्त	(प० च ४।३)	त्वर
ताइ	(महा० २०।२३।३)	तोइ
यइ	(प० च० २।३)	समूह
यइहरीय	(सं० रा० ६६)	यइहरी (कम्प)

याता	(मूमुक्त० चया० २१)	याता (धरोहर)
याह	(प० च० २०१४)	
बाय	(प० च० ५३।१०)	खेल का दाव
घवा	(सरह० दाहा० १६)	घंघा
धूरण	(स० रा० १६३)	धुना
पडिवा	(प० च० २६।१)	परिधा
पइसार	(प० च० ७।४)	प्रवेश
पणाल	(प० च० १६।१०)	पनाला
पप्यड	(प० च० ५०।११)	पापक
पायाल	(प० च० १२।८)	पायल
पागल	(शबर० चया० २८)	
पुडि	(प० च० ५।१६)	पुछा
पुडिय	(सं० रा० १८)	पोंछना
पेल्लिय	(महा १।१२।५)	पल (प्रेरित)
पाटल	(महा० २०।१०।१२)	पोटला
निर	(स० रा० १६८)	फिरना (वापस आना)
पुर	(स० रा० १२२)	पुर (सत्य)
फुस्तल०	(स० रा० १६३)	फूल फूलना
बहुडि	(योग० ६०)	बहुटना (लौटना, लौगना)
बापुडी	(कएह० चया १०)	बापुरा (चवारी)
बुहडद	(महा० २३।११।११)	धूडद, डूव
बाहिय	(महा १७।४।४)	बोहित (नौ)
माड	(सं० रा ६०)	माड (संमद)
मेट	(प० च० ४६।४)	मैट
मुक्कर	(महा० १।८।७)	मुँकना (डुक्कर)
मान	(महा २।२।७)	माला, भासा
मच्छर	(स० रा० १४६)	मच्छर (मशक)
मनाय	(स० रा० ७१)	मना० (मनाना)
मेलअ	(महा० ३।१३।८)	मेला
महली	(प० च० ७८।७)	महरी (पत्नी)
माड	(स० रा० २५)	मोडना
रघोर	(प० च० १७।१)	रसाद

रङ्गी	(महा० १७।६।१०, सरह० दोहा ५)	रंङी (चेश्या)
रंगरू	(महा० ४।१।११)	रंगरू (जानुम्बा चलति)
रिल्ल	(सं० रा० १६२)	रेला (जलप्रवाह)
रेल्ल	(महा० १४।१०।१)	रेला
रोक्क	(प० च० १७।६)	रोक
रोग	(प० च० २८।६)	रोग
लक्क	(सं० रा० २४)	लक (कटि)
सङ्गु	(प० च० ५०।११)	लङ्गु
लुक्क	(महा० ६।१४।३२, हेम० ८।४।४०१)	लुकना (द्विपना)
विसूरर	(महा० १४।५।१०, हेम० प्रा० ८।४।३३६)	विसूरना (खेद करना)
यारिय	(प० च० ३८।१८)	यारी, क्रम
साङ्गी	(महा० १२।५।३)	साङ्गी (स्त्री-यज्ञ)
खालय	(प० च० ५०।११)	खालन (पक्व मांस)
सामु-नणद	(कण्ठ चर्या० ११)	
साहार	(प० च० ६।११)	सहारा
साहुक्कार	(प० च० २।१७)	साहुकार
सिपि	(महा० ४।६।११)	सीपी, सीप (शुक्ति)
सुहाली	(नेमि० चौपई २४)	साहारी (पूड़ी)
सुक्क	(प० च० ८।२)	सुक
सोहल	(प० च० ३३।१)	सोहर (उत्सव)
हट्ट	(महा० १।१६।१)	हाट
हल्लर	(महा० १४।५।१२)	हिलना (कर्म०)
हाँडी	(ततिपा, चर्या० ३३)	हाँडी (भाण्ड)
हुड्ड	(चर्चरी २२)	हुड्ड
होहल्लर	(महा ४।४।१४)	हाहल्ला (सामूहिक शोर)

द्वितीय खण्ड : साहित्य

अपभ्रंश-साहित्य

अपभ्रंश साहित्य की सामग्री का पहला संग्रह 'माटरियालिपन ल्युर कॅटनिस डेस अपभ्रंश' जिसे आण से लगभग पचास साल पहले १६०२ ई० में जमन विद्वान पिरोल ने अपभ्रंश के अध्ययन की सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया था। इस सामग्री को पिरोल ने अपने 'प्रामेटिक डेर प्राकृत श्राखेन' का परिशिष्ट कहा था। इसमें हेमचन्द्र प्राकृत-व्याकरण के सभी अपभ्रंश शब्दों के अतिरिक्त पैंतीस पद्य और हैं। उन पैंतीस पद्यों में से पहला 'चड के प्रकृत व्याकरण में उद्धृत यह दोहा है

कालु सहेवियु जोइषा, त्रिबं त्रिबं मोठु गलेइ ।

तिबे त्रिब दसगु लहइ जो लिपमें अप्य सुणेइ ॥

दूसरा दोहा 'ध्वन्यालोक' में इस प्रकार उद्धृत है—

मठु मठु ति मणन्तप्रहो क चड काल जणस्तु ।

तो वि ए डेठ बणहणप्रो गोप्रच्छोइ मणस्तु ॥

इसके बाद जमन 'सरस्वती कण्टामरु' के अठारह और विक्रमावश्याय के पन्द्रह छन्द और हैं। पूरा सामग्री व्याकरणिक टिप्पणों तथा क्विन्टु व्याख्या के साथ प्रस्तुत का गया है। विचार करने से इस संग्रह में कुछ ऐसे पद्य भी मिल सकते हैं, विशेषतः 'सरस्वती कण्टामरु' के जिनका माया अपभ्रंश न हो फिर भी इस

संग्रह का ऐतिहासिक महत्त्व है। भारतीय और यूरानीय विद्वानों

अपभ्रंश साहित्य का ध्यान अपभ्रंश का आर आकृष्ट करन वाला यह पहला
की सामग्री अपभ्रंश संग्रह है। इसने अपभ्रंश-साहित्य का शाव के लिए
विद्वानों का प्रेरित किया। इस निशा में जमना के हा दूसरे

विद्वान यादोवी ने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यह है बनारस का 'भविस्वयत्त कहा' का संपादन (१९१८ ई०)। अपभ्रंश का यह पहला प्रबंध काव्य है, जिसने विद्वानों के सामने अपभ्रंश साहित्य के सौन्दर्य और गौरव का स्थापना का। पूर्ववर्ती विद्वानों सामग्रियों की राशि पर 'भविस्वयत्त कहा' का प्रकाशन नुमेक शिन्धर के समान प्रवृत्त हुआ। आगे चल कर भाष्यमनलाल दास्याभाइ दलाल ने इस ग्रंथ की अन्य पाहुलियारों का दूँदकर एक दूसरे संस्करण के संपादन का कार्य आरंभ किया, जिसे

उनके अथमय देहावसान के बाद डा० पांडुरंग गुणे ने १९२३ ई० में सम्पन्न किया।

श्री दलाल ने 'मविस्वयत्तकहा' के संपादन के अतिरिक्त जा सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया, वह है 'पाटण पुस्तक मंडार' में पड़े हुए अनेक अपभ्रंश ग्रंथों का परिचय प्रकाशित करना। उन्होंने यहीदा क 'लाइब्रेरी मिसेलेनी' में 'पाटणाना मंडारा' अने खास करीने तेमा रहेलु अपभ्रंश तथा प्राचीन गुजराती साहित्य' शीर्षक विस्तृत निबंध के द्वारा सन्देश रासक, वज्रस्वायि रास, अतरंगसंधि, चउतरंगसधि सुलसाएषान, चच्चरी, भावनासार, परमात्म प्रकाश, आराधना, मयणरेहासंधि, नमयासुंदरिसंधि, मविस्वयत्त कहा, पठम लिरि चरिउ इत्यादि ७५-८० अपभ्रंश ग्रंथों का परिचय दिया।

परन्तु जैन पुस्तक मंडारों तथा अथ मग्रहों में अपभ्रंश साहित्य की सामग्री का खोज कार्य शुरू हुआ। इस दिशा में श्री दलाल के बाद श्री जिन विजय मुनि का कार्य विशेष महत्वपूर्ण है। 'भंडारकर ओरिण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट' में प्राक्त नाम से घोषित पुण्यवत के 'महापुराण' तथा स्वयंभू के 'पठम चरिउ' और 'हरिवंश पुराण' के उदार का भेष मुनि जी को ही है। मुनि जी ने अपभ्रंश पुस्तकों का खोज के अतिरिक्त उनका संपादन और प्रकाशन में भी बहुत बड़ा काम किया है।

दूसरी ओर प्रो० हीरालाल जैन ने 'कारंजा जैन मंडार' की छान-बीन करके जसहर चरिउ, गायकुमार चरिउ, करकंड चरिउ, पाहुड दोहा, साययभम्मदोहा आदि अपभ्रंश काव्यों को प्रकाश में लाने का काय किया।

इन विद्वानों के शोध-काय के अतिरिक्त प्राप्त सामग्री के संपादन में डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य और डा० आदिनाथ नेमिनाथ सपाण्य ने महत्वपूर्ण काम किया है।

पश्चिमा अपभ्रंश-साहित्य की सामग्री क अतिरिक्त पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं की ओर ध्यान आकृष करने वालों में म० म० हर प्रसाद शास्त्री का नाम अग्रणी है। 'बौद्ध गान आ दाहा' (१९१६ ई०) इस तरह का पहला संग्रह-ग्रंथ है। पीछे महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस दिशा में महत्वपूर्ण खोज का काम किया। पूर्वी अपभ्रंश साहित्य के संपादन में डा० शाहादुल्ला और डा० प्रबोधचंद्र सागची का नाम उल्लेखनीय है।

अब तक अपभ्रंश की प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री इस माया में शात हा चुकी है कि कितना भी बात में अपभ्रंश-साहित्य को सामाय और महत्व हीन नहीं कहा जा सकता। यहाँ अपभ्रंश-साहित्य की शात पुस्तकों की सूची

अकारादिक्रम से दा जा रही है

- | | | |
|------|------------------------------------|---|
| १ | अजना सुदरी कथा | |
| २ | अनन्तव्रत कथानक | |
| ३ | अनाथ संधि | जिनप्रम सूरि |
| ४ | अतरंग राम | " |
| ५ | अतरंग विवाह | " |
| ६ | अतरंग संधि | रत्नप्रम सूरि (सं० १२६२ वि०) |
| ७ | अमरसेन चरित | मारिककराज |
| ८. | आत्मसन्वाधन कुलक | जिनप्रम सूरि |
| ९. | आदिनाथ पाग | पुष्पदत्त |
| १० | आदिपुराण (मेघेश्वर चरित) | सिंहसेन (२६५) |
| ११ | आराधना सार | वीर |
| ११ | उपदेश कुलक | देवसूरि |
| १३ | श्रुपम जिन स्तुति | |
| १४ | कथाकाव्य | भचन्द्र (६४१-६६६ ई०) |
| *१५. | करकंड चरित | कनकामर मुनि |
| १६ | करकंड चरित | रघू |
| *१७ | कलास्वरूप कुलक | जिनदत्त सूरि |
| *१८ | कालिकाचाप कथा (अतिथि इहेव तम्बू) | अशत अनभ्र श
भाउन द्वारा संपादित । |
| *१९ | कुमारपाल प्रतिवाध | सामप्रम सूरि (१२४१ वि०)
अशत अनभ्र श |
| *२० | कुबलपमाला कथा | उद्या न सूरि (सं० ८३५ वि०)
अशत अनभ्र श |
| २१ | चन्द्रप्रम चरित | यश कीर्ति |
| २२ | चन्द्रप्रम चरित | दामादर |
| *२३ | चचरा | जिनदत्त सूरि |
| २४ | चचरा | सोलण |
| २५. | चचरा | जिनप्रम सूरि |
| २६ | चैदरिनाटी | " |
| २७ | तम्बू चरित्र | (सं० १२६६ वि०) |

२८	जम्बूस्वामि चरित्र	वीर
२९	जम्बूस्यामि चरित्र	सागरदत्त (सं० १०६० वि०)
३०	जम्बूस्वामि रासा	धूमसूरि (१२६६ वि०)
३१	जयकुमार चरित्र	ब्रह्मदेव सेन
३२	जयकुमार चरित्र	रहधू
३३	जयतिहुअण	श्रमयदेव सूरि (१११६ वि०)
३४	जिनजम मह	जिनप्रभ सूरि
३५	जिनदत्त चरित्र	रहधू
३६	जिन महिमा	जिनप्रभ सूरि
३७	जिन रत्ति कथा	नरसेन
३८	जीवानुशास्त्रि सधि	नरसेन
*३९	निपट्टि-महापुरुष-गुणालकार	(महापुराण) पुष्पदन्त
४०	दङ्गड	
४१	दश लक्ष्य जयमाला	सिद्धसेन (रहधू)
४२	दानादि कुलक	प्रद्युम्न
*४३	दोहाफोश	सरह
४४	दोहानुप्रेक्षा	लक्ष्मीचंद्र
*४५	दोहा कोश	काण्ह
*४६	दोहा पाहुड	रामसिंह
४७	दोहा मानुका	
४८	धमसूरि स्तुति	
४९	धमाधम कुलक	जिनप्रभ सूरि
५०	धर्माधर्म विचार	"
५१	नवकार फल कुलक	
*५२	नागकुमार चरित	पुष्पदंत
५३	नागकुमार चरित	माणिक्य राज
५४	निर्दोष सप्तमी कथा	
५५	नेमिनाथ ज माभिषेक	जिनप्रभ सूरि
५६	नेमिनाथ चउपर	विनयचन्द्र सूरि (१२५७ वि०)
५७	नेमिनाथ चरित	हरिभद्र सूरि (८ वीं से १२ वीं शताब्दी के बीच किसी समय)

५८	नेमिनाथ चरित	वामोदर
५९	नेमिनाथ चरित	लक्ष्मण देव
६०	नेमिनाथ षण	राजशेखर सूरि (१३७१ वि०)
६१	नेमिनाथ रास	जिनप्रभ सूरि
*६२	पद्म चरित्र (पउम चरिउ)	स्वयम्भू और त्रिसुवन
*६३	पद्मश्री चरित्र	धाहिल (११६१ वि०)
६४	पद्म पुराण	रङ्गधू
*६५	परमात्म प्रकाश	योगी द्र
६६	पाण्व पुराण	यश फार्ति
६७	पाश्र्वनाथ चरित्र	विनयचन्द्र सूरि
६८	पार्श्वनाथ जामाभिपेक	जिनप्रभ सूरि
६९	पाश्र्वनाथ पुराण	रङ्गधू
७०	पार्श्वनाथ पुराण	पद्म फीर्ति
७१	पुराण-सार	श्रीचन्द्र मुनि
७२	प्रत्येक बुद्ध चरित्र	
७३	प्रद्युम्न चरित्र	रङ्गधू
७४	प्रथम चित्तामणि (अष्टत अपभ्रंश)—भक्तुग (१३६१ वि०)	
७५	बुद्ध भषकार	जिनवल्लभ सूरि
७६	बलमद्र चरित	रङ्गधू
७७	चारु खड़ी दाहा	महाचद
*७८	बाहुबलि रास	शालिमद्र सूरि
*७९	मविस्लयत्त फहा	धनपाल
८०	मण्य कुटुम्भ	जिनप्रभ सूरि
८१	भय चरित्र	"
८२	भावनावुलक	"
*८३	भायनासधि	जयदेव (१६०६ वि०)
८४	भायनासार	
८५	मदन रेखा चरित	(स० १२६७ वि०)
८६	मक्षयमूरि-स्तुति	
८७	मल्लिननाथ चरित	जिनप्रभ सूरि
८८	महाधार चरित्र	मिनेश्वर सूरि का काई शिष्य ।
८९	महबौर चरित	

६०	महावीर स्तोत्र	
६१	मुत्तमलि विधान कथा	
६२	मुनिचंद्र स्मर-स्तुति	देवसूरि
६३	मुनि सुव्रत स्वामि-स्तोत्र	जिनप्रभ सूरि
६४	मृगपुत्र महर्षि चरित	(मृगपुत्र संधि)
६५	मेषेश्वर चरित	रघू
६६	मोहराज निजय	जिनप्रभ सूरि
*६७	यशाधर-चरित्र (जसहर चरित)	—पुण्यदत्त
६८	युगादिजिन-चरित्र कुलक	जिनप्रभ सूरि
*६९	योगसार	योगीन्द्र
१००	योगसार	श्रुतिकीर्ति
१०१	रोहिणी विधान कथा	देवनदी
१०२	लघु अजित शान्तिस्तय	धीरगणि
१०३	वज्र स्वामि चरित्र	
१०४	वज्र स्वामि चरित्र	जिनप्रभ सूरि (सं० १३१६ वि०)
१०५	वधमान काव्य	(श्रेणिक चरित्र)—अयमित्र
१०६	वधमान चरित्र	रघू
१०७	वरांग चरित्र	तेजपाल
१०८	विलासवती कथा	सिद्धसेन सूरि
१०९	विवेक कुलक	जिनप्रभ सूरि
११०	वीरजिन पारणक	वधमान सूरि
१११	शान्तिनाथ चरित	शुभकार्ति
*११२	शालिमद्रकक्का	पद्म
११३	शालिमद्रमालुका	
११४	शीलसंधि	ईश्वरगणि
*११५	श्रायकधर्म दाहा	देवसेन
११६	श्रायक विधि	जिनप्रभ सूरि
११७	श्रायकाचार	देवसेन
११८	श्रापाल चरित्र	नरसेन
११९	श्रीपाल चरित्र	रघू
१२०	पट्कमापदेश	अमरकीर्ति (१२७४ वि०)
*१२१	संयममजरी	महेश्वर सूरि

*१२२	सघपति समारा रास	अबद्वेष सूरि
१२३	समघनाथ चरित	तेजपाल
१२४	सवेगमातृका	
*१२५.	सदेश रासक	अब्दुल रहमान
१२६	समति तिन चरित	रइधू
१२७	सकुमाल स्वामि चरित	पुष्पमद्र (पूषमद्र)
१२८.	सुकुमाल चरित	भाषर
१२९.	सुगष दशमी कथा	
१३०	सुदशन चरित्र	नयनदिन (११०० वि०)
१३१	सुमद्रा चरित्र	अभयगणि (स० ११६१ वि)
१३२	सुभाषित कुलक	चिनमद्र
*१३३	स्थूलमद्र पाग	चिनपद्म सूरि (१२५७ वि०)
१३४	हरिवंश पुराण	स्वयंमू, श्रीर त्रिसुवन ।
१३५.	हरिवंश पुराण	रइधू
१३६	हरिवंश पुराण	धुतिकार्ति
*१३७	सिद्धहेम श बानुशासन (संकलित अपभ्रंश छंद)—हेमचन्द्र	
१२८	शान प्रकाश कुलक जिनप्रम सूरि । ^१	

यद्यपि उपयुक्त ग्रन्थ-सूची पूर्य नहीं है, फिर भी उससे अपभ्रंश-साहित्य का याति का कुछ आभास हो सकता है। इतने सधि, कुलक, चउरई, आराधना, रास, वाँचर, पाग, स्तुति, स्तोत्र, कथा, चरित, पुराण आदि प्रकार के कान्व्यों में मानव जावन और जगन् का अनेक भावनाओं और विचारों का वाया मिला है। यदि एक आर इसमें जैन मुनियों के चिंतन का चित्तमणि है, तो दूसरा और बौद्ध सिद्धों का सहज साधना का सिद्धि मो है यदि एक और धार्मिक आदर्शों का ध्याग्यान है तो दूसरा आर साक जावन से उत्पन्न हाने वाले ऐहिक रस का रागरजित अनुकथन है। यदि यह साहित्य नाना शलाका पुरुषों के उदात्त जावन चरित से सम्पन्न है, तो सामान्य वयिक पुनों के दुख-सुख की कहानी से भी परिपूर्य है। तीर्थकरों की मावाच्य वसित स्तुतियों, अनुभव भरी सूक्तियों, रहस्यमयी अनुभूतियों, वैभव विलास की भाँकियों आदि के साथ ही उन्मुक्त वन्य जीवन की शीय स्नेह वित्त

१ यह सूची मुश्कत प्रो० हरि दामोदर बेनण्टर द्वारा संपादित 'जित रत्न कोष (खंड १) १९४४ ई० से तयार की गयी है। विशेष विवरण के लिए उक्त कोष' देखना उचित होगा। कुछ पुस्तकों के नाम भवेकान्त से भी छोड़ गये हैं। सारवांकित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

गाथाओं के विविध चित्रों से अपभ्रंश साहित्य की विशाल चित्रशाला सुशोभित है। स्वयम् जैसे महाकवि के हाथों इसका बीजारोपण हुआ। पुष्पदन्त, घनपाल, हरिभद्र, जोइन्दु, रामसिंह, देवसेन, कनकामर, हेमचन्द्र, रामप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, जिनपद्म, विनयचन्द्र, राजशेखर, शालिभद्र, अन्दुल रहमान, सरह और फाएह जैसी प्रतिमाओं ने इसे प्रतिष्ठित किया और अंतिम दिनों में भी इस साहित्य को यश कीर्ति और रश्मि जैसे खवतोमुखी प्रतिमा वाले महाकवियों का सबल प्राप्त हुआ। ऐसे महाकवियों और इतने महाकाव्यों तथा गीतकाव्यों के इस साहित्य का, जो आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक सुदूर दक्षिण को छोड़कर शेष संपूर्ण भारतवर्ष के सामान्य लोक तथा शिक्षित महिला के हृदय की धारणी या, भारतीय साहित्य में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है—यह सहज ही अनुभेय है।

अस्तु, एक एक करके अपभ्रंश साहित्य के विभिन्न अंगों का अभ्ययन करना चाहिए।

पुराण-साहित्य

ब्राह्मणों की तरह जैनों का भी अपना पुराण साहित्य है। सामान्यतः दिग्बर जैनों के धार्मिक साहित्य के चार भाग किये जाते हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में तीर्थंकर आदि पुरुषोत्तमों का चरित्र-वर्णन किया जाता है और यही महापुराण है। इस तरह महापुराण अथवा पुराण-साहित्य दिग्बर मत के इसी प्रथमानुयोग की एक शाखा है जिसमें तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों आदि तिरसठ शलाका पुरुषों के जन्म-जन्मान्तर की जीवन गथाओं को लेकर विशाल साहित्य की सृष्टि की गयी है। भारतीय साहित्य में पौराणिक रचनाओं का एक विशेष युग दिखायी पड़ता है जब ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी मत वाले अपने अपने ढंग से बहुत बड़े पैमाने पर पुराणों की रचनाएँ करते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि सामान्य जन-समूह तक शास्त्र और आगमों की विचारधारा को लोक प्रिय तथा भोगमय ढंग से पहुँचाने के लिए पुराण-साहित्य का आविर्भाव हुआ। कहीं कहीं इन ब्राह्मण, बौद्ध और जैन पुराणों में एक ही तथा एक-से ही महापुरुषों को जीवन-गाथाएँ मिलती हैं, फिर भी उनके अपने अपने धार्मिक आग्रहों ने उन गाथाओं में बाह्य-बहुत परिवर्तन कर डाला है।

जैनों ने अपने पुराण संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में लिखे हैं। तीर्थंकरों में ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर के जीवन को

लेकर अपभ्रंश में काफी रचनाएँ की गयी हैं। चन्द्रवर्तियों में भी यशाधर, नागकुमार, करकड्डु आदि राजाओं पर कई काव्य लिखे गये हैं। इन सनक अतिरिक्त राम कथा और कृष्ण कथा का भी नैन कवियों ने अपन ढंग से भाषा-वृद्ध किया है। पौराणिक गाथाओं की जानकारी के लिए अपभ्रंश में सबसे बड़ा ग्रन्थ पुष्पदत्त का महापुराण अथवा ति सठि महापुरिस-गुणालकार है जिसमें २४ तायकरों, १२ चन्द्रवर्तियों, ६ बलदेवों, ६ नारायणों और ६ प्रतिनारायणों का जावन चरित काव्यात्मक ढंग से वर्णित किया गया है। महापुराण दो भागों में विभाजित है आदिपुराण और उत्तरपुराण। आदिपुराण में प्रथम तीयकर शृंगभदेव का विस्तृत जावन चरित ८० सधियों में वर्णित है और उत्तरपुराण में शेष २३ तीयकरों तथा उनके समकालीन पुरुषों का जावन-चरित ४२ सधियों में लिखा गया है। उत्तरपुराण का ही एक अंश हरिवंश पुराण है जिसमें कृष्ण की कथा वा हुई है इसका अनिर्दिष्ट राम कथा भा उत्तरपुराण का ही एक अंग है। नैनो द्वारा लिखे हुए अपभ्रंश के पुराण-साहित्य में हिंदी-साहित्य की दृष्टि से रामकाव्य और कृष्ण-काव्य का परिचय विशेष महत्त्वपूर्ण है।

अपभ्रंश में राम काव्य के प्रथम कवि स्वयंभू (द्वितीय शताब्दी ईसा) हैं और यही अपभ्रंश के चाल्माकि भा हैं। स्वयंभू उत्तर कर रहे वाले थे, परन्तु एसा प्रतीत होता है कि कुछ दिनों के बाद वे अपने सरलक रयडा रामकाव्य धनजय के साथ दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में चले गये। स्वयंभू को काव्य और पाण्डित्य उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। उनके पिता मारुतिदेश मा, उन्हीं के शादों में कवि थे। स्वयंभू के व्यक्तिगत जीवन के विषय में फरल इतना ही मालूम हो सका है कि वे जैन मुनि नहीं बल्कि उपासक-मान थे स्वयं उन्हीं के अनुसार उनका दा गिनया था। काव्य-कला में दक्ष होने के साथ ही स्वयंभू छंद शास्त्र और व्याकरण में भी निष्णात थे। उनके लिखे हुए चार ग्रन्थ बताये जाते हैं।

- १ पउम चरित (पद्म चरित अथवा रामचरित)
- २ रिद्धणेमि चरित (अरिष्टनमि चरित या हरिवंश पुराण)
- ३ पचमि चरित (नागकुमार चरित)
- ४ स्वयंभू लुंढ

इन चारों ग्रन्थों में जिसका लिए स्वयंभू की ख्याति है, वह है उनका प्रथम काव्य 'पउम चरित' अथवा रामायण। पाँच काण्ड और तिरासा सधियों वाला

१ धी मधु सूक्त मोगी ने (अपभ्रंश पाठावली पृ०) स्वयंभू को चतुर्मुख

यह विशाल महाकाव्य अष्टमश का आदि काव्य है। अपनी 'रामायण' के काएडों का विभाजन करते समय वाल्मीकि को सामने रखते हुए भी स्वयम् ने अपनी रुचि से थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया है जैसे पहले काएड का नाम उन्होंने 'बाल काएड' न रखकर 'विद्याधर काह' रखा है और अरण्य तथा किष्किंधा काएड का एकदम निकाल दिया है शेष काहों के नाम वाल्मीकिजन् हैं। स्वयम् की रामायण में रामचरित का वास्तविक आरम्भ अयोध्या काह से होता है।

अपने महाकाव्य का आरम्भ स्वयम् ने बड़ी ही उदात्त भूमिका के साथ किया है जिसमें कवि व नम्र आत्म नियेदन के बावजूद उसके अडिग आत्म विश्वास का आभास मिलता है। काएड की पुरानी परंपरा का पालन करते हुए आरम्भ में स्वयम् ने पंडिता स निवेदन किया है कि मेरे समान कुकवि कोई दूसरा न होगा न तो मैं कुछ पाकण्य जानता हूँ और न वृत्ति-रूप का व्याख्यान ही कर सकता हूँ न मैंने पाँचों महाकाव्यों का सुना है और न विंगल प्रस्ताव आदि छंद-लक्षण ही जानता हूँ भामह बंदा के अलंकारशास्त्र से भी मैं परिचित नहीं हूँ फिर भी मैं काव्य रचना का व्यवसाय छोड़ने में असमर्थ हूँ।

लेकिन यह नम्रता कोरी नम्रता अथवा परंपरा-पालन नहीं है। यह सारा कथन उस निर्भोक् धारणा की पृष्ठभूमि है, जिसमें कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मैं जिन लोगों के लिए अपने काव्य की रचना कर रहा हूँ, उनके लिए इतना पंडिताई की जरूरत नहीं है।

कवि की विशेषता ता, देखिय—

सामान्य भास छुडु मा विहृडु ।

छुडु भागम भुति किपि घडु ॥

छुडु होति सुश्रावण-वमण्ड ।

गामेत्त भास परिहरण्ड ॥

यह 'सामान्य भास' को छोड़ने में असमर्थ है 'गामेत्त भास' का त्याग कर कुछ आगम-भुक्ति गढ़ने में उसे उत्साह नहीं है—और इस आगम-भुक्ति गढ़ने में भी कितना व्यग है। स्वयम् श्लोक के साथ कहते हैं कि यदि कोई सज्जन मेरे इस अत्रुद्धि प्रवचन पर रोष प्रकट करे तो उस श्लोक को 'हयु-यल्लिड' होने के सिवा और क्या रास्ता है? कितना सीधा है यह सौकन।

स्वयम् लिखा है लेकिन प्रमो जी (जन सा० इति० प० ३७० ७३) बेलणकर (स्व० पृ० भूमिका पृ ७१-७४ रा० ए० सो० ज० बम्बई—नित्य २ १९१५) और हीरालाल जन ने (नागपुर यूनिवर्सिटी जनल दिस० ३५) सप्रमाण ऋतुमुष और स्वयम् को दो भिन्न भिन्न कवि बतलाया है।

स्वयम् को अपनी रचना साधारण लोगों तक पहुँचानी है और इसके लिए आवश्यक है साधारण लोगों की भाषा का माध्यम। इस महान उद्देश्य के लिए वे सारा व्याकरण, अलंकार-शास्त्र और पितालशास्त्र निह्तावर करने के लिए तैयार हैं। महान उद्देश्य ही कवि को जवदस्त आत्म-प्रियास देता है। लोक सुख में ही स्वयम् को आत्म-सुख है और इसी आत्म-सुख के लिए उन्होंने अपनी 'रामायण रची—'पुण्यु अण्णउ पायडीन रामायण कवि'।

रामकथा कहते समय स्वयम् के सामने सदैव यही उद्देश्य रहा। राम के रूप में उन्होंने न तो किसी महान आदर्श चरित्र की सृष्टि की और न उसमें अलौकिकता का कोई इन्द्रजाल खड़ा किया। राम के रूप में उन्होंने किसी राजा के सुख वैभव का लालस घणन करने में भी अपनी शक्ति नहीं लगाई। राम के यथार्थ मानव चरित्र का इस नैन कवि ने नैसा अनुभव किया, वैसा बिना किसी लाव लपट के सामने रख दिया न राम के दोषों पर पर्दा डालना और न गुणों को अत्यधिक उजागर करना। स्वयम् के राम बाल्माकि के राम की ही तरह अपनी मण्डूक मानवाय दुबलताओं और मानवीय शक्ति के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। एक ओर यदि वे दैवा विपत्तियों के विरुद्ध पौरुष के प्रतिमान हैं तो दूसरी ओर शक्तिहीन लक्ष्मण के मुमुक्षु शरार पर असहाय साधारण आदमी की तरह विलखने वाले कक्षा निगमित नवनीत हैं। यदि वे कम फल की सीमा में निरंतर काय रत रहने वाले कमजोर हैं, तो कम शृङ्खला के बंधन में कराहते हुए जीवन-सध्या पिताने वाले निवाणो मुख पथिक भी हैं जो नारी के वियोग में सम्पूर्ण सृष्टि को अपने आँसुओं से गीला कर देता है और समुद्र पार करके रावण जैसे दुबमनीय राजा से सपथ करता है, यही पुरुष उस नारी के शरण में आने पर उसके सत्त्व का उपहास करता है और निष्कण भाव से उसे अग्नि को सौंप देता है।

स्वयम् ने राम के चरित्र और व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों का यथा ही अंतर्दृष्टि चित्रण किया है।

नारी के प्रति पुरुष-मान का दृष्टिकोण उस युग में (और आज भी) कैसा था यह 'अग्नि परीक्षा' वाले प्रसंग में राम के 'वनहार' द्वारा स्वयम् ने मली भाँति प्रकट कर दिया है। पुण्यकर्मिण पर चढ़ाकर साता कोशल नगरी में लाई जाती हैं। उनका शुभागमन का एक ओर भय वातावरण और दूसरी ओर उस वातावरण में राम का आँखा व्यवहार! इस विरोध के द्वारा स्वयम् ने प्रसंग का अत्यंत मार्मिक और प्रभावशाली बना दिया है। यह है साता के शुभागमन का वातावरण—

पुष्प विमारणे चन्द्रिय अणुरार्प

परिमिय विज्जहर-सवार्प

यह विशाल महाकाव्य अपभ्रंश का आदि काव्य है। अपनी 'रामायण' के काण्डों का विभाजन करते समय वाल्मीकि का सामने रखते हुए भी स्वयं ने अपनी रुचि से थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया है जैसे पहले काण्ड का नाम उन्होंने 'बाल काण्ड' न रखकर 'त्रिग्राघर काण्ड' रखा है और अरुण्य तथा किष्किंधा काण्ड का एकदम निकाल दिया है। शेष काण्डों का नाम वाल्मीकिगत हैं। स्वयं की रामायण में रामचरित का वास्तविक आरम्भ अयोध्या काण्ड से होता है।

अपने महाकाव्य का आरम्भ स्वयं ने यही ही उदात्त भूमिका के साथ किया है जिसमें कवि के नम्र आत्म निवेदन के घावन्द उसका अद्विग आत्म विश्वास का आभास मिलता है। काव्यारम्भ की पुरानी परंपरा का पालन करते हुए आरम्भ में स्वयं ने पंडितों से निषेधन किया है कि मरे समान कुकवि कोई दूसरा न होगा न ता मैं कुछ व्याकरण जानता हूँ और न वृत्ति-पद्य का व्याख्यान ही कर सकता हूँ न मैंने पैंची महाकाव्यों का सुना है और न पिगल प्रस्तार आदि छंद-लक्षण ही जानता हूँ। मामह बड़ा व अलकाशास्त्र से भी मैं परिचित नहीं हूँ फिर भी मैं काव्य रचना का व्यवसाय छोड़ने में असमर्थ हूँ।

लेकिन यह नम्रता कोरी नम्रता अथवा परंपरा-पालन नहीं है। यह सारा कथन उस निर्मल घोषणा की पृष्ठभूमि है, जिसमें कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मैं जिन लोगों के लिए अपने काव्य की रचना कर रहा हूँ, उनके लिए इतनी पंडिताई की जरूरत नहीं है।

कवि का विशेषता ता, देखिये—

सामान्य भाषा छुड़ु मा विह्वल ।

छुड़ु आगम वृत्ति कृति घटत ॥

छुड़ु होंति सुहासिय-व्यपलाद ।

गामेल्ल भाषा परिहरणाइ ॥

यह 'सामान्य भाषा को छोड़ने में असमर्थ है 'गामेल्ल भाषा' को 'योग कर कुछ आगम-युक्ति गढ़ने में उसे उत्साह नहीं है—और इस आगम-युक्ति गढ़ने' में भी कितना व्यंग्य है। स्वयं ने खेद के साथ कहते हैं कि यदि कोई सज्जन मरे इस अबुद्धि प्रदर्शन पर रोप प्रकट करे तो उस खल की 'इत्युत्थलित' होने के सिवा और क्या रास्ता है? कितना सीधा है यह पाँकपन।

स्वयं निरा है सकिन प्रभो जी (जन सा० इति० प० ३७० ७३) बेलखर (स्व घं० भूमिका पृ० ७२ ७४ रा० ए० सो ज० बय्यई—निर २ १६३४) और हीरानाथ जन मे (मागपुर युनिवर्सिटी जनस वि० ३५) सप्रमाण अनुभूत और स्वयं को दो भिन्न भिन्न कवि बनवाया है।

स्वयम् का अग्रना रचना साधारण लोगों तक पहुँचानी है और इसक लिए आवश्यक है साधारण लोगों का भाषा का माध्यम। इस महान उद्देश्य के लिए वे सारा साहित्य, अलंकार शास्त्र और विंगणशास्त्र निहान करने के लिए तैयार हैं। महान उद्देश्य हा कवि को अबदस्त आम-विरवास देता है। लोक मुन्य में हा स्वयम् का आम-मुख है और इसा आत्म-मुख के लिए उन्होंने अग्रना 'रामायण' रचा—'पुण्य अणुण्ड पायटान रामायणु कार्ये ।'

रामकथा कहते समय स्वयम् के सामने सदैव यही उद्देश्य रहा। राम के रूप में उन्होंने न ता किसा महान आदश चरित्र की सृष्टि का और न उसमें अलौकिकता का काइ दन्द्रपाल खड़ा किया। राम के रूप में उन्होंने किसा राणा के मुख वैभव का लालस यखन करने में भा अग्रना शक्ति नहीं लाइ। राम के यथाय मानव चरित्र का इस नैन कवि न वैसा अनुभव किया, वैसा बिना किसी लान लपट के सामने ग्व दिया न राम के दाओं पर पदा डालना और न पुणों का अत्रधिक उजागर करना। स्वयम् के राम बालनाकि के राम को हा तरह अग्रनी म्णु मानवाय दुबलताओं और मानवाय शक्ति के प्रतिनिधि नकर आत हैं। एक आर यदि वे देवा विरानियों के विरुद्ध पौष के प्रतिमान हैं ता दूसरी आर शक्तिहत् लक्ष्मण के मुन्य शरार पर असहाय साधारण आदमी की तरह विभन्वत बान करुणा विगलित नबनात हैं। यदि वे कम पल का सामा म निरंतर कावरत रहने बात कमना हैं, ता कम-गुल्ला के धवन में कराहत हुए जानन-संप्या विमान बान निवारो मुख पथिक भा हैं ता नारा के विदाग में सम्ण सृष्टि को अपने आमुओं से माला कर नेता है और मनु दर पार करके रावण जैसे दुदमनाय राणा स मवर करना है, यही पुरुष उस नारी के शरण में आन पर उसके सवात्व का उहास करता है और निष्कण्य भाव से उसे अग्नि का सौर देता है।

स्वयम् ने राम के चरित्र आर व्यक्तित्व के इन दानों पत्तों का बड़ा हा जान्या चित्रण किया है।

नारा के प्रति पुण्य-भाय का दृष्टिकान्य उस युग में (और आज मा) कैसा। यह 'अग्नि परीक्षा' वाल प्रसंग में राम के व्यवहार द्वारा स्वयम् ने भला मानि कट कर दिया है। पुणकर्मिमान पर चदाकर सता काशल नारी में लाइ जाता हैं। नके पुमागमन का एक आर मन्व बानारण्य और दूसरी आर उठ बातारण्य में म का आद्धा व्यवहार। इस विगथ के द्वारा स्वयम् ने प्रसंग को अत्यंत मार्मिक और प्रभावशाली बना दिया है। यह है सवा के गुमागमन का बातारण्य—

पुरुक विमारे चदिय अणुराए
परिमिय विगहर-समारए

कौशल-नगरि परादय चायहि
 दिणमणि गड अत्य-बणहोतावहि
 अत्यही प्रियमेण शिखासिय
 तव उचवणहो मज्जक आवासिय
 कहवि विहाणु भाणु णहे उग्गाड
 अहि-मुहु सज्जण-सोड समागड
 दिग्गण्ड तरइ म गल्लु घोसिड
 पट्टणु गिरवसेसु परिआसिड
 सीय पइठ गिवट्ट वरासणे
 सासण देवए ज जिणु-सासणे

परमेसरि पम्म-समागमे भक्ति शिहालिय हल हरेण ।

सिय-यक्खहा दिवसे पहिल्लए चंद-सह खं सायरेण ॥

सीता पुष्पक विमान पर चढ़कर अनुराग से आई विद्याधरों का समूह
 उन्हें घेरे हुए था। काशाल नगरी में जब यह पहुँची ता दिनमणि अस्ताचल को
 जा रहे थे। जो राता इतने सम्मान से बुलाई गयी थी और स्वयं इतने अनुराग से
 आई थी उसके साथ राजधाना में क्या यतन किया जाता है कि उसे राजमहल में
 जगह नहीं दी जाती! जगह कहाँ दी जाती है कि राजा के उपवन में! क्यों!
 क्योंकि वह इस समय प्रियतम द्वारा निर्वासित है। सध्या सवि की बला कही गयी
 है दिन भर के पके मोंदे शाम का मिलते हैं। लेकिन बारह यों के बाद जब
 साता आती हैं ता उन्हें रात भर प्रताप्ता के लिए बाहर छोड़ दिया जाता है।
 पति राजमहल में है और पत्नी उपवन में! पुरुष राजमुग्न भाग रहा है और नारी
 आसमान के तारे गिन रही है। आखिर विहान हाता है नम भ मानु उगत हैं,
 'सज्जन लाग' आते हैं। मगल घोष करने वाले तूय यथाये जाते हैं—(मगल के
 लिए उतना नहीं जितना) निरवशेष पट्टन का परिष्ठापित करने के लिए कि हों,
 सीता की अग्नि-पराक्षा होगी।

ऐसे ही समय सीता प्रवेश करती है वरासण पर बैठता हैं। एक हा उपमा
 में कवि सीता का सपूर्ण गरिमा और स्थिरता को व्यक्त कर देता है। बैठा हुई सीता
 एसी लग रही हैं जैसे जिनशासन पर शासन देवता। और तब इतने लंबे यवधान
 के बाद इस प्रथम समागम में परमेश्वरी साता सहसा हलधर (राम) द्वारा देखी
 जाती है। यह दृष्टिपात कैसा है! जैसे सागर सित पद्म के प्रथम दिन चन्द्रलता
 की देखे! इसके बाद—

कतहि तणिय कंति पेनसेपियु
 पमणइ पोम णाहु विहसेपियु
 'जइ वि कुलगायाउ गिरवअउ
 महिलउ होति असुद्ध णिलअउ
 दर दाविय कठमख विकम्बेवउ
 कुडिल-मइउ वडिअ अवलेवउ
 बाहिर पिठउ गुण परिहाणउ
 किइ सय-सहु न जति ति हीणुठ
 णउ गणति थिय-कुल मइलतउ
 तिहुअणे अयस-पढहु वज्जतउ
 अंगु समोडेवि धिद्धिककारहो
 वयणु णिएति केम भत्तारहो ।

कहाँ तो सागर का प्रथमा की चन्द्रलेखा की ओर निहारना—कान्ता की कान्ति का देखना और कहाँ उनका वह विहँसना । और फिर विहँसकर धिक्कार मरी ये बातें कहना ! 'महिलाएँ अशुद्ध होती हैं, निलम्ब होती हैं, मलिनमति होती हैं ! बहिष्कृष्टा होने पर टुकड़े टुकड़े हो जाती हैं और इस तरह हीन हो जाती हैं । त्रिभुवन में अपने कुल को मलिन करके अयश फैलाता है मला ऐसी नारी का मुख उसका मतार कैसे देखे !'

पता नहीं इतना कहने से पहले राम ने सीता का वह मुख कैसे देखा या !

अब राम क इस श्याम चरित्र की पृष्ठभूमि में स्वयम् को साता का सित चित्र देखिए—

साय ण मीय सहत्तण-वावे
 बलेवि पवाल्लिय गग्गर सणे
 'पुरिस णिहाण होति गुणवत वि
 तियहे ण पत्ति-नति मरंत वि

खड्डु लक्कड्डु सलिल वहतिहे पउराणियहे कुलगायहे ।

रयणायर खार इ देतउ वा वि ण पक्कइ य सरहे ॥

साणु ण ऋण वि णणेय गणियइ
 गगा-णइहे तं जि एहाइअइ
 ससि स-कलकु तहि मि पइ णिमल
 फालउ महु वडि नि वडि उमल

उबलु अ पु-बु ख केण वि छिप्पइ
 सहि पदिम चदणेण वि लिप्पइ
 घुञ्जइ पाउ पंफु जइ लाग्गइ
 कमल माल पुण जिण्णहा बलाग्गइ
 दीघउ होइ सहावै कालउ
 घट्टि सिहए मडिजइ आलउ
 णर-णारिहि एवडुउ अतरु
 मरणे वि वेल्लि ण भेल्लइ तरुवरु
 एइ पइ कवणा योल्ल पाररंभिय
 सह-वडाय मइ अजु समुम्भिय
 तुट्टु पनखतउ अञ्चु विसत्थउ
 डहउ जलगु जय डहिवि समत्थउ

कि किजइ अण्णइ विध्वे जेण विमुभण्णे महु मण्हो ।

अिह कण्णय-लोलि डाहुत्तर अञ्चमि मण्णे हुआण्हण्हो ॥

राम की वैसी मकिन वाणी सुनकर भी सीता सयत रहीं । उनके मन में तनिक भी भय न आया । सतीत्व के गर्व से उन्होंने सिर ऊँचा रखा और अपने पहले ही वाक्य से राम को बंध दिया 'पुरुष गुणवान होकर भी निहीन हाते हैं । मरती हुई स्त्री का भी विश्वास नहीं करते । वे उस रनाकार की तरह हैं जो चार देकर भी नदियों से नहीं विरमता ।' आग नर नारी का अंतर थतलाते हुए सीता कहती हैं कि दोनों में इतना ही अंतर है कि मरने पर मा बल्ली तरुवर का नहीं छोड़ती !

अत म सीता कहती हैं कि तुम्हारे मुख से ऐसा शब्द कैसे निकला ! आज मैं सतीत्व की पताका पहराऊगी । तुम विश्वस्त होकर देखते रहो, आग यदि समय हो तो मुझ जलाए । जग मरा मन विशुद्ध है ता इस दिव्य शक्ति का किया क्या होगा ?

स्वयम् की सीता के य वाक्य धाल्मीकि की सीता की याद दिला देत हैं । इतना हो जाने पर कवि का विशय दृष्टिकोण उभर आता है और एसी महिमामयी नारी को कर्म-फल निश्वासी जैन कवि नीचे उतार कर रख देता है । आग से तपकर असली सीता ता शायद स्वरे खाने की तरह और भी कान्तिमयी हाकर निकली होगी, लेकिन स्वयम् की सीता कर्म-फल की विमूति रमाए बाहर आइ । खेद है कि जिस स्वयं प्रतिमा को कवि ने इतने परिश्रम सं गढ़कर तैयार किया उसे अपने ही हाथों जलाकर चार कर दिया । कवि को क्या पता कि उसकी सृष्टि अग्नि प्रवेश

से पहले तितनी ही तेजीमया थी, उससे निकलने के बाद उतना हा म्यान मस्माहत चिनगारा मात्र रह गई !

राव ने जमापाचना कर ला और मारतापता का मूत किंतु परित्यक्त स्नेहशाला सीता देवी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—

“आहो राहव म जाहि विसावहो
एवि तड दास गु षण्ण-सधानहो
भव-भव-सपहि विणासिव धम्महो
सत्तु दासु इव दुक्किय-क्म्महा ।”

न तुम्हारा दाप है न जनसमूह का । दाप तो दुष्कृतकर्म का है ! और इस दाप से मुक्त होने का एक मात्र उपाय यहा है कि ऐसा किया जाय जिससे फिर स्वान्यानि में जन्म न लेना पड़े ।

‘एमहि विह करामि पुणु रदुंर
तिह ए हामि पडिवारें निय मइ ।’

यावत्पूरे कमफल दशन के, इस कथन में नारी-हृदय का कितना यड़ी वेदना झिगा है ! नारा पर पुरुषों के अत्याचार का इतना मार्मिक अनुमूति और करा हा सकता है !

यही से नैन कवि के जीवन दशन का शासन स्वाकार कर आता जिन धम में दाक्षित हा जाता है । स्वयम्भू का रामायण का पथवसान इसा शम भाव में होता है । यही पञ्चमचरित के दर्शनी नधि समाप्ति हाना है ।

एसा वास्तविक मानस नूर्तिर्वा गदन में बहा कवि सफल हाना है जिन मानस-मन के भागे और विकारों की सच्ची परल्प हा । स्वयम्भू एन हा सधवनशाल कवि य जिहें विविध परिस्थितियों में पड हुए मनुष्य की मानसिक उपल पुषल का पहचानने और फिर उप पुने भावानस के साथ शब्दों में उतार देने की अद्भुत शक्ति प्राप्त था । राम का करुण-कथा में एन अनक मार्मिक प्रसंग आते हैं जहाँ चरित्रों के साथ खय कवि का और फिर कवि के साथ पाठकों का हृदय सामा ताडकर यह चलता है । आहत लम्पट के लिए भरत का विलाप एक एसा हा मार्मिक प्रसंग है । एत अवसर पर राम का विलाप तो बहुतों ने व्यक्त किया है लेकिन भरत के हृदय का दर्शा मा काव्य का विषय हा करता है—इसका आर स्वयम्भू न ध्यान दिया है । यह बहा भरत हैं जो राम से मन में निजन के लिए आर एव ता लक्ष्मण ने ठाई शकाकुल दृष्टि दन्वा से था और फिर उनन लइन के लिए पूरा तैयार हो था । एत ही यधु के लिए भरत इस प्रकार विलाप करत हैं—

लामइ रयणावरे रयण-खाण
 लामइ कोइल-कुले मडुर घाणि
 लामइ चंदणु सिरि मलय सिंगे
 लामइ मुपत्तणु जुवइ अंगे
 लामइ धणु वणए धरा पवणु
 लामइ कंचणे परवए सदणु
 लामइ पेसेणु यामिए पसाउ
 लामइ किए विणए जणाणुराउ
 लामइ सअणे गुण दाणे कित्ति
 सिय अशिवरे गुद उले परम तित्ति
 लामइ वसियरण कलच रयणु
 महकणे मुहाठिउ सुकइ-वयणु
 लामइ उवयार-मइहि सुमित्त
 महवे हि त्रिलासिणि चारु चित्त
 लामइ परतीरि महग्घु महु
 वरवेणु-मूले वेलुअ उह

गय-भोत्तिउ तिघणरोवे मणिए, वइरागरहो वअ पउठ ।

आयइ सवइ सवभति जइ, एवर ए लामइ भाइवठ ॥

संसार में तमाम चीजें मिल सकती हैं लेकिन भाई नहीं मिल सकता । लक्ष्मण के गिर पड़ने पर भरत कहते हैं—‘महु शिवडिकसि दाहिणउ पाणि !’ अर्थात् मेरी तो दाहिनी भुजा ही टूट गई ।

आदि कवि बाल्मीकि का ही मानि स्वयम् भी जायन क करण प्रसंगों के सन्धे पारखी थे । राम के ‘यनगमन’ का प्रसंग ऐसा ही मार्मिक है, जिसका वरण समी कवियों ने अपने अपने ढंग से किया है किन्तु स्वयम् ने उसमें अनूठी मार्मिकता का परिचय दिया है, पुत्र वियाग के समय माता का विलाप स्वयम् के शब्दों में सुनिए—

हाहा काई सुत पइ हलहर, दसरह-वस-वीव जग सुन्दर ।

पइ विणु को पत्तके सुवेसइ, पइ विणु को अरयाणे वईसइ ।

पई विणु को हय-गयहूँ खडेसइ, पई विणु को फिन्दुएण रसेसइ ।

पई विणु रायनडिउ को माणइ पई विणु को तन्वोसु सपाणइ ।

पइ विणु को पर-वसु भजेपइ, पइ विणु को मइ साहारेसइ ।

—(२१२१४)

जनना साचती है कि राम जब उन चल जायेंगे तो उनकी पलंग सूनी हो जायगा, श्रयाद् उदास हो जायगी, हाथा-पाड़े पड़े रहेंगे, लगाया हुआ पान खरा रह जायगा, राज-लक्ष्मी अनाथ हो जायगा। राम क न रहने पर भी ये वस्तुएँ रह जायगा। इनमें से एक एक का देखकर राम की याद आएगा। ऐसा दशा में इन वस्तुओं का वे किस प्रकार देखेंगे और देखकर भी हृदय धारण कैसे करेंगी? इन साधा-सादी बातों में कितनी गूढ़ गमार् अनुभूति है! स्वयम् की इन पत्तियों में लाक-गात का सहज रस है।

वन-गमन की करुण प्रसंग-शृंगला का पराकाष्ठा वह है जब महलों में रहने वाला राजवधू जानका घर से बाहर चरण रखता हैं। उस समय स्वयम् की कल्पना कितनी ऊँचा उड़ान भरता है—यह देखने योग्य है। जानकी अपने मंदिर से क्या निकली, माना हिमवान से गंगा निकल पड़ा, छुदस् से गायत्रा निकल पड़ी, शब्द से विभक्ति निकल पड़ा

एष्य मन्दिर हो विणिगय भाणइ ।

ए हिमवन्तहो गग महाणइ ।

ए छद्दहो णिगय गायत्ती ।

ए सद्दहो एोसरिष विहत्तो ॥

—(२।२३।६)

भरत सा ही करुण विलास रावण का मृत्यु पर विमापण का भी है। अग्ने भाई का धारकर जा विमापण राम से मिल गया उसक हृदय में रावण को मृत्यु का याद आत्म-ब्लानि, ज्ञाम, पश्चाताप आदि कितने प्रकार क भाव उठे होंगे। कनियों ने प्राय विमापण के उस हृदय का श्रार ध्यान नहीं दिया है, और स्वयम् ने ऐसे ही समय विमापण को अपनी कवि-सुलभ सहानुभूति दी है। 'भूद्वित-जैसे पठे हुए रावण का विमापण जब निहारता है तो अग्ने का पाटवा है और फिर रावण क चरण पकड़कर रोता है—

“हा भापर, दुशिणइए मुत्तउ

सिने मुएवि कि महियल मुत्तउ

कि अयहरि करवि थिउ, सासे चडारिय चलण तुम्हारा

अच्छमि मुहम्महिउट हिउउ फुट आलिगि भडारा ॥

अथात् हे माद यह दुनिद्रा छाड़ो। सेज झोड़कर जमीन पर क्यों सोए हा? हमारी अन्दरेलना क्यों कर रहे हा? यह लो मैं अग्ने सस पर तुम्हारा चरण रख रहा हूँ। हे भटारक, तुम्हारे आलिगन से अथवा आलिगन के लिए हृदय फूट रहा है, चित्त टामथिन हो रहा है।

और इसके बाद विभीषण कहता है कि यह तुम्हारा मरण अकेले एक व्यक्ति का मरण नहीं है, बल्कि उससे कहीं अधिक बड़ी चीज है—

‘तुहु ए जिऊसि सयलु जिउ तिहुयसु
 तुहु ए मुऊसि मुयउ धदिजसु
 तुहु पडिऊसि ए, पडिउ पुरदर
 मउड ए भग्गु, भग्गु गिरि कदर
 दिडि ए एड, गड लकाउरि
 ययण ए एड, एड मन्नेपरि
 हार ए तुट्टु, तुट्टु तारायसु
 हियय ए मिणसु, मिणसु गयणगसु
 चक्कु ए दक्कु, दक्कु एककतर
 आउ ए खुट्टु, खुट्टु रयणायर
 जीउ ए गउ, गउ आवा पोडल
 तुहु ए मुत्तु, मुत्तउ महिमडल
 सीय ए आणिय, आणिय जमउरि
 हरि-वल मुट्टु कुट्टु ए केसगि ।

इस विलाप में दिवंगत का विश्वव्यापी प्रभाव ही नहीं प्रकट होता, बल्कि विलाप करने वाले माई के हृदय का समत्व भी झलक रहा है। मरा हुआ व्यक्ति जितना ही प्रभावशाली हाता है, उसके लिए किया गया विलाप भी उतना ही मार्मिक हाता है। उसका शक्ति शौर्य, प्रताप वैभव, गुण धर्म से मिलती-जुलती एक एक चीज का देख कर हृदय भर आता है। रावण धरती पर पड़ा हुआ है उसका मुकुट एक ओर झुटका गया है दृष्टि नष्ट हो गई है हार टूट कर विपन्न गया है हृदय विदीर्ण है मुह से शब्द नहीं निकलत। इन सभी चीजों का एक एक करके विभीषण देगता है और उसे लगता है कि यह रावण का मुकुट भग्न नहीं हुआ है, गिरि कदर भग्न हुआ है। यह दृष्टि नष्ट नहीं हुई है, रजय लकापुरी नष्ट हुई है। यह वचन नष्ट नहीं हुआ है, इस यवन का पान करने वाली मदादरी नष्ट हुई है। यह जा टूटकर विखर गया है वह केवल मातिया का हार नहीं है आकास क सभी तारे हैं और आह, यह भिदा हुआ विशाल हृदय। यह रावण का हृदय नहीं, विश्व-यापी आकाश है।

और इन सबके भातर से वह जीव उड़ गया है लेकिन वह जाव मात्र नहीं है उसका साथ तो आशा की पाटली ही चला गई—एक दा आशा नहीं, आशाओं की पाटली उसके साथ बहुतों का आशाए चली गई। एमे ही विलाप

के बीच है यह अद्भुत उपमा । तुम्हारी यह आयु नहीं खत्म हुई है, कभी न घटने वाला रत्नाकर समुद्र ही खत्म हो गया है । कहीं आयु जैसी सूदम वस्तु और कहीं समुद्र जैसी मूर्त उपमा ! आकार की समता नहीं है, समता है उस गुण की—ज्ञान होने की ! और आयु समाप्त होने के लिए कितना जीवंत मुहावरा प्रयुक्त हुआ है 'आयु य खुट्टु' ! लोक बोली के पारंगी तुलसी ने भी जनता के कंठ से इस प्रयोग को सुना था और 'आयु खुटानी' जैसा प्रयोग स्वयं भी किया ।

यह सम्पूर्ण कथन कौरी अलंकार-योजना नहीं है, यह हृदय का सहज प्रवाह है जिसमें न जाने कितने अलंकार अपने आप बह आते हैं और इस तरह लहरों में परोए हुए बहते रहते हैं कि विविक्षित करना कठिन होता है । यदि स्वयम् की अलंकार-योजना ही देखनी हो तो उनकी उपमाओं की एकावली अन्यत्र देखिए । वे एक दो उपमा देकर तृप्त नहीं होते—पाठक के गले यदि उपमाओं की एक माला न पहना दी जाय तो यह स्वयम् क्या ? उपमाएँ भी समी तरह की । परपरामुक्त रूढ़ उपमाएँ और एक-से एक नई उपमाएँ !

गोदावरी का बखान करते हुए स्वयम् कहते हैं—

फेलावति बन्धिय-बलयालक्षिप, ए महि बन्धुप्रहे तणिया ।

अल शिहि भस्तरहो मोतिय हारहो बाह पसारिय बाहिलिया ॥

गोदावरी क्या है मानो यधू वसुधा का दाहिनी याँह है जो यकिम फेनावालियों के बलय से अलङ्कृत है और जिसे वसुधा ने मोतियों के हार से सुरामित अपने प्रिय पति जलनिधि की ओर पैला दिया है ।

इसी प्रकार वृत्तराजि का उपमा के कुलवधू वसुधा का रामराजि से देते हैं—

कत्ययि गाय्या निह रुक्म्य-राई

शं महि कुल बहुअहि राम राई

उपमाएँ कवल उपमा के लिए नहीं ली गई हैं, कभी-कभी उनके द्वारा सामान्य मानव जीवन की ओर मार्मिक संकेत भी किया गया है । समुद्र का बखान करते-करते स्वयम् जब उसके आलाप पर पहुँचते हैं तो धीरे से कहते हैं—'शिदर्य आलाठ' य अप्पमाणु !'

कवियों को समुद्र से दूर रहने पर भी अक्सर उसका गजन हा सुनाई पड़ता है, लेकिन स्वयम् को समुद्र का शार-गुल निधन व्यक्ति के कथन का तरह अप्रमाय्य दिखाई पड़ता है । समुद्र के शोर का क्या प्रमाण है ? कान सुनने वाला है उस ! और तब सुनने वाला काह नहीं है तो फिर वह शार चाहे कितना हा ऊचा क्यों न हो, उसका प्रमाण ही क्या ! यह अपना रोना राया करे ! धाम से

श्रीर इसके बाद विभीषण कहता है कि यह तुम्हारा मरण अकेले एक व्यक्ति का मरण नहीं है, बल्कि उससे कहीं अधिक बड़ी चीज है—

‘तुहु ण जिऊसि सयलु जिउ तिहुयणु
 तुहु ण मुऊसि सुयउ वंदिजणु
 तुहु पडिऊसि ण, पडिउ पुरदरु
 मउठ ण भग्गु, भग्गु गिरि कंदरु
 दिठ्ठि ण ण्ह, ण्ह लकाउरि
 वयण ण ण्ह, ण्ह मधोयरि
 हारु ण तुट्ठ, तुट्ठ तारायणु
 हियय ण भिएणु, भिएणु गयणगणु
 चक्खु ण दक्खु, दक्खु एककंतरु
 आउ ण खुट्ठ, खुट्ठ रयणायरु
 जीउ ण गउ, गउ आसा पाटल
 वुहु ण मुत्तु, मुत्तउ महिमडल
 सीय ण आणिय, आणिय जमउरि
 हरिचल मुद कुद ण केसरि ।’

इस विलाप में दिवगत का निश्चव्यापी प्रभाव ही नहीं प्रकट होता, बल्कि विलाप करने वाले माई के हृदय का ममत्व भी झलक रहा है। मरा हुआ व्यक्ति जितना ही प्रभावशाली होता है, उसका लिए किया गया विलाप भी उतना ही मार्मिक होता है। उसके शक्ति शीघ्र प्रताप वैभवं, गुण धर्म से मिलती-जुलती एक-एक चीज को देख कर हृदय भर आता है। रावण धरती पर पड़ा हुआ है उसका मुकुट एक ओर छुटका गया है दृष्टि नष्ट हो गई है हार टूट कर निकल गया है हृदय विदीर्ण है मुह संशब्द नहीं निकलता। इन सभी चीजों का एक एक करके विभीषण देखता है और उसे लगता है कि यह रावण का मुकुट भंग नहीं हुआ है, गिरि-कंदर भंग हुआ है! यह दृष्टि नष्ट नहीं हुई है, स्वर्ण लकापुरी नष्ट हुई है! यह वचन नष्ट नहीं हुआ है, इस वचन का पान करने वाली मधोदरी नष्ट हुई है। यह जा टूटकर थिल्वर गया है वह केवल मातियों का हार नहीं है आकाश के सभी तारे हैं और आह, यह भिदा हुआ विशाल हृदय! यह रावण का हृदय नहीं, निश्चव्यापी आकाश है!

और इन सबका मातर से वह जीव उड़ गया है लेकिन वह जाव मात्र नहीं है उसके साथ ता आशा की पोटली ही चली गई—एक दो आशा नहीं, आशाओं की पाटली उसका साथ बहती का आशाएँ चली गईं। ऐसे ही विलाप

के बीच है यह अद्भुत उपमा । तुम्हारी यह आयु नहीं खत्म हुई है, कमा न घटने वाला रत्नाकर समुद्र ही खत्म हो गया है ! कहाँ आयु जैसी सूदम वस्तु और कहाँ समुद्र जैसी मूर्त उपमा ! आकार की समता नहीं है, समता है उस गुण की— क्षय होने की ! और आयु समाप्त होने के लिए कितना जीरत मुहावरा प्रयुक्त हुआ है 'आयु ख खुट्टु । लोक बोली के पारंगनी तुलसी ने भी जनता क कठ से इस प्रयोग को सुना या और 'आयु खुटानी' जैसा प्रयोग स्वयं भी किया ।

यह सम्पूर्ण कथन फोरी अलंकार-योजना नहीं है, यह हृदय का सहज प्रवाह है जिसमें न जाने कितने अलंकार अपने आप बह आते हैं और इस तरह लहरों में परोए हुए बहते रहते हैं कि विविक्त करना कठिन होता है । यदि स्वयम् की अलंकार-योजना ही देखनी हो तो उनका उपमाओं की एकावली अन्यत्र देखिए । वे एक दो उपमा देकर तंत नहीं होते—पाठक के गले यदि उपमाओं की एक माला न पहना दा तो वह स्वयम् क्या ! उपमाएँ मां सभी तरह की । परंपरासुक्त रुढ़ उपमाएँ और एक-से-एक नई उपमाएँ ।

गादायरी का वशान करते हुए स्वयम् कहते हैं—

केलावलि बक्षिय-बलयालक्षिय, ए महि बहुमहे तणिया ।

जल लिहि भत्तारहो मोतिय हारहो बाह पसारिय दाहिलिया ॥

गादावरी क्या है मानो बधू वसुधा की दाहिनी याह है जो बक्षिय फेनागलियों के बलय से अलङ्कृत है और जिसे वसुधा ने मोतियों के हार से सुराभित अपने प्रिय पति जलनिधि की ओर पैला दिया है ।

इसी प्रकार वृक्षराजि की उपमा वे कुलवधू वसुधा का रामराजि से देते हैं—

कत्यनि ग्याया निह रुक्म-राह

गं महि कुल बहुअहि रोम-राहँ

उपमाएँ कबल उपमा के लिए नहीं दी गई हैं, कभी-कभी उनके द्वारा सामान्य मानव जीवन की आरामिक संकत भी किया गया है । समुद्र का उगान करत-करते स्वयम् तब उसके आलाप पर पहुँचते हैं ता धीरे से कहते हैं— 'गिदण्य आलाउ' व अप्पमासु !'

कथियों का समुद्र से दूर रहने पर भी अक्षर उसका गजन ही सुनाई पड़ता है, लेकिन स्वयम् को समुद्र का शार-गुल निधन व्यक्ति के कथन का तरह अप्रमाण्य दिखाई पड़ता है । समुद्र के शार का क्या प्रमाण है ? कान सुनने वाला है उस ! और जब सुनने वाला कोई नहीं है तो फिर वह शार चाहे कितना हा ऊचा क्यों न हो, उसका प्रमाण ही क्या ! वह अपना राना रोया करे ! घाम से

गरजा करे ! लेकिन रत्नाकार समुद्र को नियन से उपमित करना भी कितना साकेतिक है ! निधन भी वस्तुतः रत्नाकार ही होता है, लेकिन उसके सभी रत्न तल में पड़े हुए हैं !

समुद्र को गहराई का देखकर स्वयम्भू को महाकाय की गहराई याद आती है । वे कहते हैं कि समुद्र 'महकव्य शिबधु' व सह-गहिर ।'

ऐसे ही महाकवि क महाकाव्य का देखकर समुद्र की गहराई याद आती है ! ऐसी उपमा आकस्मिक नहीं है । महाकाय की व्यापकता और गहराई के विषय में स्वयम्भू इतने सतक थे कि अक्सर ऐसी प्राकृतिक वस्तुओं से महाकाव्य की उपमा देते हैं । पायस प्रसंग में भेष-जाल का फैलते देखकर उन्हें तुरन्त मुकवि क काव्य की याद आ जाती है ।

पसरइ सुरइहि कव्य जिह, मह जाल गयगंगणे तावेहि ।

इतनी व्यापकता और गहराई ऐसे ही कवि में आता है जा मानव-जीवन क साथ ही प्रकृति के बीच भी रमा हो । मानव प्रकृति क चित्रकार स्वयम्भू की तुलिका से एक जनपद की प्राकृतिक शोभा का भी चित्रण देखिए । मगध देश का कितना सीधा-सादा चित्र है—

अहि पक्क-फलम-कमलियि शिसरगु
 अलहत तरणि थरव विसणगु
 अहि सुय-पतिउ सुपरिडियाउ
 ग यणसिरि मरगय कठियाउ
 अहि उञ्जु-यणइ पक्खादयाइ
 कपतिव पीलणमय गयाइ
 अहि उदण-वणइ मयाइराइ
 शायति व चल-पल्लय कराइ
 अहि पाडिम-वयणइ दाडिमाइ
 गुञ्चन्ति ताइ ग कइ-मुहाइ
 अहि महुयर-पतिउ सुदराउ
 कअइ केसर रय धूसराउ
 अहि दक्खा-मडव परियसति
 पुगु पयिय रस मलिलइ पियंति ।

इस चित्र की यथायथा देखने योग्य है । ऐसे ऐसे सूक्ष्म द्रष्टा कवि होते ह कि गाँवों में भी उन्हें कमलों की महार दिखाई पड़ती है । कहा भी ता है जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि । इसका सायक करने के लिए जरूरी है कि जहाँ

रवि को भी कमल न दिखाइ पड़े, यहाँ कवि देख ले। लेकिन स्वयंभू के लिए पदे धान की कलमें ही कमल हैं। और य कलम के कमल भा सूय को न पा सकने के कारण विपण्य हैं। यह मगध देश ऐसा है जिसमें जनश्री की गरकत-कटा की तरह शुक्र-पत्ति है, जहाँ हवा के भ्रंशों में मयभीत गण की भाति काँपते हुए इतक बन हैं जहाँ वानरों के मुख की तरह कट हुए लाल लाल टाङ्गिम ह और द्राक्षा के मध्य लहराते रहते हैं। देश की संपन्नता का यह हाल है कि पथिक रस हो पात हैं।

हनुमान जब लका से अयोध्या की ओर जाते हैं तो उनके दृष्टि-पथ में अनेक देश और अनेक नदियाँ पड़ती हैं। स्वयंभू ने इनमें से एक एक पर विहगम दृष्टि डाली है और दो-तीन रेखाओं में उनका सारी विशेषताएँ आँक दी हैं। कावेरा प्रदेश का चित्र की एक रेखा देलिये—

जहि द्रवणील-कर मिजमाणु

ससि याइ जुयण दपण समाणु

यह वह प्रदेश है जहाँ इन्द्रनील का आधिक्य है। इसे व्यजित करने के लिए कहा गया है कि यहाँ इन्द्रनील की किरणों से भिदकर चन्द्रमा जीण दपण का समान हो गया है।

स्वयंभू का काव्य का परिसर उहुत व्यापक है। हिमालय से लेकर समुद्र तक रनिरासा से लेकर जनपदों तक, राजकीय जल-मार्ग से लेकर युद्ध क्षेत्र तक जीवन का समा क्षेत्रों में उनका प्रवेश है। वे प्रकृति का चित्रकार हैं, भावों के जानकार हैं चिन्तन के आगार हैं। अपभ्रंश भाषा पर ऐसा अचूक अधिकार किसी भी कवि का फिर नहीं दिखाइ पड़ा। अलङ्कृत भाषा तो बहुतों ने लिखी लेकिन ऐसी प्रवाहमयी और लाक प्रचलित अपभ्रंश भाषा फिर नहीं लिखी गई। स्वयंभू गन्ध मुच ही अपभ्रंश का वात्माकि हैं परवर्ती अपभ्रंश कविया ने उन्हे बँसी हा भद्रा का साथ स्मरण किया है।

राम काव्य की जा परपरा स्वयंभू ने चलाई उसे उनके सबसे छोटे पुत्र

त्रिमुवन ने आग यदाया। त्रिमुवन भा अपने पिता की ही

त्रिमुवन भाँत परम पद्धित तथा कथि वे। उन्होंने स्वतंत्र रूप से कई

पुस्तक न लिखकर पिता का काव्य प्रथम ही परिवहन किया।

पिता न जिस 'पउम चरिउ' का ८३ सधि तक लिखकर छोड़ दिया था, उसमें त्रिमुवन न सात सधियाँ और जोड़कर उसे ९ सधियों तक पहुँचा दिया। कथानक और चरित्र का दृष्टि से स्वयंभू ने 'पउम चरिउ' का चरमात्क्य पर हा ले जाकर छोड़ा था, लेकिन त्रिमुवन की उसमें कुछ कमी दिखाइ पड़ी। कमा यह था कि

राम कथा की परिसमाप्ति अच्छी तरह जैन मत के अनुसार नहीं हो सकी थी—राम जिनवर्म में दीक्षित नहीं हो सके थे, उनका परिनिर्वाण शक्य था, उन्हें जिनवर्म के विविध उपदेश सुनने को नहीं मिले थे, कुछ उपदेशमूलक इतर कथाएँ रह गई थीं और जन्म-जन्मान्तरों की चर्चा बाकी थी। योग्य पुत्र ने इन सबको अच्छी तरह उम्रमें रखाया। इतना ही नहीं, उनके कथन से मालूम होता है कि उन्होंने पिता का 'महाकाव्य' के बीच-बीच में भी कुछ कथ्यक जोड़े हैं। इस तरह वर्तमान 'पउम चरित' स्वयंभू और त्रिभुवन दानों ही की सम्मिलित कृति है, जिसमें निस्सन्देह गुण और भाषा दोनों दृष्टियों से अधिकांश स्वयंभू का है। ध्यान से देखने पर पिता और पुत्र दोनों की रचनाओं का अंतर स्पष्ट हो जाता है। भावों का उच्छ्वल आवाग, चित्रण की सादगी, और भाषा का लोकप्रचलित प्रवाह जो पिता की रचना में हैं, वह पुत्र की कृति में नहीं। पंडिताई पुत्र में जरूर अधिक है। श्री मोदी ने 'अपभ्रंश पाठावली' ८३ वीं अधि का 'सीय दिव्य-महाण्ड' त्रिभुवन स्वयंभू के ही नाम से दिया है लेकिन सभी दृष्टियों से वह स्वयंभू की रचना प्रतीत होती है।

इतना होते हुए भी त्रिभुवन की यह गवांक्ति यथार्थ है कि—

‘तिष्ठणो ब्रह्म वि ए होंतु ए णो तिरि सपमु एवस्त
कव्व कुल कवित्त तो पच्छा को समुद्धरह।’

जि सनेह वाय्य पुत्र की तरह स्वयंभू पुत्र त्रिभुवन ने भी अपने पिता के अपूरे काम को पूरा करने के साथ ही उसे सुरक्षित भी रखा।

काल-क्रम से अपभ्रंश साहित्य में राम काव्य के दूसरे अथवा तीसरे महाकवि पुष्पदत्त (१० वीं शताब्दी ईस्वी) हुए। इन्होंने उत्तर पुराण की ग्यारह अधियों (६६—७६) में रामकथा का बखान किया है। पुष्पदत्त ने रामकथा आरंभ करने से पहले उसकी जो परंपरा उद्धृत की है, उसमें मालूम होता है कि उन्हें स्वयंभू का काव्य का परिचय था। उन्होंने स्वयंभू का नाम बड़े आदर से लिया है। स्वयंभू का निपरीत पुष्पदत्त ने अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में विशेष प्रकाश डाला है। महापुराण की उत्पत्तिका और उसके अंत से उनके बारे में जो कुछ मालूम होता है, उसका संश्लेष यह है कि ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे जन्म-स्थान उनका संभवतः परार में कहीं था। कुछ कारणों से ये जीवन के आरंभ में उत्तर अफाट जिले के मेलान्दि या मेलपाटी उपान में रहे और फिर वहीं महामाया भरत से परिचय होने के बाद उनके साथ राष्ट्रकूट-राजधानी मलखेड पुष्पदत्त (मान्यखेट) चले आए। जीवन के अन्तिम दिनों तक पुष्पदत्त मलखेड ही रहे। महामाया भरत के मर जाने के बाद उन्हें

भरत के सुयोम्य पुत्र नक्ष का आश्रय प्राप्त हुआ। पुण्यदत्त शुरु में शैव थे लेकिन अंत में जैन हो गये। स्वयं कवि वंश विवरण से पता चलता है कि उनकी अनेक उपाधियाँ तथा उपनाम थे—इनमें से एक 'अभिमानमेरु' भी थी। बड़े मन से उन्होंने अपने को 'अभिमानमेरु' कहा है। निःसंदेह स्वभाव से वे उड़े ही अकम्बड़ और स्पष्टवादी प्रतीत होते हैं। जिन दिनों वे मेलघाटी के उद्यान में थे, दो रात्रिपुरुष उनके पास आये, उन्होंने कवि से विशाल पुरी छोड़कर निर्जन वनत में रहने का कारण पूछा। इसके उत्तर में अभिमान-मेरु कहते हैं—

चमराणिल उड्ढाविय-गुणाइ
अहिसेय धाय सुयणत्तयाइ
अत्रिवेयइ दम्पुतालियाइ
मोईधइ मारण सालियाइ
विससइ चम्मइ जउ रत्तियाइ
कि लच्छिइ विउस विरत्तियाइ
सपइ जणु शीरस णिवसेसु
गुणवतउ जहि सुरगुइ वि वेसु
तहि अम्हइ फाणणु जि सरणु
अहिमाण सहेंव धरि होउ मरण ।

राज दरवार में फाँटे भला श्राद्धमी कैसे रहे। चवर की हवा से यहाँ सभी कुछ उड़ जाते हैं अभिप्रेक-जल सारी सज्जनता का ही धोकर बहा देता है इसी तरह की और भी निबेक विरोधी बातें हैं जिन्हें देखकर वन में रहना ही अच्छा है क्योंकि उस निपात वातावरण से ता कहीं अच्छा अभिमान-सहित मरण है।

पुण्यदत्त की इस स्पष्टवादिता ने भरत मंत्री को आकृष्ट किया उन्होंने विघटिन प्रतिभा को अपने संरक्षण में लेकर रचनात्मक कार्य की ओर लगाया।

'महापुराण' में राम की कथा पूजापर सन्ध से सबया मुक्त एक स्वतंत्र काम्य-खंड का तरह दिखता पड़ता है। कथा के पाछे जो उद्देश्य है उसमें स्पष्टतः ब्राह्मण-परंपरा की राम कथा के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव है। साक्त शक्तियों में पुण्यदत्त कहते हैं कि वाल्मीकि और व्यास के वचनों ने सबको प्रवर्चित कर रखा है और इनके अतिरिक्त कुम । व कृष्ण म पदे हुए अन्य व्यक्तियों ने भी ज्ञाना तरह का भ्रम फैलाने में योग दिया है। इन्हीं भ्रमों को दूर करने के लिए गातम राम की कथा कहते हैं। पौराणिक शैली के अनुसार यह राम कथा वचन श्रुति का प्रश्नोत्तर के रूप में कहा गई है। भेषिक गातम के सामने ये शकल रखते हैं कि दशमुख दश मुखों के साथ कैसे पैदा हुआ ? उसका पुनः उसके जन्म से बड़ा

से थोड़ा कहा गया है, स्वयंभू ने सकेत भर करके रहने दिया है और मरुत यज्ञ त्रिष्वस प्रकरण का यज्ञ उन्होंने बेमन से किया है ।^१

इसका मुख्य कारण यही मान्य होता है कि स्वयंभू में धार्मिक कट्टरता नहीं थी। जैसा कि खान से पता चला है, स्वयंभू न तो दिगम्बर थे और न श्वेताम्बर बल्कि वे अति प्राचीन 'यापनीय संघ' के अनुयायी थे। यह संघ उदार विचारों का था। इस तरह धार्मिक मतभेद से कथा में भेद आ जाना स्वाभाविक है। लेकिन स्वयंभू और पुण्यदत्त को राम-कथाओं में कुछ ऐसी भेदक बातें दिखाई पड़ती हैं जिनसे दो भिन्न परंपराओं का अनुमान होता है। पुण्यदत्त न विमल एरि, रविप्रेष, स्वयंभू द्वारा बखित राम-कथा क रहत हुए भी इन सब को छाड़कर श्वेताम्बर मतावलंबी कविगुरुमद्र के 'उत्तर पुराण' में बखित रामकथा का अनुसरण किया है। इसे देखकर प्रेमी जी ने अनुमान लगाया है कि ये कवि राम-कथा की दो भिन्न परंपराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं ।^२

इतना होते हुए भी जैन कवियों की इस रामकथा में ब्राह्मण परंपरा की रामकथा से भिन्न कुछ उभयनिष्ठ बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। इन्होंने अतिमानवीय प्रसंगों का बुद्धिसंगत और मानवाय रूप देने की चेष्टा की है जैसे गंगा उत्पत्ति, वानरों की उत्पत्ति रावण का दशानन होना आदि। इसी तरह रावण के चरित्र को जन कवियों ने अधिक पराक्रम-युक्त दिखाया है और शृणुला का चरित्र अपेक्षाकृत उज्वल चित्रित किया है यहाँ तक कि स्वयंभू ने उसका नाम 'चंद्रनली' दिया है।

अपभ्रंश में रामकथा की परंपरा का आगे बढ़ाने वाले और भी कवि हुए होंगे लेकिन जिनकी रचना का उल्लेख भिन्नता है वे पंद्रहवीं शताब्दी के रदधू कवि हैं। इन्होंने अनेक प्रबंध काव्य लिखे हैं, उनमें से जिसमें राम-काव्य के संभवत रामकथा का यज्ञ है, वह 'पउम पुराण' नाम से जाना जाता है। अभी तक यह ग्रंथ सामने नहीं आ सका है, इसलिए उसके विषय में कुछ भी कहना असंभव है।

जिस प्रकार राम जैनधर्म द्वारा स्वीकृत नौ बलदेवों में से एक हैं, उसी प्रकार कृष्ण भी नौ धामुदेवों में से एक हैं। फलतः कृष्ण की कथा भी जैन साहित्य में बखित है। यदि राम कथा 'पउम चरित' 'पउम कृष्ण काव्य' पुराण' नाम वाले ग्रंथों में कहा गई है तो कृष्ण-कथा कहने और स्वयंभू वाल ग्रंथ 'हरिवंश पुराण' कहे जाते हैं। अपभ्रंश में रामकथा

१ स्वयंभू का पउमचरित प्रथम भाग भूमिका पृ० १५

२ जैन साहित्य और इतिहास पृ २७७-७८

की तरह कृष्ण-कथा के सूत्रपात का भी श्रेय स्वयम् को ही है। स्वयम् ने 'पठम चरित' के साथ ही 'हरिवंश पुराण' की भी रचना की है। इस समय 'महारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' में 'हरिवंश पुराण' की जो प्रति सुरक्षित है, उसमें कुल ११२ अधियाँ हैं। अध्ययन करने से पता चलता है कि स्वयम् ने केवल ६२ अधियों की ही रचना की थी, जिसमें १२ अधियों का यादव काण्ड, १६ अधियों का कुरु काण्ड और ६० अधियों का युद्धकाण्ड है। धानवे अधियों के बाद ग्रंथ अपूर्ण रूप में शेष रह गया। इसके बाद उनके पुत्र त्रिभुवन ने १७ अधियाँ और जोड़ीं। शेष ६ अधियाँ यश कर्ति की रचना मालूम होती हैं जो पन्द्रहवीं शताब्दी के आस पास हुए थे।^१

इतना सब जोड़ने के बावजूद हरिवंश पुराण का अधिकांश स्वयम् की ही श्रुति है। स्वयम् के 'हरिवंश पुराण' के जितने अंश प्रकाश में आए हैं, उनसे उनकी काव्य प्रतिभा की और भी पुष्टि होती है। श्री मोदी ने 'अपभ्रंश पाठावली' में 'हरिवंश पुराण' की क्रमशः २८वीं और १३री अधि उद्धृत की है जिनमें से एक महाभारत के विराट पर्व की 'कीचकवध कथा पर आधारित है और दूसरी एक तरह की धार्मिक प्रशोत्तरी है जो 'जैनधर्म' के उपदेश के लिए गढ़ी गयी है।

यहाँ भी स्वयम् द्वारा रचित प्रसंग में जो कथा-रस और सहज भावोद्गार हैं, वह त्रिभुवन के उत्कृष्टतन में नहीं है। मत्स्यराज का साला कीचक जिस समय सबके सामने संरन्धी बनी हुई द्रौपदी का अपमान करता है, स्वयम् उस प्रसंग को मूल कर देते हैं—

तो तेण विलम्बी हूषण
अणुलग्गो जिह जमदूषण
चिहुरेदि घरेवि चलोहि ह्य
पेस्वतह रायह मुञ्ज गय
मणि रोसु पणटिय बल्लवहो
फिर देह दिह तह-पल्लवहो
'मह मारमि, मञ्जु स-मेहुणउ
पठवमि कयंतहो पाहुणउ"
तो तव-सुणण आयइणण
विणिवारिउ चलणगुटणण

श्रोसरिउ विआयव सग्गियउ
 पुर-वर-शरिउ आदरिणयउ
 “वि धि दड्ड सरीरें काइ किउ
 कुल जायह आयइ मरण थिउ
 जहिं पहु दुच्चरिउ समायरइ
 तदि अण सामण्य काइ करइ ।”

यमदूत की तरह कीचक ने द्रौपदी का केशपाश पकड़कर खींचा और उसे लात मारी। यह देखकर राजा युधिष्ठिर मूर्छित हो गये और भीम राय के मारे तरु की ओर देखने लगे कि इसे किस तरह मारें। लेकिन युधिष्ठिर ने पैर क अंगूठे से उन्हें दबाकर मना किया। उधर पुर की नारियाँ व्याकुल होकर धोल उठीं कि “इस दग्ध-शरीर का धिक्कार है। इसने यह क्या किया ? कुलीन नारियों का तो मरण हो गया। जहाँ राजा ही इतना दुराचार करता हो, वहाँ मला सामान्य जन क्या करेंगे ?”

नारी के प्रति स्वयंभू के मन में कितना उड़ा सम्मान है। जहाँ भी वे नारी को किञ्चित् अपमानित होते देखते हैं, उनकी संपूर्ण मानवता कालाग्नि क समान धधक उठती है। यही नहीं, अक्सर आते ही वे शक्तिमती नारी की शक्ति का उद्घाटन किये बिना नहीं रहते। अपमानिता द्रौपदी बिन का सारा काम-काज स्वतः करके जब रात में भीम के पास जाती है और वे उसके दुःख का कारण पूछते हैं तो उस समय द्रौपदी का अमपपूर्ण कथन सुनने योग्य है—

“महु कवणु सुह च्छइ कवण विहि
 जहिं दुग्ध वि वट्टइ एइ विहि
 जो सामि-सालु मदि मडलहा
 थिउ हरिवि लच्छि आहडलहो
 सो विहि परिणामें सवरइ
 धरि मच्छहो शिच्च सेय करइ
 जो मुहि-पहारें दलइ गिरि
 ज खणु नि य मेरुलइ सुहड-तिरि
 जें वगु हिडिबु किम्मारु जिउ
 सो डुउ विहि-वसिण महाणसिउ

जो बहु लदवक खंडव इह-डामर-वा
 कम्मह विहि-वसिण सो जायह मलइ सरीर ।

जमलाऽस-वाल घणवाल जहि
सदलिधि हउं मि मुद्द कवण तहि
महि मडलि सयलि गमिहाइ
केम नि खल दइनें दिहाइ
देसैं देसंतरु भमियाइ
वणि वारइ वरिसइ गमियाइ
अहियइ मासिहि एयारहिहि
अवरहि वासर-पयणारहिहि
तो वि हुक्ख किलेसहो छेउ ए वि
वरि मरणु न चीधिण सु हल क वि।”

ऐसे-ऐसे शर-थीर और मुची पतियों के रहते हुए भी द्रौपदी ने अब तक क्या मुग्य पाना ! मुग्य पाना तो दूर, उल्टे बह इस तरह उनके सामने ही अपमानित हो रही है ! यदि इसी का नाम जीवन है तो फिर मरण क्या है !

और इस पर भीम द्रौपदी क आँसुओं को, अपने स्वभाव के प्रतिकूल दर्शन के कड़ और रूपे हाथों पोंडते हैं—‘ससार धम नहीं देखतो ! कहीं सुख है तो कहीं दुख । पूय कर्मों का वच दो फल वेता है । रावण द्वारा हरी जाने पर भी साता को क्या थोड़ा सा भी दुःख हुआ या !’

ससार धम्मु ए चिरिक्खियउ

मुद्द केत्तिउ केत्तिउ दुक्खियउ

देइ दुवि वि फलइ पंचालि पुराइय रुक्ख !

जहिं णिय रायणिय किं सीयाइ थोडउ दुक्खु ॥

त्रिभुवन में यही दाशनिक्ता चरम सीमा पर पहुँची हुई है । द्वारिका में भूमिनाथ का शुभागमन बड़े ही भव्य ढंग से होता है सभी यादवों के साथ वामुदेव और बलदेव उनका स्वागत करते हैं और अत म अथसर निकाल कर बलदेव भूमिनाथ से जीवन और जगत के नियम में बड़-बड़ गूढ़ सवाल पूछते हैं और सबउ नेमिनाथ एक एक कर उनका उत्तर देत हैं । प्रश्नोत्तर इस प्रकार है ।

“कि इह तिहुयणे सारु भदारा !”

“धम्मु-रअणु भा महिहर धारा ।

“कि दुल्लहु भन-सक्खिहि जिणपर !

“पनआ णिग्गु हे विरि हर ।

“कि मुद्द एता माइ महागुरु !”

“याइ रहिउ अहा मुमुमुरिय मुव ।”

“के जीवहो वहरिय तित्यंकर !”
 “कोह-माह-मय अञ्जी हरि हर ।”
 “कि पालणिव पत्यु सव्यण्ह !”
 “धुअ सम्मनु सील छाह विण्ह !”
 “कि सुंदर करणिञ्जु दयाण्ह !”
 “दाणु पुज हो देवइ-तणु-रह !”
 “के दू-सह तियसेसर-सामिय !”
 “पवर परीसह खगवइ गामिय ।”
 “कि बलघतउ समर विमहण !”
 “जीव हो चिर कय कम्म-अण्हण !”
 “कवणु देउ केवल-वर लोयण ।”
 “दोस विवञ्जित हो मह सुयण !”
 “कणु घम्मु जगि णाणुप्पायण !”
 “जीव दया-वर इ णारायण !”
 “कि ससार हो मूलु णिरासव !”
 “गरुउ पमाउ-गुणहिमणि केसव ।”
 “कि बह-यव सिद्धि अभावह !”
 “अण्णाणत्तणु जउ-वइ माहव ।”
 “जीव णिकायहो कि दद-अंभणु सुवणुत्तम !”
 “विविह-परिग्गहु गट्ठिणि-सरोहु पुरिखोत्तम ।”

जैसा विषय, वैसी भाषा। ऐसी शान-चर्चा में भाषा का योद्धा बोझिल हो उठना अचर्यमायी है। त्रिभुवन का जो कुछ भी सामने आ सका है, उसमें पांडित्य का गरिमा के साथ ही भाषा का मारीपन भी जुड़ा हुआ है। धार्मिक रुचि वालों के लिए त्रिभुवन के साहित्य में अधिक सामग्री मिल सकती है। जगह जगह उन्होंने जैनधर्म के सिद्धान्तों को पत्रयत्र कर दिया है बीच-बीच में सुंदर स्तोत्र भी आ जाते हैं, जिसमें एक धार्मिक व्यक्ति का थिड़ल हृदय स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

स्वयंभू के बाद कृष्ण-काव्य की परंपरा को आगे बढ़ाने वालों में पुण्यदन्त का नाम अग्रणी है। ‘उत्तर पुराण’ की चारह अधियों (८१-९२) में उन्होंने हरियश पुराण की रचना की है। रामकथा की अपेक्षा पुण्यदन्त ने कृष्ण-कथा

में विरोध रख लिया है। इसमें महाभारत का कथा से भेद भी
 कृष्ण सीता और कम है, और कथा प्रवाह के बावजूद काव्यात्मक स्थलों के
 पुष्पदन्त चित्रण में मा उर्ध्वे काफी सफलता मिली है। पुष्पदन्त ने
 रुचि के साथ कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन किया
 है। किशोर-कृष्ण और गोपियों का सीता का एक दृश्य इस प्रकार है —

धूसी धूसरेण वर-मुक्क सरस निण मुरारिण ।

कीसा रक्-वसेण गोबालय-गोबो हियय-हारिण ॥

रगतेण रमत रमत

मयउ धरिउ ममत अणते

मदीरउ तादिवि आ-वट्टिउं

अद्द विरालिउ ददिउं पलाट्टिउ

कावि गावि गाविदहु लग्गी

एण महारी मयण्णि मग्गा

पयहि माल्लु देउ आलिगणु

णं ता मा मल्लहु मे प्रगणु

काहिवि गाविहि पडुरु चेशउं

हरि-तणु तेण जायउ कालउ

मूण जलेण फाईं पक्खाणद

णिय ञडनु सडियहि दक्खालइ

यणण-रसि प्पिडुण द्वायावतउ

मायहिं सनुहुं परिधावतउ

मडिस-सिलवउ हरिणा धरियउ

णं कर णिणंधणाउ परिसरियउ

दाइउ ताहण-ह-धु समारद

मुइ मुइ माहय क्कीलिउ पूइ

क-पद अगण मवणा-सुद्धउ

वाल-मण्णु कलणु सिद्धउ ।

इस तरह पुष्पदन्त के कृष्ण भी कम नटगट नहीं हैं। कमा मयानी तोड़
 देते हैं ता कमा आधा-विलाया हुआ रहा सुद्धका देते अगण में सुद्धों के साथ
 दौड़ते फिरते हैं और हवा में दूध डुबने का अभिनय करते हैं। ठाकर गारिणी भी
 कम प्रगल्भ नहीं हैं। ये टूटी हुई मयाना का मूल्य आलिगन मांगती हैं और जब
 कृष्ण के आलिगन से ठनका पादुर चाली काला पड़ जाता है ता मातान के

कारण उसकी कालिमा दूर करने के लिए पानी से धोती हैं। यह प्रगल्भता और मृदुता का अद्भुत धूप झाँही मिश्रण है।

कामल प्रसंगों के अतिरिक्त पुण्यदत्त ने कृष्ण की 'कालियदमन', 'गोवर्द्धन धारण' जैसी पौरुषमयी लीलाओं का भी चित्रण किया है। गोवर्द्धनधारण से पूष का प्रलयोपम दृष्टि का यह बड़ा ही नादानुरजित चित्र है—

जलु गलह मलमलह । दरि मरह, सरि सरह ।

तडयडह, तडि पडह । गिरि कुडह, छिहि गुडह ।

मरुचलह, तरु घुलह । जलु यलु, वि गोडल' वि ।

गिरु रसिउ, मय-तसिउ । यरहरह, किरमरह ।

जाव ताव, गिर भाव । धीरेण वारेण ।

सर लच्छि जमलच्छि । तरहेण, कल्लेण ।

गुर शुइण, सुयजुइण । गिथरिउ, उदरिउ ।

महिहरउ दिगिरउ । तम-जडिउ पायडिउ ।

महि विवर, पणि गियर । पुपकुवह, विषु मुयह ।

परि घुलह, चलवलह । तवणाह, हरियाहँ ।

तडाहँ, गुडाह । कायरह वणयरहँ ।

हिसाल चडाल । चडाहँ, कडाह ।

तावसह, परवसहँ । दरियाहँ जरियाहँ ।

गो-वद्धण परेण गा-नामि-गिभाव व जाइउ ।

गिरि गोवद्धणउ गोवद्धणेण उ-चाइयउ ।

कुल मिलाकर अष्टमश में जैन कवियों द्वारा रचित रामकाव्य और कृष्ण काव्य एकदम एहिक रग का चरित काव्य ही है जिसमें कहीं-कहीं घामिकता का पुट आ गया है, लेकिन विपत्ता और अलौकिकता का रग प्राय नहीं है और मत्ति भावना का तो उसमें सवथा अभाव है। हिंदी के मत्त कवियों के रामकाव्य और कृष्ण-काव्य से उनकी कोई तुलना नहीं है।

जैन कवियों द्वारा रचे हुए पुराण-साहित्य में रामायण और महाभारत को कथाओं से कहीं अधिक विस्तार उनके अपने तीर्थकरों की जावन-गाथाओं का है।

पुण्यदत्त का अधिक काव्य-कौशल उनके 'आदि पुराण' में

दुष्पदम का व्यय हुआ है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता

आदिपुराण है कि जहाँ उन्होंने राम के लिए केवल ११ संधियाँ दी हैं

और कृष्ण के लिए १२ संधियाँ, वहाँ उन्होंने आदि तीर्थकर

शुभभनेव के लिए ३७ संधियाँ लगा दी हैं। यह स्वभाविक ही था। आदि पुराण

में श्रृपमदेव क जन्म से लेकर महानिर्वाण तक की कथा के अतिरिक्त उनका दा पुत्र भरत और बाहुबलि क भी क्रिया-कलापों का घणन है ।

प्रथम दा सधियों में परपरानुसार कवि का आत्म निषदन, विनय प्रदर्शन, आश्रयदाता की प्रशस्ति, दुर्जन निंदा, सज्जन-प्रशंसा, अथ-रचना का उद्देश्य वरिष्ठ करने क साथ-साथ श्रृपमदेव क अवतार लेन क पूव का म-प भूमिका बर्धा गया है । इसका नाव श्रृपम अथाध्या नरेश क घर जन्म लेने का निश्चय करते हैं, इन्द्राधि देवता पहल से हा बड़े पैमाने पर तैयारिया करते हैं । श्रृपम के गम म आने क साथ उनकी माँ परपरानुसार विराट स्वप्न देखती हैं और इन सब के बाद शिव्य शक्ति पुत्र बालक श्रृपम का जन्म हाता है । जब वे बड़ होते हैं तो अन्य राजकुमारों की प्रवृत्ति के विपरीत वे विवाह करना नहीं चाहते लेकिन सभी राजकुमारों की तरह आज्ञाकारी पुत्र होने क कारण वे पिता की आज्ञा नहीं टाल पाते और एक का जगह दा विवाह करते हैं—एक जसवई स और दूसरा मुनदा से । पाठे दिनों बाद जसवई से भरत पैदा होत हैं और मुनदा से बाहुबलि । श्रृपम अपने पुत्रों को सभी पढ़ाएँ और कनाएँ मिलाते हैं । श्रृपम समवत इसा तरह मुखोपमांग में जीवन बिताते रह जाते, यदि एक दिन स्वय इन्द्र उनका उनका अवतार ग्रहण करने क महान उद्देश्य की भाव न दिलाते । इस समय एक एसी घटना घटती है कि श्रृपमदेव को जगत् स वैराग्य हो जाता है । एक दिन राजसमा म नालाजसा अप्सरा नाचने आती है और नाचते नाचते सहसा गिर पड़ता है और मर जाता है । श्रृपमदेव का जीवन की क्षणम गुरता का ज्ञान हाता है । वे भरत का अथाध्या का तथा बाहुबलि को पाण्यपुर का राजा बनाकर मन्यास ले सते हैं और साधना के द्वारा नैवल्य ज्ञान प्राप्त करके निन-धम क प्रचार में लग जाते हैं । उधर वे जैन धम का प्रचार करते हैं और इधर भरत तथा बाहुबलि धारे धारे अपने प्रताप का विस्तार करत हैं । इस तरह ऐसी स्थिति उत्पन्न हा जाती है कि भरत और बाहुबलि में युद्ध हाता है । बारा-बारा स एक दूसरे को हराने क बाद अत में बाहुबलि का हार ग्मानो पड़ता है । बाहुबलि बड़ भाई का निष्कटक राज करने क लिए झाङ्कर दिना के परामश पर जैन धम में दाक्षिण हो जाते हैं । इसके बाद भरत प्राय अपनी पिता क पास उतरदा सन क लिए कैलाश गया करत हैं । अत में एक दिन भरत का स्वप्न हाता है कि कैलाश शिपर हिल रहा है । और अथ वह गिरने हा वाला है । जानकार लोगों से ज्ञ के इस स्वप्न का अर्थ पूछत हैं ता मानूम हाता है कि यह श्रृपमदेव क महानिर्वाण का प्रताक है । भरत मय को लेकर कैलाश जात हैं और बड़ ही मग्ग ग्ग स पिता का महानिर्वाण मनाते हैं । 'आदि पुराण यही समाप्त हाता है ।

क्या प्रसंग में अनेक युद्धों, विजयों और देश देशान्तरों के ययान के साथ ही राजनाति, धर्म, दर्शन और विविध विद्या विषयक गभीर यातों हैं। कुल मिलाकर यह संपूर्ण पुराण अनेक सामाजिक राजनीतिक बातों का एक विरय कोश है। जिस तरह 'महाभारत' समाप्त करने के बाद ध्यास ने बड़े ही आत्मविश्वास के साथ कहा कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्त्वचित्', उसी तरह 'महापुराण' के अंत में पुण्यदत्त ने भी कहा है कि 'इस रचना में प्रकृत के लक्षण, समस्त नीति, छंद, अलंकार रस, तत्वाय, निर्णय—सब कुछ आ गया है, यहाँ तक कि जो यहाँ है, वह अत्रयत्र कहीं नहीं है। धन्य हैं वे पुण्यदत्त और भरत जिनकी ऐसी सिद्धि मिली।'।

इस तरह स्वयंभू और पुण्यदत्त दोनों ही कवि अपभ्रंश साहित्य के भिरमौर हैं। यदि स्वयंभू म भायों का सहज सौंदर्य है तो पुण्यदत्त म बकिम मगिमा है स्वयंभू की भाषा में प्रसन प्रवाह है तो पुण्यदत्त की भाषा में अर्थगौरव की अलंकृत भाँकी, एक सादगी का अवतार है तो दूसरा अलंकरण का उवाहरण।

इस अंतर के पीछे दोनों कवियों की जीवन-व्या है। स्वयंभू सुखी संपन रहस्य, सयत चित्त पुरुष और सतुलित मनीषी थे वे भरे पूरे परिवार के बीच जीवन का पूरा उपभोग करने वाले मनुष्य थे। इसके निपरीत पुण्यदत्त का आरंभिक जीवन अमायों और संघर्षों में बीता और सुखद आभय मिलने के बाद भी वे प्रायः एकाकी और नि संग रह। अस्तंताय ने उनके जीवन में अद्भुत दग की निचता, फटुता, आक्रोश और प्रतिक्रिया की भावना भर दी थी। यही सब देखते हुए स्वयंभू-कृत 'पठम चरित' के सपादक डा० भायणी न स्वयंभू को अपभ्रंश का फालिदास कहा है और पुण्यदत्त को मवभूति।

स्वयंभू के कव्य की भेद्यता का एक कारण समयतः यह भी हा सकता है कि उनका दृष्टिकाय पुण्यदत्त की तरह संकाश आर साम्प्रदायिक न था जैन मत को मानत हुए भी उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का पालन किया। जीवन की यासविकता का उन्होंने भरसक पूवाग्रह-रहित हाकर ययार्थ रूप में चित्रित करने की चेष्टा की। आदर्श की इस उघता आर मानवता ने उनके काय का अत्यधिक ब्यारकता तथा सर्व हृदय सर्शिता की शक्ति प्रदान की। पुण्यदत्त की तरह उन्होंने हर जगह जिन-शासन की ही प्रधानता नहीं दिवाई है। स्वयंभू के अभिमन्यु ने मत्ते समय जिस देव की बंदना की वह सभी प्रकार के धार्मिक विग्रहों से ऊपर है—

'सउहदेषेण एम चवन्तपण, सा मुमिरिउ देउ मरन्तपण।

जो सव्वह देपहँ अगालउ, तइलोकक सिहरे जमु थायलउ।

जें अह वि कम्मइं गिअियइं, जें पचेदियइ परअियइं ।
ज धरिधि महारिस भोक्खु गय, जसु तणए धम्मे पिय जीव दय ।
जें शासिउ जाइ-जरा-मरण, सो सध्वही तिहुयणहो जे सरणु ।
जो वहइ थिरजण परम छुवि, जसु सोउ विअोउ विणामु खवि ।
जो या इष णउंसउ णइव तिय, थ पयह एकक वि जामु किय ।

जो एणक्खु सन्तु पराहिणरु ।

णारायण दिणयरु वसवण, सिउ धरण ह्वासण सति पवण ।

जो होउ सु होउ सुणन्तु पिउ, एक्कन्ते करेप्पिणु कालु किउ ।^१

—(रिह० ५५।३०।२ १०)

“अभिमन्यु ने उस देव को स्मरण किया जो सभी देवों में अग्रणी है, जिसका स्थान त्रैलोक्य शिखर पर है, जिसने आठों कर्मों का जीत लिया है, जिसने पंचेन्द्रियों को पराजित कर डाला है, जिसे आघार बनाकर महर्षियों ने मोक्ष प्राप्त किया, जिसके धम में जीवदया का स्थान है, जिसने जन्म-जरा-मरण का नाश कर दिया है, जो सभी त्रिभुवन की शरण है, जो निरचन परम छुनि वहन करता है, जिसे शाक-वियाग-विनाश नहीं हाता, जा न नर है न स्त्री है और न नपुंसक है, जो एक मा क्रिया में भाग नहीं लेता, जो निष्कल (अविभाज्य) है, सतत है, परात्पर है, जो नारायण दिनकर वैभवण, शिव वरण हुताशन शशि पवन है । यह चाहे जो हो अभिमन्यु उसे एकान्त भाव से स्मरण करके मर गया ।”

इन पत्तियों में अभिमन्यु ने परम देव के विषय में जो बातें कही हैं वह स्वयंभू के विचार भले ही न हों, परंतु इनसे पता चलता है कि स्वयंभू अपनी रचना के पार्श्वों व धार्मिक विचारों पर अपने मत का आरोप करना अशुद्धा नहीं समझते थे । अपने निजी विचारों से अपने पार्श्वों का स्वतंत्र रखन से बढ़ कर पूर्णग्रहहीनता और क्या हो सकती है ! वास्तववादी कवि ही ऐसा कर पाते हैं । स्वयंभू की उपाशयता इसी बात में है । उनकी भ्रष्टता का यहा रहस्य है ।

जिस तरह ‘महाभारत’ और ‘रामायण’ के एक-एक चरित्र को लेकर संस्कृत के परवर्ती कवियों ने प्रथम काव्यों की रचना की, उसी प्रकार पुष्पदंत व

‘महापुराण’ के मुख्य-मुख्य शलाका पुरुषों के जीवन चरित जन परपरा के अन्य को लेकर अपभ्रंश व जैन कवियों ने चरित-काव्य लिखे ।

पौराणिक पुरुषों इनमें तीथकर नमिनाथ, चक्रवर्ती बाहुबला तथा शालिमद्र सबको काव्य का चरित्र ऐसा हा है । नेमिनाथ का लेकर लिखा हुआ

सबसे प्रसिद्ध अपभ्रंश काव्य हरिभद्र सूरि (११५६ ई०) का लिखा हुआ 'निमिनाथ चरित'^१ है। हरिभद्र सूरि का 'निमिनाथ चरित' लगभग सात सधियों और ८०३ श्लोकों का छोटा सा प्रथम काव्य है। इसकी भाषा अत्यधिक अलङ्कृत है और समास-बहुल है। प्रायः प्रकृति चित्रणों में पुरानी रूढ़ियों का ही पालन अधिक है, जैसे प्रभात बरान का यह अंश—

तपणु वियलिर तिमिर धम्मिलु परिलहसिर

तारय-बसण कलयलत तरु सिहर पक्खिय ।

परिसदिर कुसुम-महु विदु मित्रिणए पइ वडुक्खिय ।

अर्थात् तिमिर घम्मिल (केश) तपन से प्रिदलित हो गये, तारक-बसन विसक गये, तरु शिरारों के पत्तों कुलकुल करने लगे और बड़ी-बड़ी आँखों जैसे कमलों से मधुविदु टपकने लगे ।

लेकिन राग रङ्ग के बरानों में इस भाषा ने वातावरण उपस्थित करने में विगय सफलता दिखलाई है जैसे—

वजत गज्जत बहु मेय सूरं

लमिजा दिजत कप्पूर पुरं

पणच्चत गुच्चंत वेसा-समूहं

दसिज्जत हिजंत वावयणवूहं

एत गच्छत चिद्धत वडुसज्जणं

सेत वियरंत सुयसत जण रंजणं

वत पिजत दिज्जत वडुमक्खय

लोय उल्लामिय वडु मेय मणसुकलय

धरंत फीलत वग्गत खुज्जवणं

वत उद्धत निवटत बालयज्जणं

निमिनाथ के चरित पर जो दूसरा अपभ्रंश प्रथ प्राप्त है, वह है विनयचंद्र सूरि (१२०० ई) की 'निमिनाथ चउपइ' ।^२ विनयचंद्र ने सपूर्ण काव्य चौपाइयों में लिखा है। रचना बहुत शब्द की मालूम पड़ती है, फिर भी काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अपभ्रंश की यह पहली कृति है जिसमें 'पारहमासा' मिलता है। इससे पहले संस्कृत शब्द प्राकृत का परपरा के अनुसार प्रायः 'पड्शुद्ध

^१ डा याकोबी द्वारा उसका एक अंश सख्तकुमार चरित संग्रहित, १९२१ ई०

^२ प्राचीन गुडर-काव्य-संग्रह १९२० में संग्रहित ।

वखन' हा दिक्ताइ पकता है । हिंदी में यह 'बारहमासा' ही अधिक लोकप्रिय हुआ । नेमिनाथ जब वैराग्य ले लेते हैं ता उनक विषाग में उनकी पत्नी राजल देवी अथवा राजमती विलाप करता है । ऐसे हा मार्मिक विरह विलाप का पुत्र 'नेमिनाथ चउपद' का यह 'बारहमासा' है । यह 'बारह-मासा' सावन से शुरू होकर असाढ़ म समाप्त हाता है । इसक कुछ महानों के वखन का बानगी देखिए—

भाषणि सरखणि कंहुय महु
 गजजद, विरहिनि मिज्जइ देहु ।
 विज्जु भरकद रक्खयि जेनें
 नेमिहि विणु सहि सहियइ क्व
 भाद्रवि मरिया सर विक्खेवि
 सकरुण रोअइ राजल दवि ।
 हा एकलकी मइ निरधार
 किम ऊवेपिति करुणासार ।
 भराइ सखी राजल मन रोद
 नाटुइ नेमि न अप्पु हा ।
 सिचिय तरुवर पारि पलवति
 गिरियर पुण्णि कइ डेरा हु ति ।
 सौंचउ सन्नि वरि गिरि मिज्जति
 किमइ न मिज्जइ सामल वति ।
 घण वरिसंतइ सर पुट्टन्ति
 सायर पुय घण ओइ हुलिति ।
 फत्तिग ज्जित्तिग उग्गइ सक
 रणमति भिभिउ हुइ अति भक्क ।
 पागुण वागुणि पन्न पत्ति
 रानल हुक्खि कि तरु रोयति ।
 चैत्र मासि वणसइ पगुरइ
 वणि वणिकायल टहका करइ ।

सावन में रिजली का भषककना, भाद्रों में आँवों क सामने भरे ताल का लहराना, कार्तिक में ज्जिज पर उगती हुइ सौंभ, पागुन में पेड़ों से पत्तों के शौंभ भरना, और चैत्र में बन बन कायल का टहका करना—ये सभी ऐसी बातें हैं जो विरहा ता विरहा, स्वरथ मन को भी अनमना बना देता हैं । विनयचन्द्र ने एकदम हल्की पुलकी भाषा म प्रकृति का चित्र खड़ा कर दिया है, साथ ही साथ

सादे ढंग से नारी-हृदय की 'यगा भी कह दी है। त्रियोग के ऐसे मार्मिक वर्णन अपभ्रंश साहित्य में कम हैं।

नेमिनाथ की ही तरह बाहुवली का भी चरित्र अत्यंत काव्योपम है, परंतु नेमिनाथ का चरित्र जहाँ कामल भावों का आलवन है, वहाँ बाहुवली का व्यक्तित्व शौर्य का प्रतीक है। बाहुवली का लेकर लिखे हुए अपभ्रंश-काव्यों में शालिभद्र सूरी (११८४ ई०) का बाहुवलि रास अत्यंत प्रसिद्ध है।^१ शालिभद्र ने बाहुवलि की सेना की जययात्रा का यद्वा ही ओजपूर्ण वर्णन किया है शौर्य का ऐसा ओजस्वी वर्णन जैनों के धार्मिक साहित्य में कम मिलता है। चपल घोड़ों की यह चाल देखिए—

हीसई हसिमिसि हणहणई तरवर तार तोपार ।
खडई खुरलई खेडधिय, मन मानइ असुवार ॥
पालर पखि कि पंखरुप, ऊडाऊडिहि जाइ ।
हुंफई तलपई ससई घसई, जडइ जकारिय घाइ ॥
फिरई फेकारइ फारणइ, फुठ फेयाडलि फार ।
तरणि-तुरगम समतुलई, देजिय सरल ततार ॥

और इस वर्णन के साथ ही गजों, भटों और घोड़ों के कारनामों का भी एक

चित्र—

गड गडंत गय गडिय गेलि गिरिवर सिर ढालई ।
गूगलीय गुलणई चलत करिय ऊलालई ॥
बुडई भिडई मइ हडई खेदि खडखडइ खडाखडि ।
घणिय घुणिया घोसणई दत्त दो तडा तडा तडि ॥
खुरतलि खालि खणति खेदि तेजिय तरवरिया ।
समई घसई घसनसई सादि पय सइ पापरिया ॥

इस में चेषित अनुप्रास और कौरी नादानुसृति की ही छटा नहीं, बल्कि चित्र की गतिशीलता और सक्रियता भी है।

चरित-काव्य

पौराणिक पुरुषों पर लिखे गये काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश के जैन-साहित्य में कुछ ऐसे चरित-काव्य हैं जो उस परंपरा के कुछ लाफ प्रिय व्यक्तियों का लेकर लिखे गये हैं। नागजुमार, यशोधर, करकंडु आदि कुछ ऐसे ही विशिष्ट व्यक्ति हैं

१ मुनि जिन विजय द्वारा मागधीय विद्या (पृ २, अंक १) में प्रकाशित ।

नागकुमार
चरित

जिनका लेकर जैन कवियों ने बहुत कुछ लिखा है। अपभ्रंश में नागकुमार क चरित से सबधित सबसे प्रसिद्ध काव्य पुष्पदत्त का नागकुमार चरित^१ अथवा शायकुमार चरित है। 'नागकुमार चरित' पुष्पदत्त की दूसरी रचना है इसे उन्होंने 'महा

पुराण' के बाद भरत-मन्ना क पुत्र नन के आश्रय में लिखा था। नौ संधियों के इस छोटे से प्रबंध काव्य में 'भूत पंचमा' का माहात्म्य बतलाने के लिए नागकुमार की कथा सुनायी गयी है। नागकुमार मगधदेशीय कनकपुर के राजा त्र्यम्बर की दूसरी रानी पृथिवी देवी के पुत्र थे। त्र्यम्बर का पहली रानी विशालनेत्रा थी और उससे उन्हें त्र्यम्बर नाम का एक पुत्र भी हुआ था। राजा ने दूसरी शादी यों की कि उनके वहाँ एक दिन एक अद्भुत व्यापारी आया और उसने राजा का गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वी देवी का चित्र दिया। चित्र राजा को इतना पसंद आया कि उन्होंने उस राजकुमारी से शादी कर ली। बाद में मालूम हुआ कि व्यापारी क वेश में स्वयं वासव ही आये थे।

पृथ्वी देवी रानी होकर आई तो लेकिन पहली रानी विशालनेत्रा के वैभव से उन्हें ईर्ष्या होने लगी। एक दिन जब विशालनेत्रा राजा के साथ उद्यान में मीठा क लिए गयी तो पृथ्वीदेवी जिन-मन्दिर चली आई। यहाँ मुनि पिहित्वाभव ने उन्हें धर्मादेश दिया और साथ ही पुत्रवती होने का आशावाद् भी। नागकुमार इसी आशीर्वाद के फल-स्वरूप पैदा हुआ। नागकुमार उस पुत्र का नाम इसलिए पड़ा कि पुत्र उत्पन्न होने क बाद राजा और रानी पुत्र का लेकर फिर मुनि के दर्शन क लिए गये। इधर राजा-रानी मुनि से बातें कर रहे थे उधर पुत्र कुएँ में गिर पड़ा। कुएँ में एक नाग ने उस राजकुमार की रक्षा का और वहाँ से वह राजकुमार को नाग-स्लोक ले गया। वहाँ उसका नाम नागकुमार हुआ और उसने एक नाग कन्या से शादी भी की। कुछ दिन नागलाक में रहने के बाद नागकुमार पृथ्वी पर आया। यहाँ उसने अग्नि माँ का दुर्घटा देवी। राजा ने उसे ढण्ड देकर उसके समी आभूषण छीन लिये थे। नागकुमार अपनी माँ का आभूषण पहनाने क लिए बुद्धा खेलने गया और जात कर बहुत सा आभूषण ले भी आया। जब राजा ने यह सुना तो स्वयं भी उसे बुद्धा खेलने क लिए बुलाया और अग्ने पुत्र से कुएँ में मारा राज-पाट हार बैठा। नागकुमार न केवल अपनी माँ क गहन लेकर वरुण सभ कुछ गिता को लौटा दिया।

नागकुमार क इस ही प्रतापी कार्यों से उसका सौतले भाई त्र्यम्बर का ईर्ष्या हुई। उसने नागकुमार की हत्या करने का प्रयत्न किया लेकिन सफल न हो सका।

१ श्री हीरामात जन द्वारा 'द्वारजा सीरीज में सम्पादन १९३३ ई०

इसके विपरीत नागकुमार ने विगड्डेल हाथी को ठोक करने जैसे जीवट के कार्यों से लेकर यशोवादन जैसे कलापूर्ण कार्यों में भी उसके ऊपर विजय प्राप्त की। इस सिलसिले में नागकुमार ने अनेक छादियाँ कीं लेकिन सभी रानियों में उसे लक्ष्मीमती ही प्रिय थी। एक दिन उसने मुनि पिहताभ्र से इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि पूव जन्म में दोनों ने 'भुतपञ्चमी' व्रत किया था। इसपर मुनि 'भुत-पञ्चमी व्रत' का विधान बताते हैं। नागकुमार बहुत दिनों तक सुन्धपूर्वक जीवन बिताने के बाद अंत में तपस्या करने चले जाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं।

कथा में इर्ष्या-कलह शौच, स्नेह आदि अनेक लौकिक दशाओं के अतिरिक्त पाताल पुरी नागलोक आदि की बहुत सी अलौकिक घटनाएँ भी बखित हैं। यद्यपि कहीं कहीं बड़ा ही यथायवादी विरसाई पढ़ता है जैसे एक स्थान पर वेश्या बाजार का इस प्रकार चित्रण है—

कावि वेस चितइ गय मुण्या
 प धण एमहा गहहि ण मियणा ।
 कावि वेस चितइ कि बड्डिय
 सीलालय एण १ फड्डिय ।
 कावि वेस चितइ कि हारे
 फडु न छिएणउ एण कुमारे ।
 कवि वेस अहरग्गु समप्पइ
 भिज्जइ रिज्जइ तप्पइ फपइ ।
 कावि वेस रस सलिले सिन्निय
 येयइ बलइ पुलइ रोमचिय ।

ता बीणा-कलरव मासिणिए देवदत्तए रायविलासिणिए
 द्विय उल्लए कामदेउ ठविय फय पज्जलि-दुर्ये विण्णविउ ।

'परमेसर काम्मणु वियप्पहि
 जिय मणु तिइ धर-पंगणु चप्पहि ।'

यशोधर अथवा जसहर के जावन चरित को लेकर भी जितने काव्य लिख गये हैं उनमें पुष्पदन्त का ही जसहर चरित सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

'जसहर चरित' पुष्पदन्त की तीसरी और अंतिम कृति है।

जसहर चरित इसे उन्होंने मान्यलैट की लूट के समय ६७२ ई० के आस पास लिखा था। चार सधियों के इस छ्दाट से परण्ड काव्य म

कापालिक मत के ऊपर जैन धर्म के विजय की कहानी बड़े ही प्रभावशाली ढङ्ग से कही गयी है। यौधेय-देशीय राजपुर नगर में एक दिन कापालिकाचार्य भैरवानन्द पधारे। उनकी महिमा सुनकर राजा ने उन्हें पास बुलाया और आकाश में उड़ने की सिद्धि माँगी। भैरवानन्द ने इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए देवी की विधिवत् पूजा का विधान बताया। पूजा विधि का मुख्य अंग था नर-सुग्म की बलि। राज पुरुषों को तत्काल आशा हुई और वे नगर में घूमते हुए दो बालक और बालिका लुल्लकों को पकड़ लाये। ये लुल्लक सुदत्त नामक तपस्वी के शिष्य थे। राजा के सामने जब ये लुल्लक लाये गये तो उनके मुख पर कुछ ऐसे सामुद्रिक चिन्ह दिखाई पड़े कि राजा ने उनके धर्म की आशा देने की जगह उनका परिचय पूछा। लुल्लकों ने अपने गुरु से जैसा सुना था उसी के अनुसार उन्होंने अपने पूर्व-जर्मों की सारी कहानी सुना दी। कथा प्रसंग में भेद खुला कि इनमें एक पूर्व जन्म का यथाधर है और दूसरी बालिका उसकी माँ है। विविध कर्मों के अनुसार ये कमी पशु योनि में पैदा हुये और कमी नर योनि में—कभी पति-पत्नी के रूप में, कभी माद-बहन के रूप में और कभी माँ-बेटे के रूप में। वर्तमान राजा और रानी भी उनके साथ पूर्व जर्मों में अभिन्न रूप से जुड़ हुए थे।

यह सब सुनकर राजा का बड़ा पश्चात्ताप हुआ और अंत में भैरवानन्द के साथ राजा-रानी लुल्लकों के गुरु सुदत्त के पास जाकर जैन धर्म में दाखिल हो गये।

पूरा कथा बड़ा ही पचादा है—केला के पात-पात में पात की तरह इसमें कहानी के मातृ कहाना है नाना जमान्तरी की ऐसा पेचीदी कहानी अपभ्रंश में कोई नहीं है। आदि और अंत में धार्मिकता के पुट के अतिरिक्त बीच की शय कथा अत्यन्त यथामथादा है जिसमें राजाओं के नाना कूट-छल, पर-स्त्री आसक्ति, पर पुरुष अनुरक्ति, घाला-धड़ी, हत्या चोरी आदि मानवीय दुबलताओं का निमग्न उद्घाटन है। काव्य में जगह-जगह महाकवि पुष्पदन्त की यणनशक्ति का पता चलता है। आरंभ में उन्होंने भैरवानन्द कापालिक का बड़ा ही सटाक चित्रण किया है।

बहु सिक्कगहि सक्षियउ बंमघारि
घरि घरि हिंइइ हुंकार फारि
भिर टापी दिश्य रज्जु यरण
सा भवति सन्धि दासिण करण
अगुल दु-तास परिमाणु ददु
हर्षे उपसालिधि गहइ चहु

गलि जागवट्टु सज्जिठ विचित्तु
पाउडिय जम्मु पइदिएणु दत्तु
तट तट तट तट तट तटिय सिगु
मिगगु छेवि किउतेण चंगु ।

भैरवानन्द का क्या ही सुन्दर वेश है ! दोनों फानों को ढके हुए अनेक रत्नों वाली टोपी, हाथों में उच्छ्रलता हुआ बत्तीस अंगुल लया डडा, गले में त्रिचित्र यागपट्ट । गली गली चग लड़काते और सिगा बजाते हुए दंमपूख तल्ल से घूमना ।

इसी तरह 'राज प्रागण' का भी एक जगह यथाथ चित्र उपस्थित किया गया है । कवि वहाँ के आहंशरपूख निर्जीव और नीरस बातावरण का देखकर विपण्य हो उठता है और अपने इस भाव को खुलकर प्रकट कर देता है ।

अत्थाय भूमि गठ मयि विषणु ।
कणय-मय-रयण विहरि शिषणु ।
बो वासई चमरई महु पडति
बहु दुक्ख-सहासइ रा घटति ।
सहमडवि खुरजय-वावण्णाइ
शन्चंतइ शिरु कोड्ढावणाइ ।
एयाइ जइवि शिरु मुहयराइ
महु पुणु मुपिरत्त हो दुहयराई ।
पोत्पय-वायणु आत्त सरसु
मण-सवण्णइ ज जणि जण्णइ हरिसु ।
अयलोइय शर-वइ मई शवंत
पडियायपाई यावइ कुमित्त ।

करकड्ड के जीवन चरित पर लिखी गई कहानियों में कनकामर मुनि (१०६५ ई०) का करकड्ड चरित ही अपभ्रंश में इस समय तक प्राप्त है । 'करकड्ड चरित' कई लोगों ने लिखा है रङ्गू लिखित 'करकड्ड-चरित' का भी उल्लेख मिलता है लेकिन अभी तक उसका पता नहीं चल सका है । जैन परंपरा के अनुसार करकड्ड ईसा से लगभग आठ सौ वर्ष हुए थे । इनका मान दिगम्बर आर्येताम्बर दोनों में है । बौद्ध जातकों में भी ये 'प्रत्येक-बुद्ध' रूप में स्वीकृत एक महात्मा हैं । मुनि कनकामर ने ऐसे ही महापुरुष को अपना चरित-नायक बनाया है । कनकापर के विषय में इतना ही मालूम है कि वे 'आषाढय' नगरी के रहने

१ श्री हीरालाल जन द्वारा 'भारत-जा जन प्रथमाता' में सम्पादित (१९२४ ई)

बाल थे, ना संभवत बु देलखंड में कहीया ।

दस सधियों के इस प्रपञ्च काव्य के तीन-चौपाई माग में करकडु की मुख्य कथा है और शेष चौपाई माग में नौ अवांतर कथाएँ हैं इन अवांतर कथाओं में से एक कथा नरवाहन दत्त की है जो संस्कृत में प्रचलित कथा से थोड़ी भिन्न है । ये आवान्तर कथाएँ राजा को नाति का शिचा देने के बहाने कहा गयी हैं ।

मुख्य कथा इस प्रकार है । एक बार चपाघाश षधिवाहन अपनी राना मदनावता के दोहद निमित्त हाया से कहीं जा रहे थे कि सहसा हायी मक्षोमत्त हाकर मागने लगा । ऐसे सकेट में रानी की सलाह से राजा तो एक बाल के सहारे षच निकल, लेकिन राना एक सुतह स्थान पर पहुँच गई और वहीं उन्होंने पुत्र प्रसव किया । पुत्र को एक माला ने पाला और आगे चलकर हायी द्वारा परात्त्य क बाद उसे चक्रवर्ती समझकर दतिपुर का राजा बनाया गया । यहीं से उसने सौराष्ट्र की राजकुमारी से विवाह किया । उस राजकुमार का नाम करकंडु इसलिए पड़ा कि उचपन में उसके कर में कडु अथवा खुगला हा गयी थी । कुछ दिनों बाद चपा क राजा ने करकडु क पास अधीनता स्वाकार कर लेने का धमका भजा, परन्तु इस धमका की परवा न करके करकडु ने युद्ध का निश्चय किया । युद्ध हुआ । युद्ध क दौरान में पिता ने पुत्र का पहचान लिया और तुरन्त अपना सारा राज-पाट सौंप दिया । इसके बाद करकडु ने दक्षिण क चाल, चेर, पांड्य रायों पर भी चढ़ाई का । इस अभियान में उसका राना मदनानती हर ला गई । दुखा राजा का एक सुर न आकर राना क मिलने का आश्वासन दिया । करकडु यहाँ से सिंहल गये । सिंहल नरेश न उसके साथ अपनी पुत्र व्याह दी । नई रानी के साथ करकडु जब समुद्र-भाग से लौट रहा था तो एक मत्स्य न बाधा दा । राजा ने उस मत्स्य को मार दिया लेकिन फिर स्वयं एक निचाधर द्वारा हर लिया गया । राना ने काफी व्रत बगैरह करके उस प्रात किया । लौटता वर करकडु ने दक्षिण के रायों को जात लिया और राह में उस पहला रानी भी प्राप्त हा गई । अन्त में एक दिन मुनि शील गुप्त स अपने पूज्यम का वृत्तान्त सुनकर राजा करकंडु तपस्या क लिए निकल पड़ा ।

नाना देश शैलान्तों में भ्रमण क कारण कथा में प्रसार और बयान में ध्याकता था गयी है । कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से इस काव्य का कथा अत्यन्त समृद्ध है अनक स्थानों पर कहानी में लोक-कथाओं को भन्नक मिलता है । काम्य सौष्ठव की दृष्टि से रचना सामान्य काटि की है ।

कथा-काव्य

पौराणिक पुरुषों का गाथाओं और जनश्रुतियों में प्रसिद्ध राजकुमारों के चरित-काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश में कुछ ऐसे भी प्रबंध-काव्य रचे गये जिनकी कहानी कवि की एकदम कल्पित वस्तु है अथवा किसी लोक कथा के आधार पर कवि द्वारा स्वतंत्र रूप से गढ़ी गयी है। ऐसे आख्यान-काव्य का चरित-नायक कोई प्रसिद्ध राजा अथवा राजकुमार नहीं होता, बल्कि सामान्य वंशिक पुत्र होता है।

अपभ्रंश में इस तरह का एक कथा-काव्य मिलता है। यह मविस्तपत्त है धनपाल (१० वीं शताब्दी ई०) रचित मधिसयत्तकहा^१ कहा अथवा मविष्पदत्त कथा। इसका दूसरा नाम 'सुयपंचमी कहा' भी है क्योंकि 'सुयपंचमी' महात्म्य के लिए यह कही गयी है। बाइस सधियों के इस प्रबंध काव्य में एक तरह से तीन तरह की कथाएँ जुड़ी हुई हैं। कथा का पहला भाग शुद्ध घरेलू ढंग की कहानी है जिसमें दो विवाहों के दुष्पद पक्ष को उजागर किया गया है। इसमें वसिकपुत्र मविष्पदत्त के भाग्य का गाथा है जो अपने सौतेले भाई चधुदत्त के द्वारा कर बार छूले जाने पर भी अन्त में जिन-महिमा के कारण मुक्ती होता है। इस काव्य की कथा का मुख्य अंश यही है और कवि ने इसे आराम से चौदह सधियों में कहा है। चौदहवीं सदी के आरंभ में उसने स्वयं इस कहानी का सारांश इस प्रकार दिया है—

उप्पयणउ चिद वणि वरहँ गोत्ति
परिवद्धिउ ममहँ सालि पुत्ति ।
बाणिज्जे गउ सव्यायरेण
घत्तिउ सायत्ति मायरेण ।
परिहविण गंघि नरनाइ विहु
तेण्णि सम्माणितं किउ वरिहु ।
इथ यहु मडलवद नर-वरिहु
उच्चाइउ निय-मुदि-सयण-विहु ।
पहउ जाणेविणु मन्चलाइ
म फरहु गव्य संपद विहाइ ।
पारंपर-कवह लहिउ मेउ
मइ भक्तिउ सरसइ वणिण एउ ।

१ श्री दत्तात्रेय धीर गुणे द्वारा 'गायकवाइ धीरिण्टन सीरीज' में सम्पादित

पूरी कथा इस प्रकार है कि राजपुर में धनपति नामक एक नगरसेठ रहता था। उसने उसी नगर के एक दूसरे बणिक हरिवल की कन्या कमल श्री से विवाह किया जिससे कुछ दिनों के बाद भविष्यदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। न जाने पूव जन्म के किस जन्म के कारण धनपति का प्रेम कमलश्री से हट गया और उसने कमलश्री को पीहर भेजकर सरूपा नामक एक दूसरी लड़की से शादी कर ला। शाप्र ही सरूपा से बंधुदत्त नामक पुत्र हुआ। जब बंधुदत्त सयाना हुआ तो पिता ने उसे वाणिज्य के लिए देशान्तर जाने की आज्ञा दी। बंधुदत्त ने अन्य अनेक बणिक-पुत्रों के साथ कचनदेश की यात्रा की। माई को न्यापार के लिए जाते देख भविष्यदत्त ने भी साथ हो लेना चाहा। कमलश्री ने पुत्र को बहुत मना किया कि बंधुदत्त के साथ मत जाओ लेकिन भविष्यदत्त ने बंधुदत्त पर विश्वास करके यात्रा आरम्भ कर दी। यात्रा पर जाने से पहले बंधुदत्त की माँ ने पुत्र को उपदेश दिया कि भविष्यदत्त को उठाकर समुद्र में फेंक देना और भविष्यदत्त की माँ ने सदाचार-पालन का उपदेश दिया। यात्रा आरम्भ होने के कुछ ही दिनों बाद अचानक तूफान आ गया और इस साथ की नौकाएँ तिलक द्वीप से ना लगीं। वहाँ उतरने पर जब भविष्यदत्त फूल आदि लेने कहीं चला गया तो बंधुदत्त उसे उस द्वीप में अकेले छोड़कर चल पड़ा।

शकला भविष्यदत्त इधर-उधर भटकते हुए एक ऐसी वैभवशाली नगरी में पहुँचा तो जनशून्य थी। वहाँ उसे एक सुन्दरी मिली और वहीं एक राक्षस भी आ टपका उसने उन दोनों का विवाह कर दिया। बारह वर्ष तक उस नगरी में सुख-पूर्वक जीवन बिताने के बाद भविष्यदत्त अत में अपार धनराशि लेकर अपनी पत्नी के साथ घर चलने को प्रस्तुत हुआ। ज्योंही यह किनारे पहुँचा, उसका माई बंधुदत्त भी आ पहुँचा और उसने अपने किये पर पर्चात्ताप प्रकट किया। चलने से पहले भविष्यदत्त ज्योंही जिन-मन्दिर में प्रणाम करने गया, बंधुदत्त उसकी पत्नी सहित सारी धनराशि लेकर निकल गया। घर आकर बंधुदत्त ने भविष्यदत्त का पानी को अपनी पत्नी बतलाया और विवाह इत्यादि की विधि निश्चित कर ली। इधर भविष्यदत्त की माँ 'सुय पचमा' ब्रत रहती है और उधर भविष्यदत्त जिन की पूजा करता है। इन दोनों के फलस्वरूप उसकी मदद के लिए एक देव उपस्थित हुआ और उसने अपार धनराशि के साथ भविष्यदत्त को घर पहुँचा दिया। भविष्यदत्त ने घर पहुँच कर सारा भेद खोल दिया और राजा के पास न्याय की माँग की। राजा ने बंधुदत्त को दण्ड देकर भविष्यदत्त को उसकी पत्नी वापस करा दी। यहीं प्रथम खंड समाप्त होता है।

दूसरे खंड में क्रमशः दो प्रकार की कहानियाँ हैं। पहली तो यह कि

कुरराज और तक्षशिला नरेश में लड़ाई हुई जिसमें भविष्यदत्त ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया और उसी के पराक्रम से कुरराज की जीत हुई। पुरस्कार स्वरूप राजा ने आधा राज्य और अपनी लक्ष्मी भविष्यदत्त का दी। कहानी का अंतिम मोड़ यह है जिसमें भविष्यदत्त के विविध पुत्र जर्मों की अद्भुत कहानियाँ कही गयी हैं और गिनके सुनने पर यह अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य देकर तपस्या के लिए निकल पड़ा। इस प्रकार दूसरे खंड की कहानी ऊपर से जोड़ी हुई अथवा कवि द्वारा जान-बूझ कर सोदेश्य विवृत की हुई मालूम पड़ती है। कहानी के पहले खंड में लाफ-कथा का जो सङ्ग रस है, वह अंतिम खंड के सोदेश्य मोड़ से नष्ट हो जाता है। संभवतः इसीलिए धनपाल ने स्वयं ही इस कथा के दो खण्ड कर दिये हैं।

काव्य में कह मासिक स्थल हैं जहाँ धनपाल की काव्य प्रतिभा स्फुट हुई है। लेकिन अनेक दृष्टियों से वह प्रसंग सर्वात्तम है जब भविष्यदत्त तिलक द्वीप में अकेला छोड़ दिया जाता है और व्याकुल होकर इधर-उधर घूमता है। न जाने कितने बड़े-बड़े हौसले लेकर वह घर से निकला था, माँ का कितना कितने बादे उसने किए थे। लेकिन अब सभी आशाओं पर पानी फिर गया। वह अकेले पड़ा-पड़ा सोच रहा है—

गय शिफल ताम सर्व्य वशिञ्ज ।
 हुव अम्ह गातम्मि लज्जावशिञ्ज ॥
 ए जत्ता ए वित्त ए मित्त ए गंह ।
 ए धम्म, ए कम्म, ए जीर्य, ए देहं ॥
 ए पुत्तं कलत्त, ए इहं ए दिहं ।
 गय गयउरे दूर देसे परहं ॥

और ऐसे ही विपण्य मन वाले व्यक्ति की आँखों के सामने यह उजाड़ नगरी पड़ती है जिसमें सब कुछ है लेकिन कोई जीवित व्यक्ति नहीं है। देखकर लगता है कि सब कुछ सजा हुआ छाँककर काँई कहीं चला गया है। वह देरता है कि—

यावि-बूव-सु प्पहूव सु प्पसण्य वण्यय
 मन् विहार देहुरेहि सुह तं रषण्यय ।
 दव-मदिरेसु तेषु अतर शियच्छए
 सा ए वित्तु जो कपाइ पुञ्जिऊण पिच्छए ।
 सुरहि-गघ-परिमल पमुणएहि पंसण
 सो ए वित्तु जो करेण गिण्हिऊण वासए ।

विष्क सालि धरण्यं पण्ड्यमि ताणए ।
 सा य विष्णु जो धरमि लेवि तं पराणए ।
 सर-यरमि पकयाइ मभिर-भनर-कदिरे
 सो य विष्णु जा खुनेवि रोइ ताइ मदिरे ।
 हृष गिष्क वर-भलाइ विमएणु विम्नए
 केण कारणेण को वि तोड्डिउं य मक्त्तए ।

कितना बड़ा अभिशाप है कि प्रसून सुरभि-नाथ-परिमल से रस्य कर रहे हैं लेकिन उन्हें हाथ से लेकर खेंचने वाला फाड़ नहीं है पके हुये धान के दाने बिम्बर रहे ह, लेकिन उन्हें धर ले आकर उन्माग करने वाला फाड़ नहीं है सरोवरों में गूतते हुये मीरों से कमल धिरे हैं, लेकिन उन्हें ताड़कर मणिर में ले आनेवाला फाई नहीं है और फलों क भार स पड़ खय हा मुक आय हैं, लेकिन आश्चय है कि उन्हें चखन वाला फाड़ नहीं है ।

और उपवन से आगे चलकर वह राजगवन के पास पहुँचता है तो उसका हृदय (मुँह नहीं) एक एक चीज का दखकर भर आता है । गवाक्षी को आधा खुला छाड़कर फाई चला गया है जैसे ये किसान नव बधू का अधखुला आर्ने हो । फलरु पर गुह्य अन्तदेश हैं लगता है जैसे व यनितायों क अधखुल ऊर प्रदश हो । मरे पूरे समृद्ध माण्ड स्वय अयना अन्तभाग दिखला रहे हैं जैसे नागिन क मुकुट क चिन्ह हो । रमों में एकधनाभिलाषा पुष्पों की तरह दारक गल रहे हैं । यागियों की तरह अतिचलित रग्मे खडे हैं, जैसे सुरतारम्भ क समय मिथुन निवसन हा गय हो । गानदों से परिवर्जित मागों घाल गोपुर निखार पड़ रहे ह । ना महत्तर भवन बहुत दिनों तक जनाकुल थ, व भा अब सुरत समाप्ति क मिथुनों का तरह निष्पनि हा गय हैं । ना घाट पनिहार्गिनियों क निरन्तर आने-जाने स नूपुरों की भनकार से गुञ्जित रहते थ, व अब विधियश नि शब्द हा गय हैं । यह सब दखते देखते मन्त्रिष्वदत्त क अग उमधिन हा उठे और वह अपने शरीर क प्रतिविच का दखता हुआ धार धारे सचरण करन लगा ।

विष्कइ मदिराइ फल अद्ग्याडिध-पाप-भावक्त्तइ
 अद्गलाइराइ स यय-वहु-यणु कडक्त्तइ ।
 अह फलहंतरेण दरिद्रिय-भु-भनर-देसइ
 अद्-दयंमिदाइ विलयाण व ऊर-यणइ ।
 विष्कइ आनथाइ भरियतर भड-समिद्धइ
 पदद्विध-पणुयाइ य याइधि-भडइ विषइ ।

एकक धयाहिलास पुरिसाह व रधि पलित्तह
 वरइत्त-जुगणहं ए वड्ड कुमारिहु चित्तह ।
 जोएसर निवाय करणाहं व जाइय थंमह
 विहडिय-सैसणाह मिहुणाण व सुरयारभई
 निक्कवइ गोउराह परिवज्जिय-गाणय-मग्गह
 पासायंतराह पवणुद्धुअ धनल-धयग्गह ।
 जाह जणाउलाहं चिरु आसि महतर मनणहं
 ताह मि णि-ज्जमुणाह सुरयह सम्मत्तह मिहुणह
 जाह णिरत्तराहं चिरु पाणिय हारिहु तित्थह
 साह वि विहियसेण हूअह खीसह सुदुत्थह ।

सियवंत खियाणह णिइवि तहा उम्माहउ अगह भरह ।

निकखत्तु णियय-यडिडिब-तणु सणियउ सणियउ रुचरह ॥

इस उजाड़ नगरी का वखान पढ़त-पढ़ते लोक-कथाओं की यह नगरी याद आ जाती है जो विपत्ति पढ़न के कारण रातों-रात क्या से क्या हो जाती है। हाथी हथियारे मर जाते हैं और घोड़ा घुन्सारे सारा सोना कोयला हो जाता है और सभी नगर निवासी जहाँ से तहाँ पथर हा जाते हैं।

‘मविसयत्त कहा’ जैसी लोक-कथाओं पर आधारित काव्य, समय है, अपभ्रंश में और भी लिखे गये हों और धीरे धीरे विद्वानों के प्रयत्न से प्रकाश में आएँ।

जैन मुनियों का रहस्यवादी काव्य

जैन मतावलम्बी कवियों के इन प्रबंध काव्यों से भिन्न जैन मुनियों की कुछ मुक्तक रचनाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें जैन प्रबंध काव्यों की सी साम्प्रदायिक गंध नहीं मिलती। जोइ-हु (१ वीं शताब्दी ईस्वी) का परमात्म प्रकाश^१ और योगसार^२ तथा राममिंह (११०० ई० के आसपास) का पाहुहु दोहा^३ ऐसी ही रचनाएँ हैं। साम्प्रदायिक सीमा में रहते हुए भी इनक रचयिता जैन मुनि उस सीमा से ऊपर उठकर अत्यन्त उदार दृष्टि से अपनी बातें कहते दिखाए पड़ते हैं। जिस प्रकार वैष्णव भक्त कवियों ने ब्राह्मण धर्म की सीमा में रहते हुए भी उससे ऊपर उठकर प्रायः ब्राह्मण धर्म की शास्त्रीय तथा आचार-संबंधी सकीर्णताओं के विरुद्ध विचार व्यक्त किया था, उसी प्रकार इन जैन मुनियों ने भी जैन धर्म की शास्त्रीय

१ डा० आग्निनाथ नमिनाथ उपाध्ये द्वारा ‘रामचं’ जन प्रथमाला में सम्पादित १९३७ ई०

२ श्री होरालाल जन द्वारा वारंजा सीरीज में सम्पादित, १९२३ ई०

ऋद्धिपों और बाह्याहवरो के विरुद्ध लोक सामान्य के लिए सरल और उदार दृष्टि से जीव-मुक्ति का संदेश दिया। उद्देश्य में व्यापकता और विचारों में सहिष्णुता होने के कारण इन मुनियों की पारिभाषिक पदावली और काव्य की शैली भी सहज, सामान्य और लोक प्रचलित हो गया।

आइन्दु और रामसिंह दोनों ही जैन मुनियों के विचारों में अद्भुत साम्य है, यहाँ तक कि किसी समय उपयुक्त तीनों रचनाएँ एक ही कवि जोहदु की कृति मानी जाती थीं। पाठ्य अनेक ठोस प्रमाणों के आधार पर यह पुष्ट हो गया है कि ये दो मिन्य कवियों की कृतियाँ हैं। यों भी यदि 'परमात्म प्रकाश' और 'पाहुड़ दाहा' की भाषा शैली का तुलना की जाय तो स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ेगा। 'परमात्म प्रकाश' की भाषा अधिक समास-बहुल, जटिल तथा 'एत्त्व' विधान-बहुल दिखाई पड़ती है, जब कि 'पाहुड़ दाहा' का भाषा पुराना हिंदी के परमात्म प्रकाश निकट की तथा बोलचाल का सरल उच्च प्रतात होती है। इसके अतिरिक्त 'परमात्म प्रकाश' ज्ञान-गरिष्ठ और विचार प्रधान है जब कि 'पाहुड़ दाहा' में लोक प्रचलित दैनंदिन जीवन के उदाहरणों के सहारे बड़े सजोब और मार्मिक ढंग से तत्व ज्ञान की ऊँची-ऊँची बातें अनायास कह दी गयी हैं।

'परमात्म प्रकाश' दो अधिकारों में विभक्त ३३७ छंदों में योजनानुसार लिखा हुआ रचना है। इसमें तत्वज्ञान को विभिन्न विषयों में बाँटकर एक-एक करके समझाया गया है पहले अधिकार के विषय सामान्यतः आत्मा परमात्म, द्रव्य गुण, पयास, कर्म, निश्चय, सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व आदि हैं और दूसरे अधिकार में मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष का फल निश्चय और व्यवहार मोक्ष-भाग, अभय रत्नत्रय, समभाव, पाप पुण्य की समानता, शुद्धापयोग तथा परमसमाधि की चर्चा है।

'यागसार' 'परमात्म प्रकाश' की अपेक्षा अधिक सरल और मुक्त रचना है। विषय विवेचन में स्पष्टतः किसी प्रकार की योजना अथवा योगसार क्रम का पता नहीं चलता। परमात्म प्रकाश की ही बातों को इसमें सुरोध तथा काव्याचित ढंग से कहने की कांक्षित की गयी है। 'परमात्म प्रकाश' से यह छोटा रचना है। इसमें कुल मिलाकर १८ छंद हैं। जोहदु की दानो ही इतिया अधिकांशतः दोहा छंद में ही हैं।

'पाहुड़ दाहा' दो सौ बाइस दाहों (यद्यपि इसमें दाहा का अतिरिक्त कुछ दूगरे छंद भी हैं) की छोटी सी रचना है। इसके सपादक था हीरालाल जैन के अनुसार 'मुनियों ने पाहुड़ शब्द का प्रयोग किसी विशय विषय के प्रतिपादन के अर्थ में किया है। मुद्दुदाचाय का प्रायः सभी ग्रंथ 'पाहुड़' कहलाते हैं यथा

समयसार-पाहुड़, प्रयत्न-सार-पाहुड़, भाव-पाहुड़, बोध-पाहुड़ आदि। साम्प्रदायिक जीवकांड की ३२१वीं गाथा में इस शब्द का अर्थ 'अधिकार' पाहुड़ दोहा उतलाया गया है 'अद्विपारो पाहुड़यं'। उसी ग्रंथ में आगे समस्त 'भुतज्ञान' को पाहुड़ कहा गया है^१। इससे निरित होता है कि धार्मिक सिद्धान्त-संग्रह को पाहुड़ कहते थे। 'पाहुड़' का संस्कृत रूपान्तर 'पामृत' किया जाता है जिसका अर्थ उपहार है। इसके अनुसार हम वर्तमान ग्रंथ के नाम का अर्थ 'दोहा का उपहार' एसा ले सकते हैं।

रामसिंह राजस्थान के रहने वाले थे, इसलिए उनकी उपमाओं पर भी स्थानीय प्रभाव स्पष्ट है। अन्य कवियों ने चंचल मन की उपमा जिन पदार्थों से दी है, रामसिंह ने उन उपमाओं का छोड़कर मन की उपमा करहा (ऊट) से दी है—शायद इसलिए कि उनके लिए गति की तीव्रता का प्रतीक 'करहा' ही था।

'पाहुड़ दोहा' के रहस्यवाद पर विचार करते हुए श्री हीरालाल जैन ने लिखा है कि "इन दाहों में जोगियों का आगम, अचित्त चित, देह देवली, शिव शक्ति, संकल्प विकल्प, सुगुण निगुण, अधर बोध निबोध, धाम दक्षिण मध्य, दा पय, रवि, शशि, पवन, फाल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें वाग और तांत्रिक ग्रंथों का स्मरण आये बिना नहीं रहता। इनकी भाषा साकेतिक है और साकेतिकता में इनकी समानता बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों और दोहा-कोषों से दिखाई पड़ती है।

लेकिन 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार' और 'पाहुड़' दाहा तीनों को एक साथ रखकर देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस तरह की रहस्यात्मक प्रवृत्ति उन सबमें विद्यमान है। और यदि इन जैन मुनियों के दायरे से आगे बढ़कर उस समय के अन्य धर्मान्तरी सतों की रचनाओं पर दृष्टिपात किया जाय तो दिखाई पड़ेगा कि ऐतिहासिक रूप से वह युग ही ऐसा था जिसमें प्रत्येक धर्म के मानर इस तरह के उदारमना चिन्तक फिर पैदा हुए थे जो अपने मत और समाज की

१ पाहुड़ दोहा भूमिका, प १३

२ इन कवियों की रचनाओं के लिए रहस्यवाद शब्द का प्रयोग किसी अधिक उचित शब्द के अभाव में ही किया जा रहा है। अग्रजों में इस तरह की रचनाओं के लिए मिस्टिक और मिस्टिसिज्म शब्दों के प्रयोग की परंपरा ही चल पड़ी है। नाथ सिद्ध और संत कविता पर भी यही शब्द चलाया गया है और धार्मिक रोमंटिक कवियों के लिए भी लागू होता है। व्यक्तिगत रूप से लेखक इन तरह के पुराने कवियों के लिए मिस्टिक शब्द को अनुपयुक्त और अमक समझता है।

रुद्रियों का विरोध करते हुए मानवता की सामान्य भाव-भूमि पर एक साथ खड़े थे। मारताय समाज में एक श्रौर स्थिति-स्थापक पुराण-पथा रुद्रिवाद प्रवृत्ति और दूसरी श्राव रुद्रि-विरोधा नवोभेष शालिनी शक्तियों का जा सघन दिखाई पड़ता है उसकी अभिव्यक्ति घामिक पदावली में उस युग के साहित्य में माहती है। ये जैन-मुनि उसा नवाभेष के अभिव्यक्ति हैं। मानवता का सामान्य भाव-भूमि पर खड़े होने के कारण ही इनका अन्य मतों से कोई विरोध नहीं है सबके प्रति ये सहिष्णु हैं और इनका विश्वास है कि समाज में एक ही विश्वास का श्राव ले जाते हैं और एक ही परम तत्व का विविध नाम से पुकारते हैं—

जो परमप्यउ परम-पठ, हरि हर-वमुधि बुद्ध ।

परम पयासु मणति मुणि, सो जिण-पेउ विमुद्ध ॥

(परमाणु प्रकाश, ३२३)

सा सिउ-सकरुविण्णु सो, सो रुद्रि सो बुद्ध ।

सो णिसु ईसक वसु सो, सो अणतु सा सिद्ध ॥

(योगसार, १५)

ये इतने मुक्तमन थे कि प्रकाश जहाँ से भी मिले उसे स्वीकार करने के पक्ष में थे। प्राय के आरम्भ में प्राय कविजन अपने अपने आराध्य देव साम्प्रदायिक देव अथवा गुरु की बंदना करते हैं लेकिन रामसिंह ने प्रकाश शान्त-मात्र को अपना गुरु माना है चाहे वह सूर्य हो, चाहे चन्द्रमा, चाहे ज्ञाना। इसी तरह आइन्दु ने मा ज्ञान-मात्र को स्वामरि मानकर उस परमाणु की बन्दना सबसे पहले की है ता 'नित्य निरञ्जन-ज्ञानमय' है।

प्रकाश और ज्ञान के ऐसे साजियों के लिए स्वामाविक है कि पुस्तकों के तयाकथित ज्ञान का ही ज्ञान न समझें। शास्त्र ज्ञान-शोध के लिए अधिक से अधिक सहायक हो सकता है, वह ज्ञान की पराकाष्ठा नहीं हो सकता। साम्प्रदायिकता शास्त्रों से ही बनता है, सकीश मयादाए विभिन्न मत के प्रयोग ही निवारित होती हैं। फलतः इन मुनियों ने अक्षर ज्ञान तथा पुस्तक ज्ञान का विरोध किया।

'सत्यु पन्नुवि हाइ पण्डु' (प० प्र०, २०६), अथवा

'चेल्सा-चेल्ली-पुठिययहिं, त्सइ मुडु णिमंतु ।' (प० प्र०, २११), या

'धम्मु ण पदियईं हाइ पण्डु, धम्मु उ पात्या णिण्णयइ ।'

(योगसार, ४७)

और 'सुद्धयहिं पणियईं मूत् पर, तालू सुक्करु पय ।

एकमुणि अरखव त पण्डु, सियपुरि गम्मइ जेण ॥ (प० दो०, ६७)

‘पद्मदर्शन’ का विरोध जो रामसिंह आदि ने किया है, वह इसलिए कि उन्होंने एक ही देव क छह भेद कर दिये और इस तरह उनसे भेद भावना का प्रसार हाता है। व्यवहार के क्षेत्र में यह शास्त्र विरोध और अक्षर-खण्डन धर्म के ठेकेदार पंडितों और पुराहितों पर सीधा प्रहार था दूसरी ओर इसके द्वारा उस जन-साधारण के लिए ज्ञान का सहज द्वार खुल गया, जिन्हें पढ़ने लिखने की सुविधा प्राप्त न हो सकी थी।

अब प्रश्न यह है कि कोरे अक्षर ज्ञान का विरोध करके इन मुनियों ने जा एक अक्षर’ पढ़ने की राय ली वह एक अक्षर क्या है? काइ मात्र है या किसी का नाम है जिसका जाप किया जाय ?

मुनियों ने कहा कि आत्म ज्ञान ही यह एक अक्षर है, जिसके बाद और कुछ जानना नहीं रहता। आत्मा ही आत्मा की प्रकाशित करती है जैसे रवि का राग अक्षर का।

‘अणु पयासइ अणु पर, जिम अक्षरि रवि राउ।

सिद्धों ने जिसे स्वक सन्निति’ अथवा ‘स्वसंवेद्य ज्ञान’ कहा है, उसे ही इन मुनियों ने आत्म ज्ञान नाम दिया है। शास्त्र ज्ञान से अनुभव ज्ञान बड़ा है, यह धोपखा करके इन मुनियों ने सामान्य जन को ज्ञान का बहुत बड़ा आत्म बल दे दिया।

जब आत्म ज्ञान तथा अनुभव साक्षिक ज्ञान ही सवापरि है ता यह सबके घूटे की बात हो सकती है। यह अनुभव-साक्षिक-ज्ञान इसी देह और मन से संभव है। इसलिए यह देह-मन उपेक्षणीय यस्तु नहीं है। यही कारण है कि इन मुनियों ने धर्मापदेशकों द्वारा अपवित्र कही जाने वाली देह का ‘देवल’ अथवा देव मंदिर की गरिमा प्रदान की।

देहा दवलि जा बसइ, देउ अण्णार अण्णु। (प प्र०, १३)

मूटा, नेवलि देउ यवि, यवि मिलि लिण्णइ चित्ति।

देहा देवलि देउ जिण्णि, सा बुग्गहि समचित्ति॥ (यागणार, ४४)

देहा दवलि जा बसइ, सत्तिहि सद्धियउ देउ।

को तहि जाइय सत्तसिउ, सिण्णु गयेसहि मेउ॥

(पा० दो०, ५३)

एसी स्थिति में जब कि यह देह-मंदिर ही उस परमात्म का निवास-स्थान था, अथवा जान का क्या आवश्यकता है? आवश्यकता तो इस बात की है कि परमात्म के आवास इस देह मंदिर का स्वच्छ और पवित्र रखा जाय। चित्त को निमलता पर जोर देने का यही कारण है, क्योंकि निमल मन में ही उस देव का

निवास संभव है उसी तरह जैसे सरोवर में हंस लान रहता है—

स्थित-मणि शिम्मलि शाशियह, शिवसद देउ अयाह ।

हसा सरिवरि तीणु पिम, महु एहउ पण्हार ॥

(प० प्र०, १२२)

देह और मन का पवित्रता तथा सम्भव है जब इसक तथा इसक कावों में आसक्ति न हो । जा देह मन में धाम करता हुआ मा उसमें धाम न करे, उससे कार्य करता हुआ मा न करे उसे जोइदु और रामसिंह दानों ने 'उम्बस वसिया' कहा है । यह मन को वह स्थिति है जिसमें पाप और पुण्य दानों के प्रति आसक्ति नहीं रहती ।

आत्मा का इस स्थिति को इन मुनियों ने 'समरस भाव' कहा है । उस स्थिति में आत्मा-परमात्मा में भेद नहीं रह जाता आत्मा परमात्मा में लान हा जाता है दूसरे शब्दों में आत्मा परमात्मा हा जाता है ।

मणु मिलियउ परमेसरहा, परमेसर जि मणस्स ।

विरिणु वि समरसि हुइ रहिय, पुञ्ज चङ्गावउँ कन्स ॥

(पा० श०, ४६)

जा परमप्पा सा जि हउ, जा हउँ सा परमप ।

(प० प्र० १२)

यहां परम ज्ञान है और यहां परम मातृ है क्योंकि ज्ञान हा मातृ है—

‘शाश्वि सुक्ख न भति

(प० प्र० १६६) ।

ज्ञान का सूक्ष्म शब्दावला में कहा हुआ वह बात व्यवहार में सामान्य जन के लिए बहुत बड़ा सहारा साबित हुआ । आत्मा-परमात्मा का गूढ़ बात न समझने हुए मा इन दाहों का पढ़कर अथवा सुनकर साधारण आदमा जा शक्ति का अनुभव करता है, उसका यही रहस्य है कि वह शरार का ही परमात्मा का निवास समझकर आत्म-गौरव अनुभव करता है वह अनुभव करता है कि यदि एक हा परमात्मा दिना किता बरों जाति भेद के सभी देह-भेदों में निवास कर सकता है, ता उससे समरस भाव बनाए रखने के लिए पुचिता का आचरण क्यों न किया जाय । इस प्रकार वह पुचिता और स्मरसता का आर अग्रसर हाता हुआ आत्म-गौरव का अनुभव करता है । पूजा-पाठ का अथवा, मंदिर प्रवेश का अनुमति, शार्थ-भाषा के स्थान, शस्त्र अर्पण की मुविधा आदि न मिलने पर मा पवित्रता के द्वारा परमात्मा का पाने का संदेश कितने बड़े आश्चर्य का स्थिति हा सकता है, इसे सहज ही अनुमान किया जा सकता है । इन मुनियों ने यही महान संदेश दिया था ।

बौद्ध सिद्ध कवियों की रहस्य-साधना

जैन मुनियों की तरह लगभग उन्हीं के समकालीन पूर्वी प्रदेशों के रहने वाले बौद्ध सिद्धों ने भी रहस्यवादी कविताएँ लिखीं। इनमें से सरह या अथवा 'सररह बज्र' (८वीं शताब्दी ईस्वी) तथा काण्ह या या कृष्ण पाद आचाय (९ वीं शताब्दी ईस्वी) के दोहा कोष अधिक प्रसिद्ध हैं। दाहा कोषों के अतिरिक्त इन दोनों सिद्ध आचार्यों की और भी कई रचनाएँ मिलती हैं, किंतु सब की भाषा ठीक ठीक अपभ्रंश ही नहीं कही जा सकती। इनकी गीतियाँ प्रायः देश्य मिश्रित अपभ्रंश में लिखी गयीं प्रतात होती हैं। दोहों की भाषा पर भी पूर्वी प्रदेशों की स्थानीय बोली की गहरी छाप है, फिर भी उनका ढाँचा मूलतः साहित्यिक अपभ्रंश का ही है। फिर भी आधुनिक विद्वानों ने सिद्धों की भाषा को लेकर कभी उन्हें पुरानी बंगला का कवि कहा है और कभी पुरानो हिंदी का।

जैन मुनियों की तरह सिद्धों ने भी शास्त्र ज्ञान, मन, मंदिर, तीघाटन आदि वाह्याचारों का खडन किया है। अपने संस्कार के अनुकूल इस खडन-कार्य में जैन-मुनियों का स्वर जहाँ मद्रिम दिखाई पड़ता है, वहाँ सरह और काण्ह अत्यन्त उग्र दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने बड़े ही सहमार ढंग से अपनी बातें कही हैं। जैसे पाण्डव का खडन करते हुए सरह कहते हैं—

याम्हणदि म जाणन्त हि मेठ ।

एवइ पदियउ ए चउ बेठ ॥

मडि पाणि कुस लई पदत ।

घरही बइसी अग्गि हुणंत ॥

कअे विरहइ हुअनइ हाम ।

अन्ति बहाविअ फहुए धूम ॥

रंडी-मुंडी अण्ण, वि वेसें ।

दिक्किअइ दक्खिण उहेसें ॥

जइ एगगाविअ हाइ मुत्ति, ता मुण्ह सिअालइ ।

लाम उपाडण अत्थि सिद्धि, ता जुयइ शिअग्गवइ ॥

पिच्छी गहणे दिइ मोक्कय, ता मारइ वमरइ ।

उण्ण मोजणे हाइ जाण, ता करिइ तुरगइ ॥

शास्त्र ज्ञान के विरुद्ध ये सिद्ध कवि भी 'स्व-संघर्ष ज्ञान' का सर्वापरि मानते हैं।

सरह ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'सअ-अरिअ तत्तपण्णु' अयात् 'स्वफ-संवित्'

१ डा प्रबोधचंद्र भागवी द्वारा बनारस विश्वविद्यालय के जनक छाँव दि

विषाटमेंट धाँ व सेटस जिल्द २८ में सम्पादित १९३५ ई०

हा तत्त्वफल है। शान्ध का पढ़ना वे उसी हृद तक उचित समझत थे जिससे शास्त्र से मुक्त हुआ जा सके। सरह के अनुसार 'ताप' से अस्वर धानिआ जाव शिरस्वर हाद ।'

इन विद्व कवियों का भा आदर 'समरसता' है। जरामरण से मुक्ति तभी मिलता है, जब सहज भाव से चित्त को निश्चल करके 'समरस' से राग किया जाय। कारण के अनुसार—

सहज शिचन तय क्रिय, समरसे शिग्र-मण-राश्र ।

विद्वो सो पुषि तस्वरय, गुठ जरामरणह माय ॥

लुकिन त्रैनिधो से इनमें विशयता यह था कि 'सहन' माग पर य विशय गल देते थे। काय-बलश इहै पसद न था। सरह न ध्यान से राहर मास का नूदन बाल तथा ज्ञान विडम्बित भय बाल क्षणका मात्र को म्बू खिल्ला उहाई है और श्रव म—

सरह मणद स्वशाय मास्व, महु किमि न भावह ।

तत्त-रक्षि काश्रा ए ताय, पर पयल साहद ॥

कमा व सहन रग से जायनयापन का आग्रह करते हुए पगुओं का तरह बन्ध जायन उताठ करन का आकांक्षा करते हैं।

सरह गहण गुहिर मग कहिआ ।

पम् लाश्र निव्वाहि निम रहिआ ॥

इस अधिधा में न लेकर सामाजिक आडंबर का ताम्र प्रतिनिया हा समभला चाहिए। इसके टनक सामाजिक श्रवताप का अनुमान लगाया जा सकता है। जावन म सहज का आनहारिक रूप था गृहस्थ और सजस्त भियनिरो के दा छारो के राच गृहस्थ जावन में हा अनासक्त हान का प्रयत्न करना। इसा बात का 'धर' और 'वन' के प्रताको द्वारा सरह करते हैं—

धरहि न थकहु म जाहि धये, जहि ठहि मण परिआए ।

उन मुनियो न जावन के इस रागपूण पत्र पर जार नहीं दिया था। वे श्रविक से श्रविक देह का देवल कहकर हा बक ग्ये। यौद्ध विद्वों न राग में निराग का स्थायता को और राग का विराग का आनश्यक साधन माना। सरह का कहना है—

धरद लज्जद, सहज रज्जद, किज्जद राश्र विराग ।

शिग्र पास मद्दहा चित्ते मद्दा नाण्णि महु पन्दिहाद ॥

इसा पाठ का फारह ने 'धरणी' के रूपक से कहा है। इस तरह इन विद्व कवियों ने जावन के राग विराग में भा समरसता स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस सहज समरसता का ही उन्होंने 'परम महानुगत' कहा है।

कुल मिलाकर सिद्धों का रचनाश्रो में जीवन के प्रति बहुत बड़ा स्वीकारात्मक दृष्टिकोण है। उनका दर्शन का यही रचनात्मक पक्ष है जो उन्हें आशावादी बनाए रखता है। इतने अधिक विरोधों के सम्मुख अडिग रहना उनके आशावाद का पक्का प्रमाण है।

उनके कथन में रहस्य कहीं नहीं है, जो है सब स्पष्ट है हाँ यदि कहीं-कहीं गुह्य श-दावली दिग्दर्श पढ़ती है तो उसे उनकी अनिर्वचनीयता की प्रताकात्मक अभिव्यक्ति का रूप में ही समझना चाहिए। कुछ पारिभाषिक शब्द प्रायः सभी लोगों के तकियाकलाम बन जाते हैं सिद्धों का साथ भी यह कमजोरी लगी रही। कभी कभी अपने 'परम महासुख' की अनुभूति का व्यक्त करने के लिए जब सरह कहते हैं कि जहाँ मन, पवन का संचार न हो, जहाँ रथि शशि का प्रवेश न हो अथवा जहाँ 'गगनगिरि की नदी में जल पीन की चर्चा करते हैं तो इनके द्वारा अज्ञान और अलौकिक की श्रार अस्पष्ट रूप से संकेत करना चाहते हैं। कुल मिलाकर इनका कहने में एक शक्ति है, प्रहार में निर्भीकता है, भावों में सीधे दिल का छूने का ताकत है और भाषा में अगणत सौंदर्य है।

शृङ्गार और शौर्य का रोमांस काव्य

अपभ्रंश में जैन परिहर्ता, मुनियों और बौद्ध सिद्धों का धार्मिक साहित्य के बीच ऐहिक जीवन का लेकर लिखी हुई वीर और शृङ्गार की ललित रचनाएँ मिलती हैं। हमचन्द्र के प्रकृत व्याकरण में संकलित रचनाओं का अधिकांश ऐसा ही है। कहा नहीं जा सकता कि हमचन्द्र व्याकरण के दोहे ने यह मधुर मधुचक्र किन किन काव्य प्रयोगों से तैयार किया है। इनका रचयिता कवियों का नाम अज्ञात है। हमचन्द्र के व्याकरण में जो नाति अन्योक्ति अथवा धम संबन्धी रचनाएँ हैं उनमें से कुछ का आदि स्रोत तो जैन काव्य-प्रयोगों में मिल गया है। लेकिन शौर्य और शृङ्गार का एसे बहुत से दाहे हैं जिनका आदि स्रोत अज्ञात अज्ञात है। चाहे इनका रचयिता जैन कवि हों अथवा जैनतर लोक कवि, इतना निश्चित है कि संपूर्ण अपभ्रंश साहित्य में इनका सौंदर्य सबसे अलग है। जैन मुनियों का आचार प्रधान कृतियों के बीच उत्साह और दर्प से भरे हुए उस काव्य की देखकर साफ मान्य होता है कि वह आभीर, भाष, गुजर आदि युद्धप्रिय जानियों का उन्मुक्त हृदयाद्गार हैं। युद्धों का वसान तो अपभ्रंश का अनेक चरित काव्यों और पुराणों में भी मिलता है, लेकिन उनमें हाथियों की चिपाक, पाशों के टाप की आवाज और शम्भु के नाम की लम्बी सूची ही अधिक मिलता है उच्च वार-हृदय का उत्साह यहाँ कहा ? यदि ऐसा शौर्य देवना है तो हम व्याकरण के इन उदाहरणों को देखें। यहाँ

पुत्र का पौत्र ही नहीं, उसका पार्व में तार रमणी का रूप मरा प्रोत्साहन मा मिलेगा—यदि एक आर शिव का ताण्डव है तो दूसरी आर उनके पार्श्व में शक्ति का सास्य भी है। फहाँ हैं एसी औरतें जिन्हें युद्ध के बिना उदास लगता है।

ती है कि किसी तरह प्रिय लड़ाई मित्राई के कामों से तले लौकिक कर रतें और मुख शक्ति पूरक कुछ कहती है—

हिं सहहुं, निय तहि देखहि जाहुं ।

गाह, भिणु तुम्हें न उलाहुं ॥

गय ! तब से यहाँ आये युद्ध का अकाल पड़ा बलो जहाँ खट्ग का व्यवसाय होता हो। हम ता प बिना युद्ध के स्वल्प न हंगि ।

क शस्त्र-व्यवसायी वही धरा न समझ लें कि यह का बात-चात है ।

औरतें गौरा पावती से न जाने क्या क्या घरगान मांगता हैं ! अक्सर तो बटा-बटा ही मांगता हैं और यदि बटा-बेटा हैं ता धन मांगता हैं और यदि धन भा हुआ तो अचल मुद्राग मांगती हैं लेकिन इस काव्य-लाक की यह नारी अद्भुत है। मांगता क्या है कि—

आमहि जम्महि अन्नहि वि, गारि सु दिजहि कतु ।

गद मन्ड चत्तकुसह जो अम्मिदर हसतु ॥

और यह घर बंटे-बंठ बरदान हा नहीं मांगा करता, स्वयं भा लगाई के मंगान में जाकर पति का समय-समय पर प्रामश देता रहता है। देवता है कि पति तलवार से मटों का सिर मग्न करता चला आ रहा है। उसे सहसा बचार कामानिकों की याद आ जाता है कि वे अमग्न कपाल के अमान में आन साधना कैम करेंगे ! इसलिए भट कहती है—

प्रिय, एमहि करे लेहनु करि, छुहुदि तुहु करवालु ।

अ फालिय सपुटा सहि अमगु कवालु ॥

उपर पति धव कैसे है ! युद्ध में लड़त-लड़त पावों में अगना अतर्कि उलन गया है, फिर कध पर मूल गया है फिर मा हाथ तलवार से नहीं हटा है—

पार विभगो अजना, गिय सहनिउ पधम्नु ।

तायि फारह हपडउ, यनि कित्रउ जंतु ॥

इतना ही नहीं, कभी-कभी उनका मन इस सामा तरु पहुँच जाता है कि पर का सय कुछ देते देते फवल प्रिया यच रहता है और युद्ध में ती अने आन का

भी छुटा देते हैं, केवल तलवार बच रहती है—कितनी समानता है ! हथर तलवार बची और उधर उससे भी पैनी मिया। केवल उन दोनों का सहारा हाथ चला गया। और इतने बड़े सत्य का नायक स्वयं नहीं कहता, कहती है उसकी यही मिया—

देनहो हउं परि उधरिअ, जुम्हन्तहो करवालु ।

नायिका कहती है कि मरे कत के ये दो बाप हैं ! सच !

यहाँ ऐसे ऐसे स्वामिभक्त भट दिखाइ पड़ते हैं कि युद्ध क मैदान में स्वामिकाय के लिए कौन पहल जूके—इसी होड़ में वे आपस में हाँ जूक मरते हैं स्वामी का काम धरा रह जाता है। कवि कहता है कि ऐसे उत्साही भटों का बोझ देना भी बंधार है—

ते मुग्गडा हरानिआ, जे परियिडा ताह ।

अधरोपरु जाअताह, सामिउ गंजिउ जाह ॥

इस काव्य जगत में उत्साह का भाव केवल रण-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में चलने वाले सघन में भी उसी प्रकार की प्रेरणा ली जाती है। किसान जीवन भर अपना छोटा गई जमीन को फिर से पाने के लिए लड़ता रहा लेकिन नहीं ले सका। अतः में जब उसने अपने लक्ष्य को सपाना हात देखा और यह भी देखा कि वह उस भूमि के लिए प्रतिकार नहीं करता तो मरते मरते धिक्कारता गया—

पुत्तें जायें कवरु गुणु, अबगुरु कवरु मुएण ।

जा यणा की भूइडी, चपिअइ अघरेण ॥

ऐसे ही शरीर, उत्साही और कर्मठ नरनारियों का प्रेम भी उस मुक्तक माला में व्यक्त हुआ है। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ऐसे स्वस्थ मन और स्वस्थ मन वालों का स्नेह कैसा हो सकता है ! पलङ्ग पर पड़े-पड़े विरह में कराहने वाले नागर जनों का यह प्रेम नहीं है और नहीं है दिन दहाइ घर में घात लगाये बैठे रहने वाले डैना का यह रति-रत्न। यहाँ विरह-तप्त नायिका ध ऊपर गुलाब जल और इत्र की शीशा नहीं खाली की जाती। इस काव्य-श्लोक की नायिकाएँ भी आभूषणों और वस्त्रों का दुकान नहीं हैं। नायिका क वेश विन्यास का तो यह हाल है कि—

सिमि जरि-खडी लाअड़ी, गलि मणियडा न शोय !

फिर भी उसका रूप गुन का जादू वा देखिए कि—

ता यि गाइडा कराविआ मुददे उड बरु ।

इस सीध-सादे निधन लाक-जीवन का सौन्दर्य ही ऐसा है कि इसके गाठ

म अपने को बहुत लगाने वाले अधान रसिकों को भी उठक-बैठक करनी पड़ती है। कौन कहे, यह कविता भी ऐसी ही है, जिसमें न मीना आवरण है न अलङ्कृत आभरण, फिर भी इसने यड़े-यड़े अलंकारवापी परिदृश्यों को अपने जादू से उठ-बईस करा दिया।

नायिका अभी अच्छी तरह वयस्क नहीं हुई है। शरार पर जा कुछ है, सब कुछ ही है। मध्य भाग तुच्छ है और रोमांचली तुच्छ है इस पर से कुछ हास और तुच्छ जल्पना लेकिन इसके बाद जो सरसे तुच्छ वस्तु है वह तो कहने में भी नहीं आ सकती।

कटारि यणतक मडडहे जे मणु विधि न माह

स्तनों के बीच की दूरी को कमी तो बहुत जगह देखा गयी लेकिन यह जगह इतनी कम हागी कि उसमें नायक का मन भी न अमाएगा—यह तो यहीं सुना और इसी मुग्धा क यहाँ देखा।

धारे धारे ये स्तन इतने उत्तुंग हा जाते हैं कि नायिका उनसे परेशान हो उठती है क्योंकि अतः उनसे स्नान की जगह हानि होने लगी है—उनके कारण प्रिय उससे अघरों तक पहुँच ही नहीं पाता! बेचारी इतनी मोली है कि प्रिय के अघरों का तो दाप दे नहीं सकती है कि वे गन्तव्य तक पहुँचने से पहले ही क्यों विरम जाते हैं, इसलिए वह अपने ही अघों पर खीन प्रकट करती है—

अइ तुगतणु ज यणह, सो छेयउ, न हु लाहु।

सहि, जइ कम्बर तुडि-वसेण अहरि पडुबइ नाहु ॥

ऐसी ही नायिका निप का गाँठ होती है, लेकिन मानूली विप की गाँठ नहीं, 'नवला कवि विस्-नाठि। इसका नोखापन यह है कि—

भहु पच्चलिआ सो मरइ, जासु न लग्गइ कठि।

यह नोखापन शरीर तक ही सीमित नहीं रहता इसका प्रसार हृदय क निविध व्यापारों तक दिखाई पड़ता है। नायिका का प्रिय दीपी है—यह बात वह न जान कितने मुह से मुन चुकी है और उन युक्तियों क विरुद्ध उसके पास कुछ भी तक नहीं है। वह अपने मन से लाचार है। जब एक सती फिर कहने आती है, तो नायिका उससे नम्रता के साथ कहती है—

मणु सदि निहुअउँ तेय मइ, जइ गिउ दिठ सदासु।

जब न जाशइ मणु मणु पक्कानदिअँ वासु ॥

जब प्रिय सथाप है तो ऐसी बात एकांत में कदा, लेकिन एते एकांत में कि मरा मन भा न जानने पाये क्योंकि वह तो प्रिय का पक्षपाती है! मला ऐसी नायिका को एकांत कहाँ।

पुरुष युगों से स्वेच्छाचारी होते ही आये हैं। कहीं के कहीं रग गय ! लेकिन नारी उसे कैसे छोड़ दे ! आग से घर जलता ज़रूर है, फिर भी उसमें काम लेना कोई कैसे छोड़ दे !

विपिण्य आरउ जइवि पिउ, तोवि त आणहि अजु ।

अग्गिण्य वण्डा जइवि घर, तो तें अग्गि कजु ॥

प्रिय की अनुपस्थिति में नायिका मन ही मन नाना प्रकार के संकल्प करती है। इस घर उसने एसी क्रीड़ा करने का इरादा किया, जैसी कभी नहीं की थी ! क्रीड़ा यही कि जिस तरह मिट्टी के नय घतन में रखते ही पानी उसके कण कण में भिद जाता है, उसी तरह मैं उसके सर्वाङ्ग में प्रवेश कर जाऊँगी !

जइ भेवई पावीसुं पिउ अकिया कुइहु करीसु ।

पाणिउ नवइ सरावि जिध सव्वंगें पइसीसु ॥

लेकिन पहले वह मिले ता सही !

वह मन ही मन संकल्प करता है कि प्रिय आएगा, मैं रुटूँगी और मुझ रुटी हुई को वह मनाएगा लेकिन उसकी सारी रातों ऐसे ही मनोरथों में नित्य बीत जाती हैं ! आखिर प्रिय आता है तो सार मनारथ ताक पर घरे रह जाते हैं—

अग्गीए सत्थावत्थेहिं मुधि चित्तिअइ माणु ।

पिय दिहे हल्लोइलेण, को चेअइ अप्पाण ॥

मन किस तरह धोखा दे गया। मान वह करे जिसकी व्यवस्था स्वस्थ हा। यहाँ ता प्रिय को देखते हा हकबकी में अपान ही विसर जाता है !

इस तरह प्रणयी जीवन क इन दोहों में वह सादगी, सरलता और ताज़गी है जो हिंदी के समूचे रीति काव्य में भी मुश्किल से मिलेगी। कला यहाँ ज़रूर है, चातुरी यहाँ लूस है, एक एक शब्द में अधिक से अधिक चमत्कृत करने की शक्ति भी हो सकती है, मसलब यह कि यहाँ गागर में सागर भरने की करामात हा सकती है लेकिन गागर में गागर जितना ही अमृत भरने का जा चेष्टा यहाँ है—उस पर रीझने वाले मुजान भी कम नहीं हैं। कठिन काम गागर में सागर भरना हा सकता है लेकिन गागर में अपना हृदय भर देना कहीं अधिक कठिन है। हैम [व्याकरण के इन दोहों की गागर एसी ही है ! आर्या और गाहा सत्सर्ग की तरह इस दोहावली के भा एक-एक दाहे पर दणनों प्रबंध काव्य निश्चावर किये जा सकते हैं।

ऐसे ही मनाहर मुक्तक प्रबंध चिंतामणि में सफलित मुज के अपभ्रंश दोहे हैं। पता नहीं ये दोहे मुज के जीवन पर लिखे हुए किसी प्रबंध-काव्य के

जुद्ध अश्लेष मणि हैं, अथवा मुक्तक रूप में ही लाल
 मुज के दोहे परमरा म चल पड़े थे ! तिर भी एक-एक दाह में पूरे
 प्रसंग का मार्मिक निष्कप मरा पडा है । मुज की कहाना
 अपने आप में इतना कायात्मक है कि य साध-सादे दाहे मा प्रसंग-गमत्व के
 कारण हृदय पर साध चाट करते हैं । तैलपराज का कैद में पडा हुआ मुज अपने
 किए पर भंग रहा है । एक ता उसने अपने मन्ना रुद्रादित्य मेहता के मना करने
 पर मा गादावरा पार कर तैलय पर चढ़ाई का श्रौर अपने उस 'मुमन्वितक मन्त्री का
 मा दिया दूसरे यहा अपने पर तैलय मग्निना मृणालयता पर विश्वास करके भाग
 निकलन की यनी बनाइ याचना उससे कह दी श्रौर इस तरह अपनी जान हा नहीं,
 अपने साधियों का मा जान खतरे में डाला । इतना मूलों का फल उसे भोगना
 पडा श्रौर यह मा इस रूप में कि 'उसे रस्ती में बाँध कर घर-घर उससे मान्य
 मगनाइ गया । मुज के दाहों में उसके इहीं अनुभवों की पीडा है ! दा-एक दाहे
 यानगी के लिए—

भाली तुम्हें कि न मुझ, कि हुआ न द्यारह पुन ।
 हिएन्द्र दारा दारियउ, निम मकहु तिम मुज ॥
 गय गय, रह गय, तुरय गय, पायककड़ानि भिञ्च ।
 सग्गडिय करि मतिण्ड महता रुदाइच्च ॥

ऐसे हा तिरर हुए मुक्तकों का कथा के महान सूत्र में विरोध अच्युत
 रहमान (१२वीं शताब्दी इत्या) ने सदृश रासक नामक मुदर गात-हार रचा है ।
 यह तान 'प्रक्रमों में विमाजित दा सी तेइस छंदों की छटा सा रचना है । प्रथम
 प्रक्रम में म गलाचरण, कवि का व्यक्तिगत परिचय, प्रथ-रचन' का उद्देश्य तथा
 जुद्ध आत्मनिवेदन है । इस तरह कवि ने आरंभ के तेइस छंदों में भूमिका बाँधन
 के बाद दूसरे प्रक्रम में मूल प्रथ आरंभ किया है । कथा-सूत्र इतना हा है कि
 विजयनगर की एक प्रायित-पतिका अपने प्रिय के वियाग में रोती हुई एक दिन
 राजमान से जात हुए एक घटाहा का देगता है श्रौर दौड़कर
 संदेश रासक उसे राकता है । पथिक का राककर वह पूछती है कि कहीं से
 आ रहे हा और कहीं जाआग ! पथिक यतलाता है कि मैं
 सामार स आ रहा हूँ श्रौर स्तम्भताप जा रहा हूँ । इसा मिलमिल में वह सामार नगर
 के पड़-पौदों श्रौर नागरिक जीवन का बखन करता है । स्तम्भताप का नाम
 सुनत ही नायिका माय णिहल हा उठता है श्रौर पथिक से निवेदन करता है कि
 अथ लोम के काग्य मरा प्रिय मुझे छोड़कर वहाँ चला गया है इसलिए कृपा करके
 उसके पास मरा संदेश लने जाआ । इस तरह वह धम धम कर धारे धारे अपनी

रह व्यथा कहती जाती है। पथिक बीच-बीच में जाने का जल्दी मचाता है, फिर नायिका के बदन पर रुक जाता है और कुछ बातें और सुन लेता है। अतः म ह पूछता है कि तुम्हारा पति किस श्रुत में तुमसे अलग हुआ ? यह प्रश्न नायिका 'मर्म' को छू लेता है उसे याद आता है कि वह ग्रीष्म श्रुत थी जब उसका प्रिय से छोटकर परदेश गया। तब से पूरे साल मर हो गया। यह सत्र स्मरण आते ही ह श्रमशः छुड़ा श्रुतुओं में अपनी दशा का वर्णन कर जाती है। काव्य का तीसरा क्रम इसी पदश्रुतु-वखन के लिए रचा गया प्रतीत होता है।

पथिक को सन्देश देकर नायिका ज्यों ही विद्या करती है कि दक्षिण दिशा उसका प्रिय आता हुआ दिखाई पड़ जाता है। ग्रथ का अतः करते हुए कवि हता है कि जिस प्रकार उसका काय अचानक सिद्ध हो गया, उसी प्रकार इस व्य को पढ़ने सुनने वालों का भी सिद्ध हो। जो अनादि और अनन्त है, उसकी य हो।

'सन्देश रासक' के कथा-सूत्र से स्पष्ट है कवि को कथा से कोई विशेष तलब नहीं है उसे सामोर नगर क जीवन, पङ्क-पौधों तथा पङ्कश्रुतु वर्णन के ाय मुख्यतः एक प्रोपित-पतिका नायिका की विरह वेदना का वर्णन करना है न सभी वर्णनों को एक सूत्र में बाँधने के लिए ही उसने पथिक की अवतारणा की अन्यथा समी छुद अपने आप में स्वतंत्र हैं और मुक्तक का सा रस उत्पन्न करते। कालिदास के 'मेषदूत' की भाँति सन्देश रासक भी विभिन्न मुक्तकों की एक णिमाला है।

'रासक' अथवा 'रास' नाम से लिखे हुए काव्य ग्रथ अपभ्रंश में तथा सके बाद पुरानी राजस्थानी और हिंदी में भी मिलते हैं लेकिन विषय को देखते 'सन्देश रास' उन सबसे भिन्न है। इससे मिलता-जुलता क्वल एक 'रास-काव्य' जस्थानी में है—'वीसल देय रास। अन्यथा अय रास-काव्य एक तरह से 'चरित-व्य' हैं जिनमें किसी राजा के युद्ध और विवाह की कहानी वर्णित दिखाई इती है।

अपभ्रंश में 'सन्देश रास' अपने ढग का अकेला काव्य मले हो, परंतु सक पाछे इस तरह क काव्यों की परंपरा का आभास मिलता है क्योंकि 'रास' व्य के जो लक्षण अपभ्रंश के आचार्यों ने दिये हैं, उनमें से एक लक्षण 'सन्देश रास' पर भी लागू होता है। 'स्यर्थ-मूच्छ्रुद' में 'रास' का लक्षण यतलात हुए कहा या है—

घत्ता-छद्मशुश्रूषादि पदद्विआदि सु-अण्यरूपदि ।

रासाबंधो कञ्चो जण मण अहिरामथो हाइ ॥^१

अथात् घत्ता, छद्मशुश्रूषा, पदद्विआ, तथा ऐसे हा अन्य सुन्दर छद्मों से युक्त रासा बंध काव्य जन-मन के लिए अभिराम होता है। इसके बाद ही २२ मात्रा वाले 'रासा' छंद का लक्षण दिया गया, जिससे अनुमान होता है कि इसे भा 'रासा बंध काव्य' का विशेष छंद माना गया है। यदि यह सच है तो 'सदेश रास' उस लक्षण पर गरा उतरता है क्योंकि इसमें निम्न छंद का सबसे अधिक प्रयोग किया गया है, वह रासक छंद है।

काव्य की दृष्टि से 'सदेश रास' का अभ्रश-साहित्य में विशेष स्थान है। इस विरह-काव्य का आरंभ हा बड़ आरूपक ढंग से होता है।

पथिक का देखकर विरहिणी जब उतावली से चली ता उसके कटिप्रदेश से रशनावलि छूट गया और किंकिणियाँ किय किय धनि करती हुई निरतर गयी। क्रिया तरह उहें समेट गाँठ बाँधकर वह बचारा आग बढ़ी ता उसकी मातियों का लड ही विस्वर गयी और उसे सँभालते-सँभालते नूपुरों से चरण उलक गये और वह गिर पड़ी। इसका बाद मो जब वह सभ्रम क साथ लगानी हुई उठी तो उसने देखा कि उसका स्वच्छ स्वेत आँचल हो खिसक गया है और कजुका मा मसक गया है। फिर मा अपने हाथों से किसी प्रकार स्नानों का ढरूकर वह बचारी पथिक क पास पहुँचा। निम्नलिखित छंद में इस उतावली का एक चित्र द्रष्टव्य है—

तं ज मेहल ठवइ गठि गिहुर मुहय

तुडिय ताव घूलावलि राबसर हारलय ।

सा तिवि किवि सबरिवि चइवि कि वे सचरिय

ऐवर चरण विलगिवि तह पहि पसुडिय ॥

करुणा उत्पन्न करने के लिए ही कवि ने विरहिणी का यह चित्र रखा है। इसका बाद विरहिणी जब सदेश-कथन का भूमिका देता है, उसमें नारा-हृदय की परवशता, आकुलता और विदग्धता एक साथ सुगठित हा उठा है—प्रिय क पास इससे बढ़कर लगने वाली बात और क्या कही जा सकता है कि—

गदवउ परिहइ कि न सइउ, पइ पारिस निलएण ।

जिदि अगिदि गू विलासिया, ते ददा विरहण ॥

हृदयारे जैसे पौध-सपन पति क रहत हुए भा में एसा परामय कैसे न सहुँ ! तिन अगो क साथ तुमन विलास किया है, आग बही अग निरह द्वारा जलाए जा

१ स्वयंभूषण ८१४६ (श्री भाषाणी द्वारा स रा० भूमिका पृ० ७७ पर उद्धृत)

हिंसा के विकास में अपभ्रंश का योग

! किंसा पुरुष के लिए उसके पौरुष का चुनौती देने से बढ़कर और क्या बात
कती है ! यदि सचमुच ही उसमें पौरुष है तो कम से कम अपने उस प्रतिद्वंद्वी
पराजित करने के लिए अवश्य उठ खड़ा होगा जो उसके द्वारा माने हुए अंगों
स्वयं अपना प्रिय बना रहा है !
सदेश कहते कहते विरहिणी इतना रोने लगती है कि पथिक से सहा नहीं
गता । यह देखकर वह कहता है कि हे देवि, किसी प्रकार अपने आसुओं का
को और जाते हुए पथिक का अमंगल मत करा । इस पर वह अत्यंत सरल तम
से कहती है—

‘मह न वतु विरहमि धूम लोयण सयणु ।’
अथात् मैं थोड़े ही रा रहा हूँ, यह तो विरहामि के धुए से आँनें सजल
हा आयी हैं ।
व्यथा हृदय में सरलता लाती है, ता उगकी टीस फमी कमी उतनी है ।
विदग्धता भी उत्पन्न करती है । प्रिय ने उसका सारा मुख छीन लिया, इस रात
को सागर और मदर के रूपक से विरहिणी इस प्रकार कहती है—
मह शिवं रयणनिदि, महिय गुरु मदरेण त शिन्च ।
उम्मूलिय असेस, मुहरयणं फडियं च वुइ पिमे ॥
अर्थात् हमारे रत्ननिधि हृदय का विरह-मदर ने मयकर तमाम मुख रत्नों
का निकाल लिया ।

शरत् ऋतु का वसन करत हुए नायिका कहता है कि क्या उस देश ;
ज्योत्स्ना का निमल चंद्र नहीं उगता ! क्या वहाँ अरविदों के वाच इस फल के
घनि नहीं करते ! क्या वहाँ फाँई ललित तम से प्राकृत काव्य नहीं पढ़ता ! क
वहाँ कोकिल पंचम स्वर में नहीं गाता ! क्या वहाँ सूर्यादय के कारण त्विले हुए
कुमुमों से वातावरण महक नहीं उठता ! हाता तो यह सब हागा लेकिन लगता है
कि प्रिय ही अरधिक है जा इस शरत् काल में मो घर का स्मरण नहीं करा ।
कि तदि देस एतु कुरइ उइ शिवि शिग्मल चदह
अह कलरउ न कुणति हंस पलसवि रविदह ।
अह पायउ एतु पदइ काइ मुललिय पुण राइण
अह पंचउ एतु कुणइ काइ कावालिय भाइण
महमहद अहव पन्चुति एतु, आसविउ एतु कुमुमभर ।
अह मुण्डिउ पदिय । अणुरिउ पिउ, सरइ समइ उन मरइ पर ॥
‘सदेश रासक’ का पढ़ते समय यह नहीं मालूम जाना है कि किसी अरिद्व
वृत्ति है इसका कारण यह है कि संदेश रासक में वरहृत और प्राकृत का पौ

अनेक रुद्रियों का सफलतः पूजक निवाह किया गया है। सामान्य क वरुण म फल
 पूल धाल वृद्धों का मूर्त्ति तथा पशुपति वान में कवि-समूहों और रुद्रियों का सत्यन
 पालन किया गया है। इसक अतिरिक्त कहा-कहीं कवि ने सस्कृत क प्रतिष्ठित व्युत्पत्तियों
 का अभ्रश में अनुवाद करके रच दिया है उन—

तस्या निरन्तर विवेकियान् मगन्द तय गृह हाग ।

हन्दि आवर-सरिया निरि-तन्-दुग्गाद अरिया ॥ (स० रा० ६)

'हनुमनाटक' (५।२५) क इस छन्द का अनुवाद है—

हारा नाराजित कपटे मया विश्लेषमग्था ।

हदानामन्तर जाना सरित्सागरभूषरा ॥

इन सबसे यहा प्रमाणित हाता है कि अदुल रहमान का सस्कृत, प्राकृत
 प्रौ० अभ्रश साहित्य का परपरा का बहुत अच्छा ज्ञान था और उन्होंने इस काय
 न अभ्रश अक्षरान् अनुमन का साग निचाइ रख देने का चपटा का। यह समझना
 भ्रान्ति है कि यह प्राग् अभ्रश में लिखा हुआ काय है। वस्तुतः इसका भाव और
 भाषा दोनों पर नागरता का छाप है। छन्द-निश्चिता और श्लकार-सजा दोनों हा
 दृष्टिगत स 'संशय रासक' छन्द पर परिभाषित रचना है।

अभ्रश साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग नाति मूर्त्ति अन्वोक्ति स्तुति
 प्रादि रग के काव्यों से बना हुआ है। हेमचन्द्राकरेण दयसेन (११वीं सता) का
 'सायधम्म दोहा, सोमप्रम (१०वां सदी इस्वी) रचित
 नीति मूर्त्ति कुमारपाल प्रतियोग्य श्रान्ति में अनेक मामिक मूर्त्तियाँ
 प्रयाक्ति प्रादि अनुभव पूज नाति क दाह तथा मकतपूज अन्वाक्तिया
 मिलता हैं। इनक अतिरिक्त अन्य ग्रंथों से भा मूर्त्तियों का
 चयन किया जा सकता है। 'हेम व्याकरण में भ्रमर, कुम्भर पनहा कहिरि फवल,
 महाद्रुम प्रादि को लेकर बड़ा हा हृदयहारा अन्वाक्तियाँ कहा गया है। जैसे 'धवल
 रत्न संस्था अन्वानि—

धवल विभूद सामिग्रहा, गहना भर किमवि ।

हृद कि न तुलउ दुःखिनिहि, मरुत्त दारिद्र करि ॥

उया तरह वहीं से यह मूर्त्ति उद्धृत का जा सकता है—

सरिहि न संहि न करवरोहि न वि उत्राण वराहि ।

देख खरव्या होनि वत् निवसनहि मुग्ररोहि ॥

यानि अभ्रश-साहित्य का अधिकांश छन्दोत्त काय है, फिर भा ग्राह
 करने से कुछ गद्य का भी रचनाएँ मिला है तथा अन्वय मिलता जा रहा है।

उद्योतन सूरि की कुचलयमाला कहा क अपभ्रंश गद्य की गद्य साहित्य चचा तो बहुत दिनों से हानी आ रही है श्री अग्रचन्द्र नाहटा न इधर परवर्ती अपभ्रंश साहित्य की कइ गद्य-रचनाए खान निकाली हैं। १४वीं शताब्दी ईस्वी की एक एही हा रचना 'पद्मवश्यक यालावबोध' के एक गद्य श का उद्धरण उन्होंने १९४६ ई० के 'यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी के जनल' म दिया था। इन लिखरे उद्धरणों से अपभ्रंश साहित्य म गद्य रचना के प्रयत्नों का प्रमाण मिलता है।

अपभ्रंश-साहित्य का ऐतिहासिक महत्व

स्वयम्भू (आठवीं शताब्दी ईस्वी) से लेकर १३५० (१५वीं शताब्दी ईस्वी) तक के इस अपभ्रंश साहित्य का खपूरा भारतीय साहित्य म बहुत उदा ऐतिहासिक महत्व है। यद्यपि जिस व्यापकता और विशालता क साथ इसका आरम्भ हुआ था यह अत तक न रही बल्कि परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य क विषय आर शैली म एक प्रकार की जड़ता दिखाई पड़ती है फिर भी समग्र रूप में यह साहित्य उस युग के जातीय नवोन्मेष का प्रतिनिधि होकर ऊपर उठा। अपभ्रंश की प्रत्यमता का ठीक ठीक अनुभव परवर्ती संस्कृत-साहित्य की होखानुग प्रवृत्तियों के परिपार्श्व म ही हो सकता है।

अपभ्रंश-कालीन संस्कृत-साहित्य उस नागर समाज की र्थी हुई विचार धारा का प्रतिबिम्बित करता है जा अपना ऐतिहासिक फाय समाप्त कर चुकन पर सामाजिक विकास में बाधक हो रहा था। इस जड़ता से त-कालीन संस्कृत साहित्य भी प्रस्त दिखाई पड़ता है। नया दर्शन नया काव्य सयन पुराने तथ्यों की पुनरावृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। मौलिक उद्भावना की अपेक्षा टीका और व्याख्याओं मे रस लिया जा रहा था। प्रमेय दूर या प्रमाण-वचा अधिक थी। दार्शनिक दुरुहता नय्य-न्याय के बाद थियादों में मुलर हा रही थी। समस्त चिंतन तक-जाल में उलझा था। संस्कृत-काव्य हृदय के सहज उच्छ्वास का झाड़कर पाहित्य प्रदर्शन तथा धमसाध्य आलंकारिक चेष्टाओं में लीन था। लक्षण प्रर्थों का बाहुल्य था। रस क मान शब्द शक्तियों से आक्रा त थे। प्रकृति चित्रण नाम-परिगणन और श्लेषविधान स बाधित था। मानव अनुभूतियों की अथभूमि सजुचित होकर भौतिक लालाओं से पकिल हा रही थी। राज दरबारों क उजड़ वैभन की बासी पुनरावृत्ति से वस्तु-व्यसन घूमिल हो रहा था। चरित-काव्यों म चरित्रों का व्यक्तित्व बंध-बंधाए टाड़ों क रूप में ही प्रकट हा रहा था। मुक्त काल्य कृत्रिम और अलङ्कृत क प्रबंध-काव्य आकार में विपुल हात रूप मा जीयन-हीन थ। गद्य बाह्य-चाल की भाषा से दूर हटकर समाजों का बीहड़ जंगल

हो गया था। स्वयं एक प्रकार की जड़ता और निष्पायता के दर्शन होते थे।

अपभ्रंश-साहित्य का उद्भव संस्कृत के इस परिपार्श्व में हुआ। नि सन्नेह उस पर भी संस्कृत-साहित्य की हासो-मुखी छाया कहीं-कहीं पड़ गयी अपभ्रंश के प्रबंध-काव्यों में संस्कृत की कथानक-रूढ़ियों, काव्य-रूढ़ियों तथा यस्तु-वर्णन सम्बंधा रूढ़ियों का पालन कहीं-कहीं अवश्य दिखाई पड़ता है फिर भी इन सब बातें अपभ्रंश के धार्मिक और ऐहिक काव्य में नये जीवन का उत्साह और आवेग, सरलता और सादगी, शक्ति और सौन्दर्य, जीवतता और प्रथमता का अनुभव होता है। उसमें लोककथाओं और लोक-गीतों का तानन्त स्पर्श मिलता है। इन सब विशेषताओं का यहाँ कारण है कि जैन विद्वानों और मुनियों बौद्धों सिद्धों और इतर मतानुयायी कवियों द्वारा लिखे जाने पर भी अपभ्रंश-साहित्य सामान्य लोक जीवन के गहरे संपर्क में था। यह जिन लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त कर रहा था, उन्हें बहुत दिनों के बाद अपनी देमा मापा में हृदय का बात कहने का अवसर मिला था। संस्कृत के माध्यम से उस समय उस लोक जीवन का अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। पृथ्वा पुत्रों का यह सारी भाव-सम्पदा साथ अपभ्रंश का हाँ पहला बार प्राप्त हुई। अपभ्रंश-साहित्य का शक्ति का महा रहस्य है। इसी लोक-तत्व के द्वारा अपभ्रंश साहित्य ने भारतीय साहित्य में अपना ऐतिहासिक कार्य संपन्न किया और इसी लोक-तत्व से उसमें युग युग तक मानव-हृदय को आनन्दित करने की शक्ति आयी।



अपभ्रंश और हिन्दी का साहित्यिक सम्बन्ध

अपभ्रंश से हिन्दी-साहित्य का क्या सम्बन्ध है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी इतिहासकारों ने आदि काल के अन्तर्गत अपभ्रंश-साहित्य को भी रखा है। आचार्य अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के इतिहासकार रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में 'हिन्दी साहित्य का विकास' (जनवरी १९२६ ई०) नाम से जो विस्तृत निबंध लिखा उसमें किसी कारण से अपभ्रंश साहित्य का समावेश नहीं हो सका था। लेकिन उसी साल उस भूमिका का स्वतंत्र पुस्तक का रूप देते समय शुक्ल जी को वह कमी महसूस हुई। इसलिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के आदिकाल में अपभ्रंश-साहित्य को स्थान देते हुए उन्होंने कहा कि "आदि काल के भीतर अपभ्रंश की रचनाएँ भी ले ली गई हैं क्योंकि वे सदा से 'भाषा काव्य' के अन्तर्गत ही मानी जाती रही हैं। कवि परंपरा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा-काव्यों का नाम गिनाती चली आयी है, जो अपभ्रंश में हैं जैसे, कुमारपाल चरित और शार्ङ्गधरचूत हम्मीर रासी।"^१

इस परिपाटी का पालन हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास में करते हुए डा. रामकुमार वर्मा ने भी कहा कि 'अधमागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की स्थापना लिये हुए हैं। इस प्रकार इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।"^२

इस काव्य का समर्थन करते हुए डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास' में कहते हैं कि "यदि हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी का ही मूलरूप समझा है तो ठीक ही क्रिया है।"

लेकिन हिन्दी-साहित्य के आदि काल में अपभ्रंश को स्थान देते हुए भी इन सभी इतिहासकारों के अपभ्रंश विषयक दृष्टिकोण में अन्तर है। शुक्ल जी ने

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रथम संस्करण का वक्तव्य

२ आलोचनात्मक इतिहास पृ० ६८ (द्वितीय संस्करण, १९४८ ई०)

जब अपभ्रंश की रचनाओं को 'भाषा-काव्य' समझ कर हिंदी-साहित्य में अपना लिया तो उस समय तक अपभ्रंश का विशाल साहित्य प्रकाश में नहीं आया था। स्वयम्भू, पुष्पदत्त, धनपाल, जोरहु, रामसिंह आदि की कृतियाँ श्रमा सामने आने की थीं। शुक्ल जी इन प्रथों को देखने का अवसर पाते तो शायद अपभ्रंश नाम से स्थात इन सभी रचनाओं को 'भाषा-काव्य' कहकर हिंदी में न समेट लेते। शुक्ल जी ने कुमारपाल चरित, हम्मीर रासो आदि प्रथों को भाषा की दृष्टि से ही हिंदी साहित्य में स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त उन्हें अपभ्रंश और हिंदी में और कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता था।

डा० वर्मा ने अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' में जिस अपभ्रंश-साहित्य का स्थान दिया है वह अब तक का लगभग संपूर्ण विशिष्ट साहित्य है। उसमें स्वयम्भू, पुष्पदत्त, धनपाल, जोरहु आदि नैन तथा सरह पा, काण्ह पा आदि सिद्ध और अद्दुल रहमान जैसे हतर मतवाले सभी अपभ्रंश कवियों का समावेश किया गया है। डा० वर्मा ने भी भाषा की दृष्टि से ही इस अपभ्रंश-साहित्य को हिंदी के अन्तर्गत लिया है। उनका अनुसार इन रचनाओं का भाषा 'हिंदी का प्रारम्भिक रूप को छाप लिये हुए है' इसीलिए वह हिंदी साहित्य में लिए जाने की अधिकारा है। एकदम हिंदी न होने के कारण ही उन्होंने इन रचनाओं का 'सधिकाल' के अन्तर्गत रखा है।

लेकिन डा० द्विवेदा ने अपभ्रंश-साहित्य को हिंदी-साहित्य का अंग नहीं माना है उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य का हिंदी-साहित्य का मूल रूप समझा है। अपभ्रंश और हिंदी का सम्बन्ध उनकी दृष्टि में केवल भाषा का ही नहीं है बल्कि 'साहित्यिक परंपरा' का है। 'हिंदी साहित्य में (अपभ्रंश का) प्रायः पूरा परंपराएँ दोनों की त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसा प्रान्ताय साहित्य में ये सांग न सांग विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिंदी को अपभ्रंश-साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इस बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन ऊपर साहित्य-रूपों को छोड़ भी दिया जाय तो इस साहित्य का प्राण धारा निरवच्छिन्न रूप में परवर्ती हिंदी साहित्य में प्रवाहित होता रहा है।'^१

अपभ्रंश को हिंदी-साहित्य का अंग मानना एक बात है और मूल रूप मानना बिल्कुल दूसरा बात। अपभ्रंश का हिंदी-साहित्य का मूल रूप या मूल

१ हिंदी साहित्य पृ० १७ (१९५२ ई०)

२ हिंदी साहित्य पृ० १५

अपभ्रंश और
हिंदी का
ऐतिहासिक सम्बन्ध

सात मानने का अर्थ यह है कि अपभ्रंश और हिंदी का संबंध ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक सम्बन्ध का याग और समझने की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों ने हिंदी-साहित्य पर अपभ्रंश का 'प्रभाव' दिखलाया है। लेकिन 'प्रभाव' और ऐतिहासिक 'सम्बन्ध एक ही चीज नहीं है। हिंदी-साहित्य पर संस्कृत के प्रभाव की बात तो समझ में आती है लेकिन जिस साहित्य का अपभ्रंश के गर्भ से ही प्रमथ उद्भव और विकास हुआ है, उस अपभ्रंश से 'प्रभावित' मात्र कहना अशुभ है। इसलिये अपभ्रंश और हिंदी के संबंध की मौलिक समस्या यह नहीं है कि हिंदी के कुछ कान्य-रूपों, काव्य रूढ़ियों, उपमाओं और छंदों पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखा दिया जाय। यह सब तो ऊपरी बातें हैं। अपभ्रंश से हिंदी का सम्बन्ध इससे कहीं अधिक आन्तरिक और गहरा है। समझ है कि विश्लेषण करने पर इस तरह फिर ऊपरी समानताएँ इन दोनों साहित्यों के बीच उतनी न मिलें लेकिन इसी से दोनों के सम्बन्धों का निश्चय नहीं हो जाता। मुख्य बात है साहित्यिक चेतना का तारतम्य और भाषाधारा का निरन्तर जिसे डा० द्विवेदी ने 'प्राणधारा' कहा है। यदि इन दोनों साहित्यिक अवस्थाओं के बीच मौलिक प्राण धारा के पौवापय का कुछ भी निश्चय हो जाता है तो ऐतिहासिक सम्बन्ध की पुष्टि होती है। इसलिये अपभ्रंश और हिंदी-साहित्य के सम्बन्ध की मौलिक समस्या यह है कि अपभ्रंश के गर्भ से हिंदी-साहित्य का उद्भव किस प्रकार हुआ और अपभ्रंश से उत्पन्न होने के बाद विकास क्रम में हिंदी-साहित्य किस हद तक अपभ्रंश से अभिन्न तथा किस हद तक उससे भिन्न तथा स्वतंत्र हो गया ?

अपभ्रंश की वह कौन सी प्राण धारा थी जिसका विकास हिंदी में हुआ, इसका निश्चय इस बात पर निर्भर है कि हिंदी के आदि काल की मुख्य प्रवृत्ति क्या है ? इस विषय में आमतौर से लोगों में यह धारणा हिंदी-साहित्य का प्रचलित है कि हिंदी का आरम्भ यौगवाद्याओं से हुआ है। प्रादिकाल और इस धारणा के सुप्रपात का भेष मुख्यतः आचार्य शुक्र के अपभ्रंश 'इतिहास' का है। शुक्र जी ने हिंदी-साहित्य के प्रादिकाल का सामान्य परिचय देते हुये लिखा है कि "प्रादिकाल की इस शीघ्र परम्परा के बीच प्रथम हेतु दो सौ वर्ष के भातर ता रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, गृह्य, वीर तथा प्रकार की रचनाएँ दाहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लाक-प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाई का आरम्भ होता है तब से हम हिंदी-साहित्य का प्रवृत्ति

एक विरोध रूप में बँधती हुई पाते हैं। राधाभित कवि और चारण जिस प्रकार गति शृंगार, आदि क पुटकल आदि रासमात्रों में नुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता रासाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का बखान भी किया करते थे। यह प्रबन्ध-परम्परा रासो नाम से पाई जाता है जिसे लक्ष्य करके इस काल का हमने 'वीरगाथा-काल' कहा है।^१ आगे इस कथन का पुष्टि ऐतिहासिक गतिस्थितियों के द्वारा करते हुये गुञ्ज ने कहा कि "जिस समय से हमारे हिंदी साहित्य का अस्त्युदय होता है वह लड़ाई-भिडाई का समय या वारता क गौरव का समय था। और याने पीछे पढ़ गए थीं।"^२ यदि साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से इस कथन की पुष्टि करना चाहे तो यह कह सकते हैं कि चारण कवियों का चार गाथाएँ परवर्ती अपभ्रंश का परम्परा के अनुसार ही थीं। इस तरह आठाना से यह कहा जा सकता है कि वारगाथा ही यह प्राणधारा है जिसका विकास अपभ्रंश में हिन्दी में हुआ।

ऊपर ऊपर से देखने पर इस कथन में सन्देह की गुञ्जादृश्य नहीं होनी चाहिए। लेकिन प्राण धारा का प्रश्न आदिकाल तक ही नहीं समाप्त हो जाता है। यदि वारगाथा हा अपभ्रंश और हिन्दी क आदिकाल की प्राणधारा था तो आगे उसका विकास भी होना चाहिये। लेकिन इतिहास से उस प्राण धारा के विकास का समर्थन नहीं होता। तथा-कथित वार-गाथाओं के बाद हिन्दी में नुरत मन और भक्ति काव्य का अस्त्युदय हो जाता है और विकास की इन दोनों भाव धाराओं में इतना अधिक अन्तर है कि विकास का कोई एकसूत्रता सूद निकालना कठिन है। फिर भा जब बुद्धि है तो सगति भा वैताना हा है। पलत गुञ्ज ने ने युक्ति दा कि "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता क हृदय में गौरव गय और उत्साह क लिय यह अकाश न रह गया। ऐसी दशा में अपना वारता क गीत न तो थे गा हा सकते थे और न बिना लजित हुय मुन ही मरुत थे। अपने पौष्य से इताश जाति के लिय भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा भाग ही क्या था।"^३

इससे यह निष्पन्न निकलता है कि हिन्दी साहित्य की आदिकालीन वाग्वा की भावना वाली प्राणधारा प्रविचल परिन्धितियों के कारण ममान हा गद और उद्यक दान हिन्दी साहित्य में उदासी छा गई। मतलब यह कि मत

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ३४ (पाँचवाँ संस्करण १९४८ ई०)

२ वही पृ० ३०

३ वही पृ० ६०

अपभ्रंश और
हिंदी का
ऐतिहासिक संबंध

सात मानने का अर्थ यह है कि अपभ्रंश और हिंदी का संबंध ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक सम्बंध को भाषा और समझ की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों ने हिंदी-साहित्य में अपभ्रंश का 'प्रभाव' दिखलाया है। लेकिन 'प्रभाव' और ऐतिहासिक 'संबंध' एक ही चीज नहीं है। हिंदी-साहित्य में संस्कृत के प्रभाव की बात तो समझ में आती है लेकिन जिस साहित्य का अपभ्रंश के गम से ही प्रथम उद्भव और विकास हुआ है, उसे अपभ्रंश से 'प्रभावित' मानना कहना श्रवणानुभव है। इसलिये अपभ्रंश और हिंदी के संबंध की मौलिक समस्या यह नहीं है कि हिंदी में कुछ काव्य-रूपों, काव्य-रुद्धियों, उपमाओं और छंदों पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखा दिया जाय। यह सब तो ऊपरी बातें हैं अपभ्रंश से हिंदी का सम्बंध इससे कहीं अधिक आन्तरिक और गहरा है। संभव है कि विश्लेषण करने पर इस तरह फिर ऊपरी समानताएँ इन दोनों साहित्यों के बीच उतनी न मिलें लेकिन इसी से दोनों के सम्बंधों का निर्णय नहीं हो जाता। मुख्य बात है साहित्यिक चेतना का तारतम्य और भाषाधारा का नैरन्तर्य जिसे डा. द्विवेदी ने 'भाषाधारा' कहा है। यदि इन दोनों साहित्यिक अवस्थाओं के बीच मौलिक प्राण धारा के पोषण का कुछ भी निर्णय हो जाता है तो ऐतिहासिक सम्बंध का पुष्टि होती है। इसलिये अपभ्रंश और हिंदी-साहित्य के संबंध की मौलिक समस्या यह है कि अपभ्रंश के गम से हिंदी-साहित्य का उद्भव किस प्रकार हुआ और अपभ्रंश से उत्पन्न होने के बाद विकास क्रम में हिंदी-साहित्य किस हद तक अपभ्रंश से अभिन्न तथा किस हद तक उससे भिन्न तथा स्वतंत्र हो गया ?

अपभ्रंश की यह कौन सा प्राण धारा थी जिसका विकास हिंदी में हुआ। इसका निष्पत्ति इस बात पर निर्भर है कि हिंदी के आदि काल की मुख्य प्रवृत्ति क्या है ? इस निष्पत्ति में आमतौर से लोगों में यह धारणा हिंदी-साहित्य का प्रचलित है कि हिंदी का आरम्भ वीरगाथाओं से हुआ है। प्रादिकाल और इस धारणा के सुश्रवण का श्रेय मुख्यतः आचार्य शुक्ल के अपभ्रंश 'इतिहास' का है। शुक्ल जी ने हिंदी-साहित्य के प्रादिकाल की सामान्य परिचय देते हुये लिखा है कि "प्रादिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम देढ़ दश सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट स्तर-प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाईयों का आरम्भ होता है तब से हम हिंदी-साहित्य की प्रवृत्ति

मक्ति साहित्य आरम्भिक वीरगाथाओं की अपेक्षा कम प्राणधान है। यह सही कि अपनी युक्तियों से शुक्ल जा ने एकदम यही निष्कर्ष नहीं निकाला है लेकिन उनकी युक्ति का तकसगत परिणति यही हो सकती है। लेकिन शुक्ल जा ने मक्ति काय का मूल्यांकन किया है, उससे स्पष्ट है कि वे मक्तिकाव्य का वीरगाथा से कहीं अधिक श्रेष्ठ मानते थे यही नहीं, मक्ति काय का उन्होंने हिंदी के स्वर्ण-युग कहा है। वीर-गाथाओं के मूल्यांकन के विषय में मतभेद हो सकता है, लेकिन मक्ति काय को एक स्वर से साधारण जन और विद्वान समझे मानते हैं—उसे भारतीय समाज की आत्मा, शक्ति, प्राणधारा आदि सब कुछ अनुभव करते हैं।

ऐसी दशा में इस विषय में फिर से विचार करने की आवश्यकता है कि हिंदी के मक्तिकाव्य की मूल चेतना का स्वरूप 'आदिकाल' में क्या था और उससे भी पहले अपभ्रंश में उसके बीज किस दशा में मिलते हैं।

अब प्रायः सभी लोग यह मानने लग गए हैं कि मक्ति काय वीर-गाथाओं की हताश प्रतिक्रिया नहीं है। शुक्ल जा की वह युक्ति बहुत पहले ही इतिहासकारों को खटक गई थी। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी पहले आदिकालीन हिंदी आदमी हैं जिन्होंने शुक्ल जा का उस स्थापना का प्रतिपादन साहित्य के अन्तर्गत किया।^१ यदि मक्ति काय वीरगाथाओं की हताश प्रतिक्रिया न थी, तो उससे बीज 'आदिकाल' में अवश्य मिलने चाहिए। जा विद्वान हर चीज को बाहरी प्रभाव के रूप में दंगन के अन्वयित होते हैं वे तो 'मक्ति द्राविड़ ऊपजा' जैसी पंक्तियों के सहारे मक्तिकाव्य का सहसा बाहर से आई हुई बीज कहकर निश्चिन्त हो सकते हैं। लेकिन जिनके मन में किसी जातीय चेतना का सम्बन्ध का धक्का ना भा शक्ति है वे उस प्रमाण का ग्रहण करने मात्र परिस्थितियों का न्याय हिंदी जाति के जीवन में हा करते हैं ऐसी स्थिति में इस बात का पूरा सम्भावना है कि हिंदी साहित्य के 'आदिकाल' में वीर गाथाओं के साथ-साथ मक्ति के भा मूल रहे होंगे। लेकिन यह सम्भावना केवल अनुमान नहीं है। वीर गाथाओं का प्रमाणिकता के विषय में तो सदेह भी किया जाता है लेकिन आदिकाल में जा सिद्धों और नायों का काव्य मिलता है उनकी प्रामाणिकता के विषय में प्रायः सभी विद्वान काफ़ी सतुष्ट हैं।

इस विषय में स्वयं शुक्ल जा की भी यही राय थी कि अर्चदिव्य सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृतभाषा (प्राकृत रुदियों में बहुत कुछ बद्ध) हिंदी है।^२ और "प्राकृत का रुदियों से बहुत कुछ कुछ भाषा के जा

१ देखिये हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० २

पुराने काल के धर्म-शास्त्रों में रामा, प्रवृत्त रामा—आनन्द मिलते हैं वे सदिग्ध हैं।^१ फिर भी आश्चर्य है कि वे उसी सदिग्ध साम्राज्य का लेकर विचार करते हैं, उसी साम्राज्य पर आदिकाल का मुख्य प्रवृत्ति का निखार करते हैं और इस तरह बताते हैं।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। कारण स्पष्ट है। शुक्ल जी को सिद्धों और नायों के काल का साहित्यिकता पर धार आगति थी। अपनी यह आगति उन्होंने बार-बार प्रकट की। प्रथम संस्करण के वक्तव्य में उन्होंने कहा कि अभ्रश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म-तत्त्व-निरूपण सम्बंधी हैं जो साहित्य-काटि में नहीं आती।^१ और स्याधित तथा प्रवृद्धित संस्करण के समय में दो बातें कहते हुए उन्होंने फिर आर दिया कि 'सिद्धों और यागियों का रचनाएँ साहित्य-काटि में नहीं आती। अभ्रश के जैन कार्यों के विषय में शुक्ल जी ने आ साहित्यिकता का बात कहा है, वह तो सम्भवतः इसलिए कि उन्हें स्वयम्, पुण्यदत्त, धननाथ आदि के काव्य-दान का मिलना नहीं। लेकिन सिद्धों और यागियों का रचनाओं के काल पर उन्होंने आ आगति ठठाइ उसे उनके काव्य-समस्या विशेष दृष्टिकोण का परिणाम समझना चाहिए। विचित्र स्थिति है। आ रचनाएँ साहित्यिक हैं, वे सदिग्ध हैं और आ असदिग्ध हैं वे असहितिक हैं। साहित्यिकता और असदिग्धता के इस विरोध में इतिहासकार का असदिग्धता का हा पक्ष लेना पड़ेगा क्योंकि निवार से तथ्य प्रकट होता है। किन्तु रचना की साहित्यिकता एक दृष्टिकोण है और इस पर मनोपदेश हो सकता है, लेकिन किसी रचना का असदिग्धता एक स्थानित तथ्य है और उसमें मारकर स्वीकार करना पड़ेगा। सम्भवतः इस बात का ध्यान में रखकर डा० द्विवेदी ने उदारता पूर्वक आग्रह किया है कि इस प्रकार युग का प्रकाशित करने का आ भा मिल पाय उसे सावधानी से निसा रखना अवश्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलाप का सम्भावना लेकर आइ जाता है, उसके पट में केवल उस युग के समस्त हृदय का धड़कन का ही नहीं, केवल मुगल-चित्त के सद्य और मुचिन्तित वाक्-पाठक का हा नहीं, बल्कि उस युग के संपूर्ण मनुष्य का उद्भासित करने की क्षमता होती है। इस काल की कोई आ रचना अथवा और उपज्ञा का पात्र नहीं हो सकता। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से, या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किन्तु न किसी महत्वपूर्ण तथ्य के अन्तर्गत आने की सम्भावना होता है।'^२

मन्त्र यह है कि हिंदी साहित्य के आदिकाल में धीरगाथाओं के साथ धार्मिक

१ हिंसा इतिहास पृ० ४ २६

२ हिंदी साहित्य का आगि कास पृ० २५ (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद

रचनाएँ मी हो रही थीं। दूसरे शब्दों में यह युग अन्तर्विरोधों का था। इसी को डा० द्विवेदी ने 'स्वतो-व्याघातों' का युग कहा है और शुक्ल जी ने 'अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति' का युग कहा है। लेकिन अन्तर्विरोध अथवा स्वतोव्याघात एक चीज है और उस लोक प्रवृत्ति को अनिर्दिष्ट करना त्रिकुल दूमरी चीज। हिंदी साहित्य के आदिकाल में प्रवृत्ति की अराजकता नहीं थी, उसमें बेतरतीब उगी हुई प्रवृत्तियों का जगल नहीं था। उस विविधता में भी व्यवस्था थी और वह व्यवस्था यह थी कि दो स्पष्ट विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। एक प्रवृत्ति वह थी जो क्रमशः क्षीयमाण थी दूसरी वह थी जो क्रमशः वधमान थी। पहला का सम्बन्ध राजस्युति, सामंतों के चरितचरण, युद्धवर्णन, केलि विलास, बहुविवाह के लिए विजया-माह आदि स था और दूसरी का सम्बन्ध नीची समझी जाने वाली जातियों के धार्मिक अस्तोप, रुद्धि विरोध, यादार्थ्य खड्गन, जाति भेद की आलाचना, उच्चतर आचार, व्यापक भगवत्प्रेम, मानवीय आत्म गौरव आदि स था। एक का नाम तथाकथित वीरगाथा काय है और दूसरी का तथाकथित यागधारा।

वीर गाथाओं को क्षीयमाण मनोवृत्ति का प्रतिनिधि कहने से, संभव है, इनके प्रति ध्वंसायुक्तियों का किंचित् ठेम पहुँचे और पूर्व-स्थापित धारणाओं का धक्का लगे लेकिन इतिहास विधाता का निराय निमम हुआ करता है। आचार्य शुक्ल जैसे रस सिद्ध सहृदय समीक्षक ने जय 'रसो' ग्रंथों को सच्ची वीर गाथा के रूप में निरूपित किया तो इस आचार्य की सहृदयता का अतिरिक्त आरोपण ही समझना चाहिए। उन्हें यदि इन काव्यों में मध्ययुगीन यूरोप के बैलेड काव्य की झलक दिखाई पड़ी तो इसे उनके अतीत प्रेम का प्रमाण-पत्र मानना चाहिए। इसमें कोई शक नहीं कि 'रसो' काव्यों में कहीं कहीं सामन्तों के शौर्य का सुन्दर प्रदर्शन है और उनकी रसिकता का भा माभिक चित्रण हुआ है, परन्तु इन सभी घणनों में पुरानी रुद्धियों और परिपाटियों का इतना संभार है कि उनमें नवाभंग्य क्रम, प्राचीन निपुणता का सन्ध अधिक दिखाई पड़ता है। ऐसी वीर गाथाओं को उत्कालीन जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिफलन कैसे स्थाकार किया जाय जब कि अतिपार खिलजा न केवल दा सौ पाइों से समूचे अराज्य के राजाओं का एक लपेट में सर कर लिया और जनता के कानों पर जूँ नहीं रेंगी। जाहिर है कि सामान्य जनता की भावना का उन सामन्ती वीर गाथाओं से काइ मतलब नहीं था।

जनता की आशाएँ आकांक्षाएँ अपने ढंग से व्यक्त हो रही थीं। जिस समाज में दुःख दह, अत्याचार का स्वल्प पात-पाँत जैसी धार्मिक और नैतिक मान्यताओं के माध्यम से प्रकट होता है, उस समाज में सामान्य जनता का अस्तोप स्वभायत धार्मिक-नैतिक रूप में ही व्यक्त हो सकता है। इसलिए उत्कालीन हिंदी जनता की

भावनाओं का धार्मिक प्रतीकों में व्यक्त होना स्वामाबिक है। उन भावनाओं पर साक जावन के अध-निर्वाहों, टाना-टाटका आदि प्रथाओं तथा निम्नस्तर का अन्व अर्थसूत्र और प्राम्य चानों की ध्यान हो सकता है, फिर मा उन सबक बाच से उनके दु न दद अन्तार तथा कमा-कमा कलना-लीक में आन व प्राप्त करने का आकादा प्रकट हाता है।

दरवारों में रचे गय परिमावित और अलकृत काव्यों की तुलना में ये प्रामाण्य काव्य अन्गद, कच्चे और सधसादे लग सकते हैं लेकिन इनमें शक्ति की समावनाएँ अधिक हैं। यदि बचिर प्राचान का अन्ना सौंदर्य है ता सुराट नवान का मा अन्ना आकण्य है। एसा अन्वविराषो प्रसूतियों में इतिहासकार साहित्य का प्राणधारा गमित प्राण किन्तु सुन्दर प्राचीन में नहीं बल्कि विकासान्मुव किन्तु अन्-द नवान में देवता है। इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य व आदिकाल की बार गाथाएँ रचना-काल और आकार-प्रकार का दृष्टि से सदिग्ध हाने के साथ ही निष्प्राण्य भा हैं। अब दस्तना यह है कि आदि कालान हिंदा-साहित्य का इन दोनों धाराओं व गद अरभ्रंश में किस रूप में मिलत हैं।

शिष्ट और प्राम्य, रूढ़ और नवान का न का दा विराषा प्रवृत्तियों अरभ्रंश साहित्य में मा मिलता है। लेकिन विद्वानों ने इस भेद को अरने-अन टग स

समझा है। प हजार प्रसाद दिवदा न इस लक्षित करते हुए अरभ्रंश साहित्य के अन्गन कहा है कि "हिंदा में दा प्रकार का भिन्न जातियों का दा चाने अरभ्रंश स विकसित हुइ हैं। (१) पश्चिमा अरभ्रंश स रात्रनुवि पहिकवा-मूलक गृगारा काव्य, नावि विषयक पुटकल रचनाएँ और साक प्रचलित फयानक और (२)

पूर्व अरभ्रंश म निगुनिया सन्तों का शास्त्र निरपक्ष उप-विचार धारा, भाक-नटकार, अरभ्रंशना, सइज-ग्ल का सायना याग उद्धाने और भक्ति-मूलक रचनाएँ।" इनमें क उन्होंने पहला प्रवृत्ति का रुढ़िवादा तथा दूसरा का रुढ़ि-विराषा कहा है। परन्तु तप इस स्थानना क विरासत चाने हैं। रुढ़ियों का विराष करने में पश्चिमा प्रदेशों व अरभ्रंश कवि योशन्दु और रामशिंह उतन हा तरार हैं तिवन पूर्वी प्रदेशों व सरहना और -ए पा। इसक अतिरिक्त पश्चिमा अरभ्रंश में रचना करने वाल मनगड व स्वामी और पुषरद्वैत प्रवच कवियों का रुढ़ियों का पारक किमा मा माम्य में नहीं माना जा सकता। उन दानों महाकवियों का रचनाएँ धम विरास क विचारों से प्रभावित अरभ्रंश हैं किन्तु उनक चरित कारों में अनेक प्रकार का धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक रुढ़ियों का विराष किमा गया। राम-कथा सबका बालय धन द्वारा

प्रवर्तित रूढ़ियों का साहस पूर्वक खण्डन स्वयम्भू और पुण्यदन्त ने ही किया। राजदरबारों के अशुभ प्रभाव का उल्लेख भी उन्होंने ही किया। भौतिक सुख विलास के आसक्तिपूर्ण जावन की असारता बतलाकर एक उच्चतर आध्यात्मिक आचरण की प्रेरणा देने में उनके काय अग्रणी रहे हैं। पुरुष के अत्याचारों के विरुद्ध नारी व आत्मगौरव को उस युग में स्वयम्भू ने जितने साहस व साय प्रतिष्ठित किया, उतना साहस और किसी ने नहीं दिखाया। इस हद तक रूढ़ियों का विरोध पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही अपभ्रंश के कवियों ने किया। इसक अतिगिञ्ज जहाँ तक उस युग द्वारा निमित्त आदर्शों और मयादाओं के पालन का प्रश्न है, उसमें मार्जन और सिद्ध दोनों कवि एक से दिखाई पड़ते हैं। कम-फल का बचन तोड़ने में इनमें से कोई सफल न हो सका था। यह अवश्य है कि जैन मत में कर्मों का बचन अत्यन्त उग्र माना जाता था। पूव जन्म के कर्मों के कारण नाना जन्म जन्मान्तरों में भटकने की कथाएँ किसी न किसी रूप में स्वयम्भू, पुण्यदत्त, धनपाल, कनकामर आदि सभी जैन कवियों के चरित काव्यों में मिलती हैं। जोहूँ और रामसिंह जैसे स्वतंत्र चैता जैन-मुनि भी कर्म सिद्धान्त से मुक्त नहीं हैं। उधर सरहपा और काणहपा जैसे उग्र सिद्ध भी इस सस्कार से ऊपर उठने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार मूल चेतना की दृष्टि से पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश की रचनाओं में कोई आधारभूत अंतर नहीं दिखाई पड़ता।

पंडितों के मस्तिष्क में जो यह धारणा घर कर गई है, उसका आधार जातीय (रेशल) है। डा० द्विवेदी इस सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के बचन का दुहराते हुये कहते हैं कि "पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुये आर्य, पूर्वी प्रदेशों में बसे हुये आर्यों से भिन्न प्रकृति के हैं। भाषाशास्त्रियों ने यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि ये द्वा भिन्न-भिन्न भेदी के लोग थे। यह भी ध्यान रखने की बात है कि पूर्वी प्रदेशों में भारतीय इतिहास क आदि काल [से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाला सत होते रहे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के मृदु विरोधा जनक और याशस्क तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावार आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुये थे।" १ भारतीय समाज और साहित्य के विषय में इस प्रकार की क्षेत्रीय और जातीय अरणा पैलाने का कार्य प्रायः याकोबी, स्नूमान, गार्बे, रीज डेविड्स, विक्टरमिस्त्र आदि योरोपीय पंडितों ने किया है। इस मोद को कमी पश्चिमा और पूर्वी क्षेत्रों में बाँटा गया है, कमी आर्य और आर्येतर जातियों में, कमी ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर वर्गों में और कमी एक ही जाति के भीतर दो प्रकृति वाले आर्यों व रूप में।

वहाँ तक क्षेत्रीय भेद का प्रश्न है, यह युक्ति समझ में नहीं आती कि रुढ़ियों एक प्रदेश में रहें और उनका विरोध दूसरे प्रदेश में पैदा हो। पश्चिमी भारत में रुढ़ियाँ जड़ जमाएँ और पूर्वी भारत के रहने वालों को उनसे असंतोष हो यह बहुत दूर का बात मालूम होती है। दरअसल, रुढ़ियों का विरोध यही होता है जहाँ रुढ़ियाँ मौजूद होती हैं। प्राचीन काल में ही काया और भ्रमण में यदि रुढ़ि विरोधा आचार्य और पंडित होते आएँ हैं, तो उनका साथ ही रुढ़ि-पीयक विद्वानों का मा गुट रहता प्रायः है।

और यदि आर्य और आर्येतर जैसे जातीय भेद के आधार पर इस साहित्यिक भेद का बड़ा किया जाता है तो पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही प्रदेशों में आर्येतर जातियों का मिश्रण का ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है। बाहर से आने वाला जातिवादी का सब पुरुष में ही जाकर नहीं बस गयीं पूर्वी भारत से कहीं अधिक जातिय मिश्रण पश्चिमी भारत में होता रहा है। शकों, हूणों का अतिरिक्त आमार, गुजर आदि पश्चिमी प्रदेशों में ही सबसे पहले आकर बसे। इसलिए पश्चिमी प्रदेशों का रहने वालों में प्राचीन संस्कारों का रुढ़ि-वद्ध होने की सम्भावना कम से कम होने चाहिए।

भारतीय समाज और साहित्य में आर्य आर्येतर जातियों के अनुसार दो विरोधा प्रवृत्तियों का स्वरूप का बात हो सकता है, लेकिन अग्रभ्रंश-साहित्य में यह भेद किम्वद तक मौजूद या यह बात अभी विचारणीय है। यह सही है कि समय समय पर बाहर से आने वाला जातियों के सामाजिक संस्कार के कारण भारतीय समाज में याज्ञा बहुत परिवर्तन होता रहा है। भारतीयों ने एक ओर उनका अपना सामाजिक व्यवस्था में समेटने का कोशिश का और दूसरी ओर उनका अनुसार अपने का याज्ञा का बदलकर संतुलन स्थापित करने का आरंभ माना दिया। सामाजिक संगठन में जातिय मिश्रण की इस प्रक्रिया का कारण साहित्यिक परंपरा में प्रायः साहित्यिकों का प्रवेश होता रहा है। इस तरह भारतीय साहित्य में समय समय पर नवजावन का लहरें आती रही हैं। भारतीय साहित्य का विषय में सामान्य रूप से यह बात लागू होता है परंतु अग्रभ्रंश-साहित्य का विषय में विशेष रूप से इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए कितने तथ्य मिलते हैं—यह आसानी से नहीं बताया जा सकता। जैन कवियों का रामकथा में जो ब्राह्मणेतर अंश मिलते हैं तथा पुराणों का चरित नायकों का जो विशिष्ट परंपरा दिखाई पड़ता है—संभव है, यह एम. ए. साहित्यिकों का उद्देश्य हो। इस तरह शंभार और शीघ्र का पुस्तकालय का भी एम. ए. साहित्यिकों का प्रवेश का परिणाम कहा जा सकता है। लेकिन यह सब कुछ अनुमान ही है। जब तक इसके लिए ठोस प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक

निष्क्रियतात्मक रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है।

फिर भी अपभ्रंश-साहित्य के भीतर रूढ़ि-पोषक और नवोन्मेषशालिनी दो प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अस्तित्व निःसंदिग्ध है। ये परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ दो विभिन्न प्रदेशों और भिन्न कवियों में नहीं बल्कि एक ही कवि की एक ही रचना के अतगत देखी जा सकती हैं। स्वयम्भू की रामायण में संस्कृत और प्राकृत की बहुत सी काव्य-रूढ़ियों का निर्वाह है, अलंकारों का संसार है, प्राचीन मान्यताओं का आग्रह है फिर भी उनकी मूल चेतना नवीन है। यही बात पुष्पदत्त के महापुराण के बारे में भी कही जा सकती है। महापुराण में ऊपर भरे परिपाटी विहित यशनों की भरमार है—विवाह-यजन में, जन्मास्तव में, राज-प्रासाद की शोभा में, उत्थानक्रीड़ा में, युद्ध में—सबसे प्राचीन कान्धों की सी एकरसता मिलेगी फिर भी उनके बीच काय-रत रहने वाले पुरुषों का चरित्र अपनता है और उनके निर्माण में कवि अपने नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा करना नहीं भूलता। लोक-काव्य के रूप में विख्यात 'संदेश रासक' जैसे काव्य के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उसमें सामोर का वगन करते समय जिन फल-पूतों की सूची दी गयी है और पद्म श्रुत यशान जिस ढंग से किया गया है, वह सब एक दम परिपाटीविहित है। फिर भी 'संदेश रासक' में विरहिणी के हृत्पत्र के जा उद्गार हैं उनकी माध-सपदा कवि की अपनी है—यह अपभ्रंश की नवीनता है।

धारे धारे अपभ्रंश-काव्य की यह नवचेतना भी रूढ़ि बनती गयी। पर्यती अपभ्रंश-काव्य की इतिवृत्तात्मकता और निष्प्रायता इस रूढ़ि का प्रमाण है। तीर्थंकर यही हैं, शलाका पुरुष यही हैं लेकिन उनके धारे में लिख हुए काव्य निर्जीव हैं। जैन धर्म के सिद्धान्त यही हैं, लेकिन पर्यती कवियों के कथन में यह सजीवता नहीं है कि उन सिद्धान्तों को जीवित चरित्रों में टाँस सकें। जिनदत्त सुरि, तिनप्रभ सुरि आदि के लिखे हुए पर्यती काव्यों में इस जड़ता का दर्शन किया जा सकता है। अपभ्रंश के इन परिपाटी विहित रूढ़ काव्यों का सिलसिला पन्द्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा अर्थात् उस समय तक भी इनकी रचना होती रही जब ब्रज, अवधी आदि लोक बालियों में नवीन साहित्यिक चेतना का अभ्युदय हुआ गया। रूढ़ियाँ तब तक समाप्त नहीं होतीं जब तक उनके पोषक तत्त्व समाप्त से लुप्त नहीं हो जाते।

अपभ्रंश के इन परंपरा-भुक्त काव्यों ने हिंदी के कुछ आरंभिक चरित कानों को भी प्रभावित किया। हिंदी के हम्मीर रासा, खुम्मान रासा, परमाल रासा, पृथ्वीराज रासा आदि जो विशेष प्रकार के रासा काव्य हैं उन्हें अपभ्रंश

परवर्ती प्रपन्न का रूप काव्य और हिंदी के चारण काव्यों में उमरा निर्याह क परवर्ती चरित काव्यों का बड़ा हुआ रूप समझना चाहिए । हिंसा क ये रासा ग्रंथ चाहे जब लिखे गये हों, इनमें चाहे जब जब तितने मा प्रज्ञान हुए हों परंतु उनमें निहित मूल प्रवृत्ति एक ही है । रासाओं के धन-धैर्य, पराक्रम और विवाह-वाहुल्य आदि का बड़ा बड़ा बखान एक स्वर से आर एक ढंग से उन सब में मिलेगा । यह अवश्य है

कि मिश्र भिन्न कवियों का शक्ति क अनुसार वह रुढ़ि निवाह मा उत्तम मध्यम हा गया है और उसी मात्रा में क रचनाएँ भी एक निश्चित सामा में उत्कृष्ट-निष्कृष्ट हैं । जैसे 'पृथ्वारान रासा' में परंपरा-पालन क वाक्पू अन्य रासा प्रबंधों का अपेक्षा काव्य-सौंदर्य कहीं अधिक है । 'पृथ्वारान रासा क शशिब्रता विवाह और रुनामिता-स्वयं-र वाल प्रकरण किता मा काव्य ग्रंथ क लिए गौरव क विषय हो सकन हैं । शशिब्रता का वय सधि का वगन बहुत कुछ परंपरा क अनुसार होते हुए मा चंद का रूप-वारस्ता दृष्टि का प्रमाण है ।

राका अरु सुखन निच, उर्य अस्त दुहुँ बेर ।

यर ससिबूत्ता सोमई, मना शृङ्गार मुमेर ॥

मुमेर पत क एक आर उगत हुए सू आर दूसरा आर छूते हुए शशि का देखकर निशाल गजराण क दोनों आर लटकते हुए स्वयं घटों की उपमा केकर ता माव 'घटा-भाव हा गय लेकिन चंद का इस प्रतिमा का क्या गौरव दिया जाय जिसन शशिब्रता क शरार का ही शृङ्गार का मुमेर बना दिया । इस शृङ्गार-मुमेर क एक आर युवावस्था का राका उदित हा रहा है और दूसरी आर किशागवस्था का सू अस्त हो रहा है । उगते हुए पूज चंद्र और छूते हुए मूर् को द्रामा से किस प्रकार मुमेर रंग उठाता है उसा प्रकार शृङ्गार-मूर्ति शशिब्रता भी उभरते हुए यौवन और दन्ते हुए केशव का द्रामा त पिल उठा है । क मधि में द्रामा का सौंदर्य ता बहुन से कनिया न देखा आर दिखाया है, लेकिन किता मुमेर का अग्र-दृष्टि का शृङ्गार क मुमेर का उदात्त उपमा पृथ्वारान रासा का चंद की अपना विगपना है ।

प्राचानता आर नवानता की यह द्रामा किस प्रकार पृथ्वारान रासा का नानिका शशिब्रता में दिखाई पकता है, उस प्रकार कविता में मा ।^१

सकन हिंसा साहित्य अपभ्रंश का रुढ़ि का रसक-भाव नहीं रहा आर न

१ विषय अध्ययन क लिए देखिए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और नाथवर सिंह द्वारा सम्पादित मरिष्ठ पद्मोराज रातो (१० १६८ १८)

काई भी विकासोन्मुख साहित्य ऐसा हा ही सकता है। हर्ष की बात है कि अपभ्रंश के रूढ़ साहित्य की उद्धरणी हिंदी में अधिक नहीं हुई। हिंदी में अपभ्रंश मुख्यतः अपभ्रंश की जीवन्त परम्परा को लेकर आगे बढ़ी। अपभ्रंश की यह जीवन्त परम्परा कुछ ता 'सदेश रासक' जैसे प्रेमसुग्ध लाक गीतों में 'यत्त' हुई थी, कुछ भविष्यत्त कहा, जसहर चरित, गायकुमार चरित, और फरकड चरित जैसे आख्यानक काव्यों में, कुछ जैन मुनिथों तथा बौद्ध सिद्धों के दाहों में और कुछ स्वयम् और पुण्यदत्त के पौराणिक काव्यों में। हिंदी में इस प्राण धारा का विकास कहीं प्रत्यक्ष रूप से हुआ और कहीं पराक्ष रूप से कहीं यह विकास अपभ्रंश से बहुत आगे हो गया और कहीं अपभ्रंश की सीमा से कुछ ही आगे बढ़ गया। इन सभी बातों पर सोदाहरण निचार करने के लिए इनमें से एक-एक को अलग अलग लेना ठीक होगा।

अपभ्रंश में लोक जीवन के स्वश तथा लाक तत्त्वों के प्रवेश से जिनकी रचनाएँ हुई उनमें 'सदेश रासक' महत्त्वपूर्ण है। अपभ्रंश का शों की तरह इसमें कितनी पुरुष का चरित नहीं गाया गया है, बल्कि यह अपभ्रंश लोक-गीत छोटा-सा प्रेम गीत है। इस तरह के 'रास काव्य हिंदी में भी और हिंदी के लिखे गये। बीसलदेव रास' (१४वीं शताब्दी ईस्वी) एसा भृगारी मुक्तक ही रास काव्य है जिसे 'पृथ्वीराज रास' आदि पुराने दग के चरित प्रधान रास काव्यों से भिन्न काटि में रचना चाहिए। लगभग सवा सौ छंदों के इस छंद से प्रेम-काव्य में बीसलदेव के परदेश जान और उसकी रानी राजमती के वियोग तथा सदेशा भजने और फिर बीसलदेव के वापस आने की बात ललित मुक्तकों में कही गयी है। यदि इस कहानी का हटा दिया जाय तो भी इस प्रेम काव्य के मुक्तकों की एकपत्रता में अंतर नहीं आ सकता क्योंकि सभी छंदों के बीच कथा की अपेक्षा भाव का रस है। 'सदेश रासक' की भाँति 'बीसल देव रास' भी मुख्यतः विरह काव्य है अंतर इतना ही है कि 'बीसल देव रास' का आरम्भ में विवाह के भी गीत हैं साथ ही बीसलदेव के परदेश जाने का प्रसंग भी वर्णित है। शय प्रसंग सामान्य रूप से लगभग एक सा है अंतर केवल व्योरे का है। जैसे 'सदेश रास' में जहाँ पृथ्वीराज-यण न है वहाँ 'बीसलदेव रास' में वारहमासा है। ऐसा मालूम होता है कि 'वारहमासा' की प्रवृत्ति परवर्ती काल में विकसित हुई। अपभ्रंश की जिस रचना में 'वारहमासा' मिलता है, यह विनयचन्द्र

१ का माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्मानित और हिन्दी परिषद विरबविद्यालय, प्रयाग द्वारा प्रकाशित १९५३ ई०

सृष्टि-कृत 'नमिनाथ चउरइ' तेरहवीं शताब्दी इस्वी से पहले का रचना नहीं है यदि हागा तो उसका वाक्य की हागा। इनके अतिरिक्त 'मधेश रास' का पद्य श्रुत कण न नहीं प्रथम श्रुत से गुण हाता है, वहाँ 'वासलदेव रास' का गारइ मास कर्तिक मास से आरम्भ हाता है। कारण १८ है। चौमासे में काइ प्रवास नहीं करता। प्रायः सात पावस के चार महान विताकर हा वही राहर निकलन है। वासलदेव न भा ऐसा हा किया। इसनिष् उमका राना राजमता का निरइ वेदना का क्वार क गार कर्तिक से शुभ हाता स्वामाविक है।

इसा तरह 'सदेश रास' में सदेश लेकर पथिक जसोश प्रथान करना है कि निरहिनी का प्रिय निगाइ पड जाता है और काय वही समान हा जाता है, जब कि 'वासलदेव रास' में पथिक सचनुच वासलदेव के पास पहुँच जाता है और राना की विद्या पाकर वह उहासा से अपना राजधाना अजमेर को प्रस्थान करता है लेकिन प्रस्थान करने से पहले राना के पास अपने आगमन का पूर्व सूचना भजता है। 'वासलदेव रास' का समाप्ति राजा और राना के आनन्दपूर्ण मिलन के सुखद वचन के बाद हाता है।

इसा तरह ध्यारे का आर भा कइ बातें हैं जिनमें वासलदेव रास 'मधेश रास' से भिन्न है। फिर भा दानो मूलतः निरइ काव्य हैं और दोनो का मुख्य भाव गारा एक है। इसका मतलब यह नहीं है कि 'वासलदेव रास' 'सदेश रास' से प्रसन्न प्रेरित और प्रभावित हुआ है। साहित्य में ऐसे प्रभाव और प्ररणाएँ पराच हुआ करता हैं। इनका मूल आधार तो साक जावन में ही हुआ करता है।

विवाहानव में वासलदेव और राजमता भावरें देत हैं। पहली मौर पर कंग के निना 'आलासर' और 'माल' नाम के दो गाँव दायज में देते हैं। दूसरा भावर पर कन्या की माता दामाद का न जान कितना द्रव्य और कंग गाँव देती है। तसरा मौर पर सारे रनिवास ने मिलकर कंग अच्छे घाडे और गेय लिये। इस तरह सातो भावरें पूरी का जाता हैं। सपूर्ण प्रसंग का पढ़त समय इस अवसर पर गाय जान वाले साक गातो का स्मरण हा आता है। 'वासलदेव रास' का छाड़कर निजा के और किसा काय में इस मार्मिक प्रसंग का आर ध्यान नहीं दिया गया है।

राना राजमता स्वभाव का दुख परा और जवान का जरा तज है। राजा कम्पनव ने एक दिन जंग अने राजकाय अभिमान की री में कहा कि मरे समान दूसरा मुराल नहीं है। अपना पति है ता क्या, राना से यह मिष्ठा अभिमान न रहा गया। उसने राजा का तुरंत टाका और कहा कि गव मत कर। उहासा के राजा तुमसे धना है। जिस तरह तुम्हारे रास में नमक निकलता है, उसा तरह उसके घर में हीरे का खानो से हारा निकलता है। तबाव सुनत हा राजा

रुठ गया और रानी के लिए अनुनय विनय पर भी उसने उझीसा जाने का संकल्प कर लिया। ऐसे समय रानी राजमता के कहे हुए ध्वजन बहुत ही मार्मिक हैं। रानी कहती है—

हेड़ाऊ का तुरिय जिउ

हाथ न फरइ सउ सउ बार ।

अर्थात् मैं हेड़ा (हार) के उस घाट का तरह उपक्षिता हूँ जिस पर हेड़ा वाला सौ-सौ दिनों तक हाथ नहीं परता।

जवान की तेज ता यह है हा राजा का भी कम चोट नहीं लगी है। यह कहता है “हे नारी कदवी रात मत कह। मैंने तुझ चित्त से विचार के छोड़ा है। जीम नई नहीं निकलता। दबाग का डाढ़ा पड़ ता फिर फापलें लेता मा है लेकिन जीम का जला फिर पल्लवित नहीं जाता।”

जीम नही नहु नीकलइ

दयका दाधा हा कूपल लइ

जीम का दाधा न पाल्हवइ ।

रानी फिर मा धपनी कैंचा से बाज़ नहीं आती। ‘अर्थ द्रव्य के लिए परदेस जाकर तुम कुल-कानि मिटा रहे हो। अर्थ द्रव्य ता भरती में गड़ा रह जाता है किंतु जा इसका सचय करता है, यह उसी का खाता है—

अरथ दरब गाड्या रहइ ।

जह नई सिरिजियउ तेहीज पाइ ।

सात सहलियाँ राजमती का समझता हूँ कि स्वामी का ‘पूल पगर जिउ गाहिजइ’ फिर भी यह जवाब देती है कि ताज़ा घाड़ा यदि उससे लता है तो दागा जाता है चरता हुआ मृग भी माहित किया जा सकता है किंतु हे सखी, अचल में नाथ का बाँधा कैसे जा सकता है!

चापीया तेजीय तउ रे उससइ

मृग र चरता माहिजइ

सग्या अचलि बांधियउ नाइ किउ जाइ ।

उसको नारसता पर भल्लाकर राजमता यहाँ तक कहता है।

राउ नही सपि भइस-याडार ।

मध्ययुग के समूच हिंदी साहित्य में जवान की इतनी तेज़ आर मन का इतनी स्वरी नायिका नहीं देखी। परंतु तेज़ है तो क्या हुआ! है तो आखिर नारी है। प्रिय के विछोह के बाद उसका रुदन हृदय निर्दाण कर देता है। उस अपने स्त्री भावन पर राना आता है। मदेश स वह उलाहना देता है कि स्त्री का जन्म

तुमने क्यों दिया ? देने के लिए तो तुम्हारे पास और भा बहुतराे तम थ । तुमने मुक्त जगल का जतु क्यों नहीं बनाया ? धीरा गात भा क्यों नहीं बनाया ? यदि वनखंड का काली कापल ही बनाया जाता तो ग्राम और चना का ढाल पर ना बैता, अंगूर और वाजारा के फल तो खाता !

अरनाथ तनम काद दाघउ मइस
अवर बनम थारइ घणुरे नरश
रानि न मिरनाथ रामडा
घणह न मिरनाथ घउलाय गाइ ।
धनरड काला कादली
इउ बइसता अवा नइ चना का टाल ।
मयता दाघ विचारडा ।

अगर वह फिर कहता है कि यदि तुमन मुक्त नारा हा बनाया तो राजा की रानी न बनाकर अजीना (जाटना) क्यों नहीं बनाया ? तब मैं अरन भरतार क साथ खेत कमाता, अख्छा लावडा (लामपटा) पहनता, तुग तुरग क समान अरना गात स्वामा क गात से मिजाता, स्वामा का समन से लता और इस-इस कर प्रिय का वात पूछता ।

अरनाथ काई न मिरभीय करतार
पेव कभावता स्पड भरनार
परिरण आछा लावडा
तुग तुराय तिम भाडता गात
साइय लेती सानुहा
हमि हमि बूमता प्रिय का वात ।

कितना यकी निवशता है ! कितना राजा का राना इना कितना रडा अमिशाथ है ! मुक्त जानन का कितना रडा लालसा गजमना क इत कथन में निहित है । मध्ययुग का कितना भा राना में एसा उन्मुक्त आकाना नहीं दिग्भाइ जाता ।

इस तरह विधुरते हुए भा थारह महाने बान जाते हैं तो राजमना एव पंडित का मुलाता ह और प्रिय क पास चिहा लकर जान का प्राथना करता है । महजिराँ हन करता है कि हे सखा तुमन भा लिखा है हमें भा मुना ।

राजमती एक-एक करक सारा बातें पढ़ मुनाती है । चिहा में लिखत लिखते जन में वह लिखता है कि ह राजा तुम शान की बातें जानन हा । तुम्हें ना यह मानूम हा है कि हमें दा काया और एक प्राग मिय हैं । उस दूसरा काया का तुम

दूर से क्यों छोड़ रहे हा ? मैं कुलीन बेटी हूँ और शील की जंजीर में बंधी हूँ ।
अपने जीवन को मैं चोर की तरह छिपा कर रख रही हूँ । इसका पाप पग-पग पर
मुझे लग रहा है ।

जाणियउ हो राजा थाकउ जाण
दुहुँ रे काया मिलउ एक पराण
सा कयउ दूर यी भेलिहयइ
कुल का रे बेटीय साल जजार
जीवन रापउ मइ चार जिउ
पगि-पगि ता नइ पहुँच रे पाप ।

और चिठी बाँच लाने के बाद पंडित से कुछ ज्ञानी कहने का भी
कहती है ।

एक सरा धरि आविज्यो
धारी गट बुझारु सिरह का कसि ।
जीवन मरि जल उलम्बउ
थाग न पाउ सुणहु नरेस ।

प्रिय की बात का अपने सिर के कशों से बुझारने में कितनी विह्वलता है और
साक-शातो में अपने पति को जो 'नन्द का भाई' कहकर पुकारने की प्रथा है, वह
भी राजमती के मुख से सुनिए ।

तू तठ उवइगउ रे आविज्या नखद का थीर ।

मदेश देने के साथ ही राजमती पंडित को यात्रा मरती बहुत सी हिदायतों
भी देती है । लेकिन पण्डित तो फिर पंडित ठहरे किया उन्होंने अपने मन ही का ।
राना की सारी सारी उहें भूल गयी । सलाह दी गयी थी बड़ डग जाने की और
चल पडित छाट डग । इस तरह वे सात महाने में उड़ाया पहुँचे । सात महीने में
ता क्या पहुँच होग, लेकिन ध्याकुल रानी के लेखे वह सात ही महीना था । लोक
कथाओं के मदेश थाइरु भा ऐमी ही देर कर जात हैं ।

खेर राजा का घर का मुख थाती है और वह भी घर पहुँचने से पहले पत्र
लेकर एक सिद्ध योगी का मेजता है क्योंकि इतना जल्दी उसके सिया और पहुँच
ही कौन सकता है । प्रिया और प्रिय के सदेश वाइको में कितना निराश है ! भावों
के प्रतीक हों तो ऐसे ।

सो वह यागिराज राजमती के हाथ में पत्र देते हैं और पत्र देखकर रानी
के हृदय से ये उद्गार निकलते हैं—

विणु विणु पडाय न जीमती
दिवइ तादि स्यै हुना चीरी विनहार ।

जिनके बिना घड़ी भर भी नहीं जा पाती था, अब उन्हीं से पत्र-व्यवहार की नीवत आ गयी।

अतः मैं चिट्ठी के बाद वह चिट्ठा लिखने वाला भा मिलता है। इस मिलन में नारी का आनन्दविरेक-अनित चंचलता, विह्वलता, हँसा ठिठाला धर्मरह देखन याम्य हैं—

मुलकह हसद, आनिगन देह,
पलिम न बरसद, अनद पान न लद
जमाय देह उलमटा—

“आगुली ताडदछद, मराटद छदवाह
नाह मरोसद काद करउ !

तद तउ बारह परिस क्रिउ मेल्हाय नाह !”

और इतना दुख फलन के बाद मा तान का वह कैचा न गयी और न हुई तनिक भी भायर। आखिर उसने फिर ताना मार हा दिया—

स्वामा घा विशिनियउ नइ तामियउ तेल !

इ स्वामा तुमने वाशिय ता घी का तलर किया किन्तु तैया तेल ही ! इतनी सुन्दर नारी से विवाह ता किया लेकिन उसका उपमाग करने का सौभाग्य तुम्हें न मिल सका। काइ घा जैसा चिकना ताम ही एसा काठ-सा-कठेडा बात कह सकती है ! अभिव्यक्ति का सादगा और माथों का तावता म 'वासलदेव रास' 'सदेशरास' स कहों अधिक लाक-जावन के रग में रगा हुआ है। इससे यहा प्रमाणित होता है कि हिंदा साहित्य के अभ्युदय-काल में अभ्रश युग का अपना लाक जावन में जागति अधिक आ गया था और उसक फलस्वरूप साहित्य में लाक तत्व का प्रवेश अधिक दूर तक हाने लगा था। 'वासलदेव रास' पर लाक-तत्व का प्रमाण इतना गहरा है कि इसका छद भी एकदम लाक-भातों का है, यों तो परिभ्रम करने से इसका सबध किसा-न-किसा पुराने छद स स्थापित किया हा जा सकता है, लेकिन प्राय इसका प्रयोग इससे पूर्ववर्ती किसी काव्य-ग्रंथ में नहीं मिलता।

इस तरह का एक और लोक-काव्य ढोला मारू-रा-दूहा (१५वां पना-११ ईम्बी) है जो 'सदेश रास' और 'वासलदेव रास' का तरह मूलत रिगद

गात ही है परतु समय-समय पर उसमें तव-वेच मरा हुइ

दोषा कपायों का चिपिया लगाकर उस मुक्क से शाख्यानक

काव्य बना देन के प्रयत्न हुए हैं। मुख्य काव्य इतना हा है

कि सयानी होने पर मारवणी अपने बचनन के पति ढोला

की चचा सुनती है और विरह में व्याकुल हो जाती है। वह अपने पति का पतलगाने के लिए कई सदेश-याहक भेजता है लेकिन कोई वापस लौटने नहीं पाता। सभी सदेशवाहकों का उसकी सौत मालवणी मरवा देती है और दोला के पास मारवणी का सदेश तक नहीं पहुँचने देती। अंत में मारवणी लोक-गात के गायक एक टाढ़ी का यह जिम्मवारी सौंपना है और टाढ़ी का इस उद्देश्य में सफलता मिलती है। टाढ़ी के प्रयत्न से ढाला और मारवणी दानों में पुनर्मिलन होता है। समग्र म सद्यहात अधिकांश गीतों की पुष्ठभूमि यही है। इसके बाद कुछ और रस पैदा करने के लिए मारवणी की मृत्यु करा दी गई है और उस किसी तरह जिला देने के बाद फिर ऊमर-सूमरा जैसे शत्रु का बाधा खड़ा की गयी है और अंत में उस बाधा को भी दूर करके ढाला का और उसकी दानों पत्नियों को एकठा मिला दिया गया है। इस तरह वतमान कथा प्रसंग में 'रुकावट दौड़' का सार स उत्पन्न करने की चेष्टा दिव्वाई पड़ती है जब कि मुख्य प्रसंग ढाला के प्रति मारवणी के विरह-नियेदन और सदेश-ग्रोपण तक ही सीमित है। 'ढाला' काव्य का यह मुख्य अंश वस्तुतः गीतात्मक ही है इतने कथा प्रसंग का अग्रवाहक तो कितने मुक्त सवयों और घनाक्षरियों में रहा करता है।

— ढाला के काव्य गठन में 'सदेश रास और 'धीसलदेव रास से यह नधानता है कि इसमें पद्म-मृतु वणन या 'वारहमासा' जैसे कोई चीज नहीं है श्रुत्या में वजल वासक का वणन है और वह भी विस्तार से। एसा शायद इसलिए हुआ है कि मारू देश में सबसे मनाहर वासक श्रुत ही होता है जैसा कि 'ढाला' म कहा भा गया है — मारू देश सुडावण सावण सौंभी बेर'। 'ढाला' के इस वासक वणन की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें स्थानीय रगत सपसे अधिक है, वासलदेव रास से भी अधिक। 'ढाला' के वासक-वणन में परपरा मुक्त कुछ भा नहीं है। 'ढाला' में प्रसगात मारू देश का मा वणन है लेकिन यह वणन 'सदेश रास के 'सामोर' का तरह परिपाटा विहित नहीं है। उसमें काव्य रूढ़ गिनी-सुना वस्तुओं और पदों के नाम गिनाने का शाक नहीं है। यहाँ भी मारवाह का वास्तविक वाचन प्रतिबिंबित हो उठा है।

'ढाला' के सदेश कथन में मा निशयता है। 'सदेश रास में सदेशा सयमा अपरिचित एक पधिक स कहा गया है 'धीसलदेव रास में अपन राय के ही एक पंडित का सुलापर कहा गया है। लेकिन 'ढाला' में अंत्यपक्षों से लेकर दाढ़ियों तक अपना विरह वेदना कही गयी है। यहाँ सदेश-याहक मा सद्यहात हैं। अंत्य पक्षों से

बढ़कर विरह विदग्ध और कौन होगा दूसरी आर गायक ढाढ़ी भी अधिक और पत्ति की तरह मात्र भ्रोता नहीं हैं बल्कि संदेश को अपनी रचना शक्ति से अधिक मार्मिक बनाकर कहने वाले जीव हैं। ऐसी दशा में 'तला' के संदेश कथन में मार्मिकता कहीं अधिक है।

शैला का चिह्न से 'तला' लोकोत्पत्त के निकट सबसे अधिक है। एक पत्ति का अनक आभूषणों प्रायः लाक-गीतों की विगेयता दिग्वाई पडता है। इससे उनमें सरलता के साथ ही मार्मिकता भी उद जाती है। 'तला क दोहों में—विशयन विरह निवेदन में इस प्रयत्न की बहुलता है।

मारवणी क संदेश कथन का आरंभ इस प्रकार होता है कि एक रात घर क पाछे वाल सरावर में रात भर कुररा पक्षियों का कण-रव होता रहा। मारवणी का नींद नहा आयी। सुगह हाते हा सखियों सहित मरावर क पास गयी और कुम्हों स बोले विना न रह सकी। मारवणी और कुम्हों का सगल जगव थाड़ी दर तक हाता रहा और अत में किसी गवार को शर सधान करते देख कुम्हणियाँ उड़ गयीं। पत्ता और खा की इतना मार्मिक वात-चात हिंदी में 'पञ्जावत को छोड़कर आर कहीं नहीं है। यह प्रश्नात्तर इस प्रकार है—

“कुम्हों, उड नइ पङ्कडा थाकउ विनउ वहेसि
मायर लघी प्री मिलउ प्रा मिलि पाछी देसि ॥”

“भे कुरभों सरवर-तणा, पाँवों कणहि न देश !
गरिया सर देखी रहों, उड़ आधरि वइम ॥

“उत्तर दिसि उपराठियाँ, बक्षिण सामहियाँह ।

कुरभों, एक संदेशउ डालानइ कहियाँह ॥

“माणस हवाँ त मुख चवाँ, गइ छाँ कुम्हणियाँह ।

मिउ संदेशउ पाठविसु लिखि दे पलङ्गियाँह ॥

“पाँसे पाथीं थाहरइ, जलि काजल गइलाइ ।

खयणों तणों संदेशइ मुल पचने कहियाँह ॥”

कुम्हें चाहे जो हों, लेकिन हता आखिर पड़ा हा। वे मला इतनी समझूतारा स मरा उत्तर कैसे दे सकती हैं ! लेकिन विदग्ध चित्त का गति निश्चिन्ना हाती है। यदि कुम्हें नहीं जाल रही हैं ता यह चित्त उनकी आर स स्वयं हा जगव दे लगा है। इस मन स्थिति का इस वात-चात में कितनी मार्मिकता क साथ व्यक्त किया गया है।

यदि कुम्हों ने अपनी पाँतों पर संदेशा लिखवाने से इनकार कर दिया और यदि उन्होंने प्रियतम के पास जान के लिए अपनी पाँतें उधार न दीं ता क्या

हुआ। दादी तो हैं ही। मारवणी उहीं में से एक का बुलाकर अपना संदेश कहती है। इस संदेश में कोई लम्बा चौड़ी बात नहीं, उनावट नहीं। क्वियों का संदेश दिल पर जितनी भीषण चाट करने वाला होता है, वैसा ही है। हर एक माथ, और हर एक वाक्य जैसे रह रह कर उठती हुई एक एक लहर है—इन सबका एसा लम्बा सिलसिला है कि कभी खत्म ही जाना न दीले।

दादी, एक संदेश उठ प्रीतम कहिया जाइ।

सा धय बलि कुइला भइ, भसम डैलीलिखि आइ ॥

दादी, जे प्रीतम मिलइ, यू कहि दासनियाह।

पजर नहि छइ प्राणियउ, यों दिस भय रहियाह ॥

धनिया जलकर कायला हा गई, अब आकर उसकी भूमि टैलीलना और पजर में प्राण नहीं हैं, केवल उसकी लौ तुम्हारी आर भुक्त भुक्त कर जल रही है—ये दोनों ही चित्र कितने प्रभावशाली हैं। कन्या मूर्तिमती हो गयी है। आखिर कौन इतना निष्ठुर होगा कि ऐसा संदेश पान पर घर न चला आये। इसका बाद तो कभी वह उस 'मलेमानस' से संदेश कहने को कहती है तो कभी उस 'राज्य' से कभी अपने 'साहित्य' से निवेदन करती है तो कभी खीब अपने 'दाला' से। जैसा भाव वैसा संयोजन।

मारवणी के मन का स्थिति का एक और चित्र है जब लाला के आने की खबर उसे मिलती है। खबर सुना नहीं कि दृश्य हवाद्रोक से हेमगिरि जितना विशाल हा गया। वह अनुभव करती है कि अब यह तन-पजर में समाएगा ही नहीं।

हियड़ा हेमगिरि भयउ, तन-पजरे न माइ।

वह अपने मंदिर में इस तरह कुदकती हुई चली जैसे कोई मौज्वारा छूट रहा हा—

मारू चाली मदिरे, चाणि छुटो छद्दाल।

यह 'धम्म धम्मन्त पाघरे' में एक घर से दूसरे घर में चलती हुई एसा मालूम हो रही है जैसे 'भीषे बाबल चंद।' और अपने हवातिरेक में देखता है कि घर के खम तक नाच रहे हैं, सारा घर हँस रहा है और सबसे बढ़कर तो यह खाट है जो उटकर खेल रही है—

चाई साजथ आधिया, जाई की जोती पाट।

याँमा नाचइ, घर हँसइ, खेलण लागी पाट ॥

इस प्रकार मारवाड़ देश में लिखे हुए ये दोनों लोक-काव्य चारणों की राजस्तुतियों के परिपार्श्व में सामान्य लोक-जीवन की स्वस्थ और सरस भावनाओं

को प्रफट करते हैं। य लोक-काव्य उच्च स्वर से धारणा करते हैं कि यही से बड़ी विपन्न स्थिति में जनता गाना बन्द नहीं करती और यदि राज दरबार अपने मिथ्या अभिमान, वैभव और गौरव का निष्प्राण तथा आश्चर्यपूर्ण साहित्य कुछ स्वर्ण मुद्राओं और रत्न-खण्डों के बल पर लिखवाते हैं तो जनसाधारण क कवि अपना उमर से ही अपने जीवन का रस सहन हा काय में उडेलते करते हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि 'सदेश रास' मुल्तान में लिखा गया और 'बासल देव रास' तथा 'दाला काव्य' भा उसके पास ही मारवाड़ देश में। ये पश्चिमी भारत के जीवत लोक जावन के प्रमाण हैं।

अपभ्रंश-साहित्य का प्राणधारा ऐहिक लोक-गातों के अतिरिक्त तिन रचनाओं में व्यक्त हुई वे प्रायः सबकी सब धार्मिकता का पुट लिए हुए हैं। लोक प्रचलित कहानियों में 'अनह जगह धार्मिक सक्त की धरभ्र न क्याएँ और हिंदी के साह्यानक काव्य' लौक देकर इस्तेमाल में लाने का प्रथा इस देश में पहले से ही मौजूद रही है। लोक गातों में धार्मिकता का पुट तो नहीं दिया गया क्योंकि वे गाने क लिए लिखे गए और अपने राग-रग क ऐहिक क्षणों में जन-साधारण भरसक धार्मिक जावन क ऊंचे आदर्श को भूलना ही अच्छा समझते हैं। आखिर यह भा क्या जावन है कि जब देखा तब ऊंचे ऊंचे आदर्शों की ही दुनिया में रहा जाय, एक उच्चतर आनुभिक भाव का ही चचा में रत रहे। वास्तविकता में (को) काद चात्र हाता है सद्ग जीवन का भा अपना आनंद हाता है अनाहत क्षणों में अपना महत्त्व हाना है। 'बासलदेव रास और दाला' क दाहे ऐसे हा श्रवसों पर गाए जान क लिए रचे गये हैं। इसका कारण शायद यह भी हो कि तिन दिनों य रच गय, धार्मिकता की लहर लोक-जावन में उतना नहीं उठी थी। क्योंकि थोड़े दिनों क बाद हा (जब उत्तर भारत में भक्ति की वाद आयी ता ये तमाम लोक प्रचलित गीत गाव्हिद राम आदि भावनरक नामों से सबलित करके भक्ति भाव क लिए इस्तेमाल कर लिये गये। दाला० के अनेक दोहों की कबीर ने ज्यों का यों उठा लिया—कहीं-कहीं अपना आर स इसना ही क्रिया कि जहाँ 'प्राणम था, वहाँ 'गाव्हिद' का रव दिया। जैसे दाला० क

राति छु सारस डुरलिया गुनि रहे सब ताण ।

जिणकी जोड़ी बीदही, तिणका कवण ह्याल ॥

का कबीर ने इस प्रकार कर लिया—

अधर कुर्जा डुरलियाँ गरजि भरे सब ताल ।

जिन पै गोविंद बीछुटे तिनके कौर हवाल ॥)

लेकिन लोक-गातों का अर्थ ही अधिक परिवर्तन लोक कथाओं में किया गया है क्योंकि उनमें परिवर्तन की गुंजाइश अधिक होती है।

अश्वत्थ की 'मनिसयत्त कथा' मूलतः एक लोक कथा है। इस तरह की कहानी आज मां हमारे यहाँ गाँवों में कही जाती है कि एक सौदागर कदो औरतें थी। छोटा का वह बहुत मानता था, बही की कोई कद नहीं थी। कुछ दिनों बाद अपने आप की आशा से छोटी स्त्री का लड़का राजगार के लिए परदेस चलने लगा। यह देखकर बड़ा का भी लड़का मचल उठा। माँ ने मना किया लेकिन वह न माना। आगिर उपहिता क लड़क का ही तकदीर खुली और उसे काफी धन मिला, यहा तक कि धन क साथ ही एक घन्या भी मिला। दूसरी और पति की प्रिया के लड़क के हाथ कुछ न लगा। तब इर्ष्यावश रास्ते में इस लड़के ने अपना सौतले भाई को कुछ में भोंक दिया और उसका सब कुछ लेकर वह खुद घर चला आया। सयोग स उस लड़क की जान बच गई और वह फिर बहुत सारा धन लेकर घर पहुँचा। भेद खुलने पर एक का दण्ड और दूसरे का पुरस्कार दिया गया। जैसे उसका राज-पाट लौटा जैसे सबका लोटे।

'मनिसयत्त कथा' का कहाना यही है। कही यही कहानी राजा-रानी और राजकुमारों के रूप में कही जाता है और कही सौदागर के रूप में। लेकिन इसके कोई फर्क नहीं पड़ता। चाहे वह राजा हो चाहे सौदागर। है वह एक साधारण आदमी का ही प्रतिनिधि।

यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट इस कहाना का रचना में हा एक विशाल उद्देश्य काम कर रहा है। यह कहाना रची ही गयी है इस उद्देश्य के लिए कि जा मनुष्य द्वारा तिरस्कृत होता है उसकी भद्रव मगधान या माग्य करता है। लोक कथाएँ प्रायः स्त्री जाति द्वारा ही रची जाती हैं इसलिए स्वभावतः उनमें स्त्री का दुष्प्रभुत्व सबसे अधिक होता है और दुष्प्रभुत्व में वास्तविक तो दुष्प्रभु ही रहता है, सुप्रभु तो बसल आकाञ्छा की उपज होता है। पुरुषों द्वारा कृत्यो दुष्प्रभु स्त्री जाति आतिर इसके सिवा और क्या सोच और कह सकती है। पति धन सुप्रभु के लिए एक से अधिक विवाह अक्सर कर ही लिया करते थे। ऐसी दशा में कभी तो छोटी सौत से तकलीफ मिलती थी और कभी उन्ही सौतों से सबसे छायी रानी का क्योंकि कभी-कभी अनुभवो रानियाँ छोटी रानी को ही कौरा बना देती हैं, राजा के मानने से क्या होता है। यह चौराणों घटे अपनी छोटी रानी का देवभाल तो नहीं कर सकता। जो हा किसी न किसी पत्नी की तकलीफ हाना करता है। पीडा तो पीडा ही है, इस अंगुली को दबाएँ तो पीडा और उस अंगुली का दबाएँ तो पाडा।

को प्रकट करते हैं। ये लाक-काव्य उच्च स्वर से घोषणा करते हैं कि बड़ी से बड़ी विषम स्थिति में जनता गाना बन्द नहीं करती और यदि रात्र दरगार अपने मिथ्या अभिमान, वैभव और गौरव का निःप्राण तथा आटवस्पृण साहित्य कुद्ध स्वर्ण मुद्राओं और रत्न-वस्त्रों के बल पर लिखवाते हैं तो जनसाधारण क कथि अपना उमग से ही अपने जीवन का रस सहज ही काय में उभेला करते हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि 'सदेश रास' मुल्तान में लिखा गया और 'बीसल देव रास' तथा 'ढाला कान' भा उसके पास ही मारवाड़ देश में। ये पश्चिमी भारत के जात लोक जीवन के प्रमाण हैं।

अपभ्रंश-साहित्य का प्राणधारा ऐहिक लोक-गीतों के अतिरिक्त निर रचनाओं में व्यक्त हुए वे प्रायः सभी सव धार्मिकता का पुट लिए हुए हैं। लोक प्रचलित कहानियों में जगह जगह धार्मिक सक्त की अपभ्रंश बचाएँ छौंके देकर इस्तेमाल में लाने का प्रयास इस देश में पहले धीरे-धीरे से ही मौजूद रही है। लोक गीतों में धार्मिकता का पुट तो आख्यानक काव्य नहीं दिया गया क्योंकि ये गाने के लिए लिखे गये और अपने राग-रग के ऐहिक चरणों में जनसाधारण भरसक धार्मिक जायन के ऊचे आदर्श को मूलना ही अच्छा समझते हैं। आखिर यह भा बना जीवन है कि जय देखा तब ऊचे-ऊचे आदर्शों की ही दुनिया में रहा जाय, एक उच्चतर आधुनिक भाव की ही चचा में रत रहे। वास्तविकता भा (को) काइ चाइ जाती है, सहज जीवन का भी अपना आनंद हाता है अनाहत चरणों भी अपना महत्त्व हाता है। 'बीसलदेव रास' और 'ढाला' के दाहे ऐसे ही अवसरों पर गाए जाते के लिए रचे गये हैं। इसका कारण शायद यह भी है कि तिन दिनों में रच गय, धार्मिकता की लहर लोक-जायन में उतनी नहीं उठा थी। क्याकि पाइ दिनों के बाद ही जब उत्तर भारत में भक्ति की बाढ़ आयी ता ये तन्नाम लारु प्रचलित गात गाविद राम आदि भावतरक नामों से सबलित करके भक्ति भाव के लिए इस्तेमाल कर लिये गये। ढाला० के अनेक दाहों को कबीर ने 'यो का लो उना लिया—कहीं-कहीं अपना ओर से इतना हा किया कि जहाँ 'पानम' था, वहाँ 'गाविद' का रस दिया। जैसे ढाला० के

राति छु सारस डुरलिया गुनि रहे सब ताल ।

जिपकी जोड़ी बाढ़ड़ा, तिरका कवण ह्यान ॥

का कबार ने इस प्रकार कर लिया—

अपर कुंजा डुरलियां गरनि मरे सप ताल ।

जिन के गोविंद बीसुटे तिनके कौय हव ल ॥)

लेकिन लोक-गीतों की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तन लोक कथाओं में किया गया है क्योंकि उनमें परिवर्तन का गुणादृश अधिक होती है।

अथर्वश का 'भविष्यत्त कथा' मूलत एक लोक कथा है। इस तरह की कहानी आज भी हमारे यहाँ गाँवों में कही जाती है कि एक सौदागर के दो औरतें थीं। छोटी का वह बहुत मानता था, बड़ी को कोई फ़र्क नहीं थी। कुछ दिनों बाद अपने ग़प की आशा से छोटी स्त्री का लड़का राजगार के लिए परवेश चलने लगा। यह देखकर बड़ी का भी लड़का मचल उठा। माँ ने मना किया लेकिन यह न माना। आखिर उपेक्षिता के लड़के की ही तकदीर खुली और उसे काफी धन मिला, यहाँ तक कि धन के साथ ही एक धन्या भी मिली। दूसरी आर पति की प्रिया के लड़के के हाथ कुछ न लगा। तब इर्ष्यावश रास्त में इस लड़के ने अपने सौतले भाई का कुण में भोंक दिया और उसका सब कुछ लेकर वह खुद घर चला आया। सयाग स उस लड़के की जान बच गई और वह फिर बहुत सारा धन लेकर घर पहुँचा। भेद खुलने पर एक का दण्ड और दूसरे का पुरस्कार दिया गया। जैसे उसका राज-पाट लौटा वैसे सबका लोट।

'भविष्यत्त कथा' की कहानी यही है। कहीं यही कहानी राजा-रानी और राजकुमारों के रूप में कही जाता है और कहीं सौदागर के रूप में। लेकिन इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। चाहे वह राजा हो चाहे सौदागर। है यह एक साधारण आधमी का ही प्रतिनिधि।

यदि ध्यान से देखा जाय तो स्वयं इस कहानी की रचना में हा एक विशय उद्देश्य काम कर रहा है। यह कहानी रची ही गयी है इस उद्देश्य के लिए कि जा मनुष्य द्वारा तिरस्कृत होता है उसकी मदद भगवान या माग्य करता है। लोक कथाएँ प्राय स्त्री जाति द्वारा ही रची जाती हैं इसलिए स्वभावतः उनमें स्त्री का दुख-मुग्न सबसे अधिक होता है और दुग्न-मुग्न में वास्तविक तो दुग्न ही रहता है, मुग्न तो बचल आकाशा की उपज होता है। पुरुषों द्वारा सतायी स्त्री जाति आखिर स्वयं सिद्धा और स्या साच और कह सकती है। पति अपने सुख के लिए एक से अधिक विवाह अक्सर कर ही लिया करते थे। ऐसी दशा में कभी तो छोटी सौत से तकलाफ़ मिलती थी और कभी बड़ी सौतों से सबध छूटा रानों का क्योंकि कभी कभी अनुभवों रानिर्मा छोटी रानी का ही कौश पना पती ई राजा के मानने से क्या होता है। यह चौराचों पटे अपनी छोटी रानी का देगभाल तो नहीं कर सकता। जा हा किसी न किसी पत्नी का तकलीफ़ हाना भरती है। पाशा या पीड़ा ही है, इस अंगुली का दपाएँ ता पीड़ा और उस भगुनी का दवाएँ ता पीड़ा।

अब पीड़ित औरत स्वयं तो कुछ कर नहीं सकता। इसलिए उसकी पीड़ाओं को दूर करने वाला उसका बेटा हाता है। स्त्री को अपने बेटे का सबसे बड़ा बल हाता है। यहीं से उसकी कल्पना का पल्लू लगते हैं और बाका कहानी उसी कल्पना का परिणाम होता है जिसमें उसका लड़का सात सनु दर पार कहीं से अचानक अपार धन राशि और साथमें एक सुनसुना बहू भी लेकर लौटता है। माँ का हृदय आन्विर ठण्डा तो माँ का हा हृदय। पुत्र के इस आकस्मिक माग्योदय पर मा उस विपत्ति का आशकाए हैं और ये वास्तविक आशकाए दतना प्रबल हैं कि कल्पना में भी मन का नहीं छाड़ती। ये आशकाएँ उसके काल्पनिक मुल्य को मा अपना ध्याया से मलिन कर देता हैं। फलतः पुत्र का माग्योदय मा क्रिडा न क्रिडा बाधा-विघ्न अथवा संकट से प्रस्त होता है। यह संकट कमा देवी हाता है और कमा मानवीय। कमा वह अपनी ही सीत के लड़के की आर सं आता है और कमी किसी अदृष्ट शक्ति का आर से। लेकिन कल्पना फवल आशकाओं का सृष्टि क लिए नहीं का जाती। कमी कमा का मा जाता है लेकिन एसी कल्पनाएँ उसा मन का हाता हैं तो अधिक शकाकुल, सदेहशील और निराशावादी होता है। लेकिन महा ता माँ को अपने बेटे पर अश्वि विश्वास है इसलिए उचे पूरा आशा है कि हमारा लड़का धरता चर कर चाह आकास पाद कर कहीं न कहीं से हमारा दिन लौटाएगा। यहा विश्वास एसी हर कक्षना का सुखान्त बनाना है व गवाए कुछ ता मनुष्य क अपने उवाग मे और कुछ अतिमानवाय शक्तियों का मद मे दूर हा जाता हैं। दूसरे शब्दों में प्रकृति अथवा परित्यक्ति का मद से मनुष्य अपने दुमाग्य पर विनय प्राप्त करता है। आ का सीमाग्य यदि पुरुष दानता है, ता पुरुष हा उचे वापस भी करता है। अतर दतना ही है कि यह पादी दानता है ना आगे धान वाला पादा पर आशा लगा रहता है कि वह धान लौगाएगी पनि यह पादा है ता पुत्र अगली पादा का प्रतीक है।

इस तरह यदि मविमनत कदा का मूल लाककया का अन्धा तरह विप्लवप निया जाय ता यह अपने आन में बहुत अधिक सदेश्य है।

फिर भी एसा मालूम हाता है कि विद्वानों का हतन से सनाय नहीं हुआ। एसा कने उस उदरन से उनके उदेश्य का मेल नहीं पैग। नारा का अस्तार मा काई अस्तार है! यह मा काई मानवान वस्तु है! यह ता कमी का एन है और यह मा पूव जम क कमी का एन। इस पर क्रिडा का क्या बरा? यह कष्ट जैमा का क माय वैसा पुण्य क साय। इने बना काई अदृष्ट शक्ति कैसे दूर कर सकन है! अदृष्ट तो अदृष्ट हा है, उसका क्या मरासा? उससे अधिक मरासा ता अनन आराप्य देव का क्रिडा जा सकता है। ए आराप्य देव चाह जिन हो या और

कोई, इनका भरोसा इसलिए किया जा सकता है कि इन्हें प्रसन्न करने की विधियाँ निश्चित हैं और मालूम हैं जब कि अदृष्ट अथवा माग्य ता अनिश्चित है, राम भरोसे है। अपने अराध्य देव को प्रसन्न करने के लिए पूजा-याग, व्रत आदि काफी हैं और जैन मत में 'भुत पञ्चमी' एक ऐसा ही व्रत है। इस तरह जो कहानी पहले शुद्ध कल्पना जनित माग्य पर आधारित थी, वह सिद्धान्त विशय-जनित उपासना विधि पर स्थापित कर दी गयी।

मध्ययुग में ऐसा साहस्य संशोधन अनक लोक-कथाओं के साथ किया गया है। उत्तर भारत में प्रचलित 'सत्यनारायण की कथा' में ऐसा ही साहस्य संशोधन है। यह संशोधन कभी-कभी इस हद तक किया जाता है कि मूल कथा गायन हो जाती है और बचल संवाधन हो बच रहता है जैसे 'सत्यनारायण की कथा' में व्रत और कथा का केवल माहात्म्य ही रह गया है, मूल कथा इतनी भिस गयी है, इतनी भिस गयी है बचल 'सत्यनारायण' नाम के रूप में शेष रह गयी है।

यही नहीं, इन लोक कथाओं में परवर्ती युग के पण्डितों ने एक और प्रकार का संशोधन किया। कियों की आदिम शाक-कथाओं में सारा वातावरण घरेलू और गवई स्तर का ही हुआ करता था। उसमें राजाओं और रानियों का नाम तो रहता था लेकिन राजाओं के बड़े-बड़े युद्धों के लिए कोई जगह न थी। धन-धैर्य के वणन में हीरे-जवाहरात घोड़ा हाथी तो रहते थे, लेकिन ताप-तलवारें न थीं। मध्ययुग के पण्डितों ने उन लोक-कथाओं को अपने हाथ में लेते हा देखा कि इनमें राजा-रानो अपने पूरे वैभव के साथ नहीं आय हैं। आखिर भजा भी क्या कि दो चार लड़ाइयाँ न करे। ऐसे सामन्त-युगान प्रभाव से इस कवि का प्रभावित होना स्वभाविक था। बिना इस संशोधन के उसकी कहानी का वास्तविकता में उस समय विश्वास पौन करता।

'भविष्यन कथा' के दूसरे खंड में कवि ने यही संशोधन किया है। इधर विद्वानों में पुरानी पाणियों की प्रामाणिकता का पता लगाने की ऐसी आकुलता है कि वे हर कथा के मूल रूप का ही प्रामाणिक मानने का पैमाना लेकर दौड़ पड़ हैं। उन्हें जहाँ भी किसी कथा में कुछ जाड़ और कुछ चकतियाँ दिखाई पड़ती हैं, चट से वे इन सबको प्रदित कहकर कतर पँकत हैं। वे राजी विद्वान केवल नीव का पता लगाने निकले हैं, इनको नीव के ऊपर चुनी हुई हँटों की प्रामाणिकता अप्रामाणिकता को लेकर बेहद परेशानी हाती है। लेकिन यह रचना परेशानी का चाज नहीं है। नीव ही वास्तविक नहीं है, उसके ऊपर समय-समय पर जितना हँटें रनी गयी हैं, वे सब भी वास्तविक हैं, उन सबका भी ऐतिहासिक महत्त्व है। बहिन इतिहासकार की दिलचस्वी इन सारों में ही सगसे अधिक होनी चाहिए। किस युग

की विचार धारा ने मूल-कथा पर कौन सी चिप्पा लगाया यह जानना कम महत्वपूर्ण नहीं है। समय-समय पर जोड़ी हुई ये चिप्पियाँ किसी युग के साहित्य और समाज की समझने में विशेष सहायक हुआ करता हैं। भाषा नैसा, अल्प-परिवर्तनशाल तथा काव्य-रूप आदि अन्य परम्परित काव्यात्मक उपादानों का मद्द से किसी रचना की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के नियंत्रण करने का अपना, मूल कथा में समय-समय पर विभिन्न उद्देश्यों से प्रेरित परिवर्तनों का विश्लेषण अधिक उपादेय हो सकता है। एक ही राम कथा का बाल्माकि से लेकर भद्रिनाथरूप गुप्त तक किस प्रकार मशहूर किया गया—इसके विवेचन से बाल्माकि से लेकर आधुनिक राष्ट्रिय आन्दोलन तक के विविध सामाजिक परिवर्तनों का पता लगाया जा सकता है और फिर इन सामाजिक परिवर्तनों का प्रष्टमूमि पर विभिन्न साहित्यिक उपादानों का भा समझने में मदद मिल सकता है।

‘भविष्यत्त कहाँ में पूज-प्रचलित लोक कथा को जिस ढंग से मोड़ा गया है उससे धनराज अथवा जैन धर्म के विचारों का हा पता नहीं चलता, बल्कि उस सम्पूर्ण युग में काम करने वाली सामान्य मनाबुद्धि का आभास मिलता है।

धार्मिक उद्देश्य के अनुसार लोक-कथाओं का मोड़ने का यह प्रवृत्ति बुद्ध और विक्रमिन्त रूप में हिन्दू के आरम्भिक आध्यात्मिकों में मा निखाई पड़ती है। इन आध्यात्मिकों का उपयोग सन्तियों ने सबसे अधिक किया। कारण स्पष्ट है। हिन्दू भक्त कवियों का तरह उनके पास कहानियों की अपना कोई धार्मिक पौराणिक परम्परा न था। मूर-नुलसा ता कृष्ण और राम का पौराणिक कथा का सहारा ले सकते थे लेकिन इरान से आय हुए सूफी सन्तों के पास अपनी पौराणिक कथाओं का कोई निधि न था, सम्भवत इरान का सूफी काव्य प्रायः मुक्तक और गीत ही है।

भारत के इस्लाम धर्म में दक्षिण हिन्दू इन मामलों में अधिक सौमन्यशाली थे। किन्तु धार्मिक कारणों से उन्होंने हिन्दू पौराणिक कथाओं का अपने रचना का आधार नहीं बनाया। पौराणिक कथाओं का न अपना कोई कारण शायद यह भी रहा है कि गाँवों में रहने वाले ये भोले माल-मव दक्षिण मुसलमान घरेलू लोक कथाओं से जितना परिचित थे, उतना पौराणिक कथा से अभिज्ञ न थे। कारण जो भी है, तथ्य यही है कि हिन्दू के सूफी सन्तों ने लोक कथाओं का अपने आदर्शों के लिए अपनाया। लोक-कथाओं को इस तरह अपनाने का उल्लाह हिदा के हिन्दू भक्त कवियों में भी नहीं देखा गया।

आपना का ‘पद्ममावत’ एक ऐसा ही सूफी काव्य है जिसमें ‘भविष्यत्त कहाँ’ का ही तरह लोक-कथा का सांदेश्य सशोधन किया गया है। जिस प्रकार राजकार

वैभव के लिए भविष्यदत्त के भाग्य की कहानी में कुब जङ्गल और पोयणपुर के राजाओं का युद्ध जोड़ दिया गया है, उसी प्रकार रतन सेन और पद्मावती की प्रेम कहानी में भी अलाउद्दीन का चित्तौर का आक्रमण बढ़ा दिया गया है। इससे सामान्य लोक कथा में सामन्ती वैभव तो लुप्त ही गया है, समसामयिकता की भी छाप लग गयी है। लेकिन यह तो गौण बात है। मुख्य बात है पद्मावती की सामान्य प्रेम कहानी को भगवत्प्रेम का रूप देना। धनपाल ने लोक-कथा में जो धार्मिक रङ्ग दिया है उसमें व्रत और आचार-पालन का ही आग्रह है, लेकिन जायसी के धार्मिक रङ्ग में साधारण आचार-पालन से ऊपर उठकर इश्वरोन्मुख प्रेम की प्रगाढ़ता है। यह वस्तु जायसी की अपनी है और जायसी के साथ जायसी के युग की है। भक्ति की यह भावना धनपाल और धनपाल के युग में न थी। यह भावना तत्कालीन जैन समाज में ही नहीं बल्कि ब्राह्मण और बौद्ध समाज में भी न थी। भक्ति की यह भावना अपभ्रंश में ही नहीं, बल्कि तत्कालीन प्राकृत और संस्कृत साहित्य में भी न थी। यह भावना ब्रज, अवधी, बङ्गला, गुजराती, मराठी, पञ्जाबी, असमी, उड़िया आदि आधुनिक भारतीय साहित्यों की अपनी विशेषता है और इसका अभ्युदय कुछ आगे-पीछे इन साहित्यों में तेरहवीं शताब्दी ईस्वी के बाद हुआ।

धनपाल के युग में संभवतः व्रत और आचार का पालन ही सबसे बड़ा आदर्श था, लेकिन धीरे धीरे यह भी रूढ़ि-पालन मात्र हो गया। बहुत संभव है, धनपाल के समय ही उसमें बहुत कुछ जड़ता आ गयी हो। लेकिन यह निश्चित है कि आगे चलकर उस धार्मिकता में जीवंत प्रेरणादायिनी शक्ति नहीं रह गयी थी। इसकी प्रतिक्रिया जोरुहु, रामसिंह आदि जैन मुनियों के द्वारा ही शुरू हो गयी थी किन्तु आगे चल कर तेरहवीं शताब्दी के बाद ब्राह्मण, बौद्ध, इस्लाम सभी भारतीय धर्मों और समाजों में अपने अपने ढंग से इस तरह की आचार प्रधान रूढ़ियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। और उसकी जगह भगवत्प्रेम की प्रतिष्ठा हुई।

इस नवीन उद्देश्य में 'पद्मावती' की लोक-कथा को भी मोड़ दिया। परन्तु इस संशोधन में भी स्पष्ट रूप से देहिक और अमुष्मिक तत्व अलग अलग दिखाए पड़ जाते हैं। 'पद्मावती' का भगवान और 'रतन सेन' का भक्त का प्रतीकता जायसा ने बना दिया लेकिन 'नागमती' के 'गोरख धंधा' पर यह धार्मिकता का रंग न चढ़ा सके। नागमती का वियोग मूल लोक-कथा के अक्षरों के रूप में रह ही गया और यह अवशेष भी इस तरह रहा कि उसकी सत्ता स्वतंत्र और अलग प्रजात होती है। विशेष दृष्टिकोण के कारण जायसी ने नागमती का दुनिया का 'गोरख धंधा' मले कह दिया है, लेकिन उसके लौकिक रस का पद्मावती का प्रेम भी नहीं

पा सका। 'पद्मावती' के रूप में जायसी ने चाहे जितना अलौकिक प्रभाव भर दिया हा, उसके 'पारस रूप' में उठोने चाहे जितना शक्ति संचित कर दा हो, लेकिन हृदय ता उठोने नागमती का ही दिया और हृदय भी ऐसा दिया कि उसकी निरी लौकिकता के सामने पद्मावती के रूप की अलौकिकता भी फीकी पड़ जाती है। यही हृदय की लौकिकता तथा सौंदर्य की अलौकिकता 'पद्मावती' काव्य की विशेषता है जिसमें जायसी के आदर्श की अलौकिकता के साथ माधो की लौकिक संपदा भी सुरक्षित है। वास्तविकता में कल्पना और यथाथ में आदर्श की प्रतिष्ठा का यह उकृष्ट उदाहरण है।

कथा में भक्ति का पुट देने को यही प्रवृत्ति यादों से अंतर साथ हिंदी के राम भक्ति काव्य और कृष्ण-भक्ति काव्य में भी दिखाई पड़ता है। कहने को तो अपभ्रंश के जैन कवियों ने 'पउम चरिउ' और 'हरिवंश राम और कृष्ण भक्ति काव्य' पुराण लिखे जिनमें क्रमशः राम और कृष्ण का चरित गाया गया है, लेकिन उनमें राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार नहीं हैं। उनके यहाँ यह हो मा कैसे सकता था ? हरिचरित धारा का उद्गम सुदूर अतीत में दूँद निकालने वालों के लिए ता अवतारवाद की भावना वेद से ही चली आ रही है लेकिन वेद से उसका आरम्भ होना एक बात है और मध्ययुग में उसका अत्यधिक व्यापक हो जाना दूसरी बात है। अवतारवाद का आरम्भ चाहे जितना पहले हुआ हा लेकिन अवतार में लोक जावन का सामान्य विश्वास जितना मध्ययुग में प्रचलित हुआ, उतना पहले कभी न था। अवतारवाद को यह व्यापकता निश्चित रूप से भक्ति आन्दोलन के द्वारा मिली। सत और भक्त कवियों का यह सामान्य विश्वास था। विद में ब्रह्माण्ड का देखना, ब्रह्मरूप में अनन्द नाद का सुनना, पद्मावती में अलौकिक सत्ता का आभास पाना, दशरथ सुत राम में मयादा पुन्यात्तम राम के दर्शन करना और बसुदेव सुत कृष्ण में लालाधाम परमात्मा का निहारना यह सब प्रकारांतर से उसी अवतारवादी भावना के ही विविध पक्ष हैं विविध धर्मों और सम्प्रदायों के अनुरूप भक्ति युग की एक ही भावना ने अनेक रूप धारण कर लिया था।

अपभ्रंश काव्य में इस भावना के दर्शन ना नहीं होते ता उसका यह कारण नहीं है कि उसका अधिकार कवि जैन थे। भक्ति भावना केवल हिंदू धर्म की अपनी सम्पत्ति नहीं है। यह एक युग विशेष की लोक-व्यापी सामान्य प्रेरणा शक्ति है जो हिन्दू धर्म के साथ ही इस्लाम में भी दिखाई पड़ती है। धर्म इसका क्षेत्र है, धीज नहीं आकार है वस्तु नहीं देह है आत्मा नहीं। भक्ति का ध्यान, और उसकी आत्मा सामान्य लोक-जावन की मुक्ति-कामना में है। यह एक विशाल

सामाजिक परिस्थिति की उत्पत्ति है।

अथर्वश के उत्थान युग में वह परिस्थिति न थी। इसीलिए उसमें यह भाव भी उत्पन्न न हो सका।

इसलिए जिस प्रकार सुनियों के प्रेमाएवाओं पर अथर्वश के कथा और चरित काव्यों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा उसी प्रकार राम भक्त और कृष्ण भक्त कवियों की मूल भावना पर भी अथर्वश के राम कृष्ण काव्यों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है। राहुल जी ने स्वयम्भू की रामायण और तुलसा के 'रामचरितमानस' में स्पष्ट विश्वास सम्बन्धी कुछ घाड़ी सी समानताओं का देवकर जो यह कह दिया है कि 'तुलसी शाना न स्वयम्भू रामायण को जरूर देखा होगा यह अतिकथन है। अपने इस अतिकथन पर राहुल जी को भी याद दिला सका हूँ। इसलिए वे आगे कहते हैं—“तुलसा शाना ने स्वयम्भू-रामायण का देखा था, मेरी इस बात पर आपत्ति हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूँ कि तुलसी शाना न 'नवचिदन्वतोऽपि' से स्वयम्भू-रामायण की श्रौं हा सकेत किया है।' ऐसा अटकल-प्राजिर्षा मनोरञ्जक हा सकता हूँ, लेकिन इससे किसी तथ्य का ठीक पता नहीं चल सकता। इस तरह की पहेली-सुभायल का काम शाल-सुभक्तक के ही ऊपर छोड़ना चाहिए। स्वयम्भू रामायण का तुलसी ने देखा था या नहीं देखा था और 'नवचिदन्वतोऽपि' में स्वयम्भू-रामायण की श्रौं सकेत है या नहीं है—इससे कुछ नहीं बनता गिगड़ता। मान लिया कि तुलसी ने यह सब किया है लेकिन शयाल यह है कि यह सब करने के बाद तुलसी ने जो 'मानस' तैयार किया उसकी मूल भाव धारा का स्वयम्भू रामायण से क्या सम्बन्ध है? दोनों कृतियों की भावधारा में क्या सम्बन्ध है? और इस विषय में अटकल-प्राज्ञी के लिए कोई जगह नहीं है। इसे साहित्य का सामान्य पाठक भी कह सकता है कि तुलसी में जा भक्ति भावना की प्रधानता है, यह स्वयम्भू में विलुप्त नहीं है और इसी भावना भद के कारण दोनों की राम कथाओं के स्वरूप में भी भेद आ गया है।

एसा नहीं है कि राहुल जा इसका अनुभव नहीं करते। वे इन तथ्य का नेवत हुए आश्चर्य प्रकट करते हैं कि तुलसी ने स्वयम्भू की सीता का एकाध किरण भी अपनी सीता में क्यों नहीं डाल दिया? याद सा ही सानने पर इन शयाल का जवान मिल सकता है। सीधा बात है कि तुलसा स्वयम्भू की सीता जेमा अपनी सीता का नहीं बनाना चाहते थे। और यह चा नहीं बनाना चाहते थे यह

कुछ यों हा—अकारण हा नहीं यलिक उनका उद्देश्य कुछ और था उनका भी अरना सामाएँ थी ।

फिर यह सवाल तुलसा क हा विषय में क्या ! स्वयम्भू क विषय में भा पृष्ठा जा सकता है कि उन्होंने वाल्मीकि की सीमा का तरह अरनी साता को क्या नहीं बनाया ! स्वयम्भू ने साता क सपूर्ण असताप की आग का कम फल का छीटा देकर तुमा कों दिया !

इसक अलावा स्वयम्भू का तुलसा न पत्ता था या नहीं—यह ता विवादास्पद हो सकता है लेकिन वाल्मीकि को ता उन्होंने निश्चय हा पत्ता था तुलसी भी कहते हैं आर दूसरे भी मानत हैं । फिर तुलसाने वाल्मीकि के ही नमूने पर अरनी रामकथा क्यों न गत् दा ! ऐस तमाम 'क्यों' का फवल एक उत्तर है कवि का अरना उद्देश्य—परिस्थितिवन्व उद्देश्य ।

इस ऐतिहासिक तथ्य का ध्यान में रखते हुए स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश क राम कृष्ण काव्यों और हिन्दी क राम कृष्ण काव्यों की भाव धारा म का समानता नहीं, काइ प्रत्यक्ष साध नहीं है यदि कोई सम्व संबंध हो सकता है तो वह अत्यंत पराज और पौराणिक का हा हा सकता है । जही बात सूनी प्रेमाख्यानों क बारे में भा कही जा सकता है ।

भक्ति का यह भावना हिन्दी क कबार आदि सत कवियों की मा अरनी निरापना है जा अपभ्रंश क मिद कवियों में नहीं मिलता । कबार म विद्वों की 'महत 'शून्य' साधना का उल्लेख अस्पष्ट मिलता है इसक अतिरिक्त कुछ और मा पारिभाषिक शब्दों का आहृति लिखलाई पड़ सकती है परन्तु य बातें कबार क मूल भाव धारा नहीं हैं । सद्म और शून्य पर जितना जोर सहनवाना विद्वों क रचनाओं में लिखाई पड़ता है, उतना कबार में नहीं है । कबार क काव्य में इनका प्रयोग पुरानी परिभाषा क अर्थशाप का सूचना मात्र देता है । कबार में एक मन का जा विद्वल हृदय है, वह विद्वों में कहीं नहीं दिखार पड़ता । तान्त्रिक दृष्टि स कबीर का 'निगुण' भा सद्मपानियों क 'शून्य' से भिन्न है और समरत

अधिक भावात्मक है । इसलिए कबार क आन-मयगत में

अपभ्रंश का सिद्ध जा तरलता है, वह किमा मिद कवि का रचना में नहीं साहित्य और हिन्दी मिलता । इसका शक नहीं कि अक्सर कबार क रूपक

सत काव्य विद्वों से मल गाने हैं, यहाँ तक कि उही स लिण हुए प्रभाव होते हैं । कबार का बिहना मंगान मगह क उम साक म

भिन्न नहीं है 'नह मणु पवणु न मन्वरे, रवि सधि ग्राह परेस । परन्तु य समा उपरा समानताएँ हैं । इन सय रूपकों और पारिभाषिक शब्दों क बाव जा मूल

भाव है वह कबीर का अपना है। इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी बहुत पहले ही विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं,^१ इसलिए इसकी ओर अधिक व्याख्या करना अनावश्यक है।

इस प्रकार हिंदी के आदि काल में जितनी मुख्य काव्य प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं उनका ऐतिहासिक अध्ययन करने से पता चलता है कि हिंदी में अपभ्रंश की जीवन्त भाव धारा का विकास अपने ढङ्ग से हुआ। चौदहवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कारण अपभ्रंश से आती हुई भावधारा में इतना अधिक परिवर्तन हो गया कि हिंदी साहित्य में उसने जो सत-भक्ति काव्य का रूप लिया उससे अपभ्रंश साहित्य की धार्मिक चेतना का सीधा संबंध नहीं दिखाई पड़ता। चौदहवीं शताब्दी का सांस्कृतिक पुनर्जागरण मध्यदेश की अपनी सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की उपज है यह वह प्रदेश है जिसमें जैन धर्म का जोर कभी नहीं था। अपभ्रंश की रचनाएँ भी इस भू-भाग में नहीं हुईं। इसलिए अपभ्रंश के अधिकांश साहित्य से इस जाति का साधा सम्पर्क कभी नहीं रहा। ऐसी दशा में जैनों के अपभ्रंश साहित्य से अथवा और ब्रज के संत-भक्ति काव्य का अभ्युदय दिखलाना हमें बिलकुल उगान का ही काम होगा। अधिक से अधिक इन दोनों साहित्य में परोक्ष संबंध ही दिखाई पड़ता है। यह परावृत्त सम्बंध यह है कि दोनों के अभ्युदय के मूल में मुख्यतः लोक जीवन का ही हाथ है। अपभ्रंश ने भारतीय साहित्य की जिस गति का लोक जीवन से दूर जात बनकर फिर से उसके साथ कर दिया, उसी प्रयत्न के फलस्वरूप हिंदी आदि आधुनिक साहित्यों का अभ्युदय हुआ। इसलिए अपभ्रंश काव्य में यह जो लोक जीवन की धड़कन सुनाई पड़ती है, यही आग चलकर और भी स्पष्ट रूप से अथवा, ब्रज, राजस्थानी आदि साहित्यों के आदिकाल में सुनाई पड़ती है। हिंदी के लिए यह स्पष्टभूमि तैयार करके अपभ्रंश ने ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया।

काव्य-रूप

भाव धारा का अपभ्रंश काव्य रूपों में परंपरा का पालन अधिक देखा जाता है। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि नवीन भाव धारा के आ जाने पर भी काव्य के रूप पुराने ही चलते रहते हैं। हिंदी के काव्य रूपों का अध्ययन करते समय यह तथ्य स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। अपभ्रंश से अधिक विकसित और नवीन भावधारा का अपनाकर भी हिंदी कविता बहुत दिनों तक अपभ्रंश के ही अधिकांश काव्य रूपों का अपनापन रही। इसलिए हिंदी काव्य रूपों के क्षेत्र में अपभ्रंश

की देन मावधारा की अपभ्रंश अधिक है।

काव्य रूपों के मूल में प्रायः छंद हुआ करता है। यदि वाक्य भाषा की इकाई है तो छंद वाक्य की भंगिमा है। इसीलिये जब भाषा में कोई परिवर्तन होता है तो उसके छंदों में भी परिवर्तन हो जाता है।

छंद जब प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वैदिक संस्कृत का अवस्था के बाद लौकिक संस्कृत हुई तो तमाम वैदिक छंद बदल गये और अनुष्टुप् लौकिक संस्कृत के प्रथम छंद होने का गौरव लेकर आदि कवि की निष्ठा पर आया। इसके बाद तो संस्कृत में अनेक छंद आये। पालि संस्कृत में विशेष भिन्न न थी इसलिए पालि के छंद भी प्रायः संस्कृत के ही रहे। लेकिन प्राकृत संस्कृत से काफी भिन्न था, इसलिये उसका छंदो-व्यवस्था भी बदल गयी और जिस तरह अनुष्टुप् लौकिक संस्कृत का अपभ्रंश या उसा प्रकार 'गाथा' प्राकृत भाषा की अपभ्रंश बनकर सामने आया। अपभ्रंश के साथ आर्यभाषा के व्याकरण में कुछ मौलिक परिवर्तन हुए। इसलिये आर्य भाषा के लक्ष्योत्प्रेष में भी इसके साथ मौलिक परिवर्तन हुआ। इससे पहले प्रायः वर्णिक छंद होते थे जिनमें विभिन्न वर्णों के अनुसार शब्दों का क्रम होता था। अपभ्रंश ने पहली बार मात्रिक छंदों का सूत्रपात किया। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश से पूर्ण छंद तुकान्त नहीं होते थे। अपभ्रंश ने छंद के क्षेत्र में तुकान्त प्रथा चलायी। तब से आज तक हिंदी में मात्रिक छंदों की ही प्रधानता है। अपभ्रंश के बाद हिंदी के साथ आर्यभाषा में कोई बहुत मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ, इसलिये आरम्भिक हिंदी के छंद भी प्रायः अपभ्रंश के ही रहे। जिस हद तक परिवर्तन भाषा में हुआ, उस हद तक हिंदी में नये छंद भी आये। यदि इस सामान्य सिद्धांत का हिंदी का विभिन्न बोलियों के छंद भेद पर लागू किया जाय तो पता चलेगा कि वरधे जैसे कई एक छंद ऐसे हैं जो अवधी के एकदम अपभ्रंश हैं, जिन में वे नहीं चलते।

इसी तरह जब खड़ी बोली काव्य भाषा हुई तो इसमें पुरानी अवधा और ब्रजभाषा के छंदों से काम न चला। फलतः उसने नये छंदों की सृष्टि की।

छंदों के परिवर्तन से काव्य रूपों में किस प्रकार परिवर्तन आता है, इस यदि देखना हो तो पुनः संस्कृत से इसकी परम्परा पर दृष्टिपात किया जा सकता है। आरम्भ में जब संस्कृत में अनुष्टुप् जैसे छंदो-छात्र छंद थे तो मुक्तकों का आरम्भ नहीं हो सका। उन छंदो-छात्रे छंदों में रामायण-महाभारत जैसे बड़े-बड़े धारावाहिक प्रबंध काव्यों की ही रचना हो सकती थी। पीछे जब कुछ बड़े-बड़े छंदों का रचना हुई तो यहाँ नहीं कि मुक्तक रचनाएँ अस्तित्व में आयीं, स्वयं प्रबंध काव्यों का भी ढाँचा बदल गया। 'रामायण एक काण्ड के भाँवर छोटे-छोटे कई अध्यायों में

निम्न किया गया था। इस तरह महाभारत में भी एक पर्व के भीतर कई अध्याय रखे जाते थे जिनमें से प्रत्येक अध्याय में सामान्यतः सौ श्लोक सौ श्लोक होते थे। पीछे कालिदास के समय से, जब कुछ बड़े छंदों का प्रचलन हो चुका था तो प्रबंध काव्य में काण्ड अथवा पथ और अध्याय के बीच का रास्ता निकाला गया। नये प्रबंध काव्यों के मर्म पुराने महाकाव्यों के अध्याय से कुछ बड़े और परंपरागत कांड से काफी छोटे हो गये। बहुत समय है कि यदि महाकाव्य, शार्दूलविकीर्णित, खण्डहरा, शिखरिणा जैसे बड़े छंद संस्कृत में न आये होते तो अमरकशतक, शृङ्गार शतक, नीतिशतक, वैराग्यशतक, आया सप्तशती, चौरपञ्चाशिका, मघदूत आदि जैसे मनाहर मुक्तकों की सृष्टि न होती। अनुष्टुप् में उत्कृष्ट मुक्तक नहीं लिखे जा सकते, वह मूलतः कथानुबन्ध का ही छंद है।

यही बात आगे चलकर अपभ्रंश में भी दिखाई पड़ती है। चरित काव्य के लिए प्रधानतः अपभ्रंश में पदद्विधा या पदद्वी छंद को ही अपनाया गया एकरसता दूर करने के लिए बीच-बीच में दूसरे छंदों का भी प्रयोग किया गया, लेकिन कहानी कहने के लिए मुख्य छंद वही अथवा वैसा ही कोई छोटा छंद हुआ करता था। दोहा अपभ्रंश का छोटा ही छंद कहा जायगा लेकिन उसमें इतनी स्वरगत मझिम प है कि उससे कथा प्रवाह में रुकावट आती है। एक तो उसमें चार यतियाँ हाता हैं, दूसरे उसकी प्रत्येक यति का चरण विषम होता है। इस प्रकार अपभ्रंश का दोहा प्राकृत की गायत्री की भाँति मुक्तक काव्य के ही काम का है। आगे चल कर जब अपभ्रंश में रास कव्य, दुर्बरी जैसे बड़े बड़े छंद आये तो उनके साथ ही विंगप प्रकार के गय और मुक्तक काव्यों की भी सृष्टि हुई।

यही क्रम हिंदी में भी दिखाई पड़ता है। चौपाई प्रबंध-काव्य के लिए और सबेरा घनानुरी छप्पय कुण्डलिया आदि मुक्तक के लिए निश्चित कर लिये गये। रहा दाहा, सो यह अपभ्रंश काल से ही प्रबंध और मुक्तक दोनों घरों में सम्मन पाता रहा है। आधुनिक हिंदी में नय दंज के तुलान्त मायिक छंदों ने प्रगीत-मुक्तक (लिरिक) जैसे नय काव्य-रूप का जन्म दिया और मुक्त-छंदों ने प्रगीत-मुक्तकों से भिन्न विशेष प्रकार की लक्ष्मी कविताओं का सामने रखा जैसे निराला की 'संध्या सुन्दरा' अथवा प्रसाद की प्रलय की छाया।

इस प्रकार छन्द-परिवर्तन के साथ काव्य रूप में परिवर्तन अनिवार्य है, इसी बात का कहना चाहिए कि इस प्रकार भी कह सकते हैं कि नय काव्य रूप में परिवर्तन करने की आवश्यकता समझी जाती है तो छंदों में भी परिवर्तन कर लिया जाता है। जो हा, इन सबके मूल में भाषाद्वारजनित आवश्यकता ही है। भाषाद्वार के अनुसार ही छंद और काव्य-रूप बदलते हैं—इन दोनों का संबंध इतना

अन्योन्याभित है कि इनमें से कौन पहले बदलता है यह कहना कठिन है। फिर भी दूर तक विश्लेषण करने पर एसा हा प्रतीत होता है कि छद्म म परि १ न का न रूप से पहल हाता है। इस दृष्टि से हिंदी छद्मों के विकास म अपभ्रंश छद्मों के योग का अध्ययन किया जा सकता है।

हिंदी का 'दाहा अपभ्रंश की देन है, यह तथ्य इतना प्रतिष्ठित और प्रचलित है कि प्रमाणित करने की आवश्यकता अब नहीं है। चौपाइ के बार म कई बय पहल लागों क मन म धुंधलका अभ्रंश या कि इसका हिंदी में अपभ्रंश मूल उत्स अपभ्रंश में है या नहीं। ५० हजारप्रसाद द्विवेदा छद्मों का निर्वाह ने आज से लगभग चौदह बय पहले इसका संघ अपभ्रंश क अलिखलाइ छद्म से बतलाया था।^१ वह स्थानना आज भी अपना जगह पर एकदम सही है। परंतु अपभ्रंश में 'चउपई' नामक मा छद्म मिलता है जिसके एक चरण म १५ मात्राएँ हाता है और तुकान में क्रमश गुण लघु (-) आते हैं। तरहबीं शतांदा क आरंभ के अपभ्रंश कवि विनयचन्द्र सुरि ने 'चउपई' छद्म में नेमिनाथ चउपई नाम का सूची काव्य ग्रंथ हा लिख डाला है। उसकी एक चउपई का उदाहरण इस प्रकार है।

भावणि सरयणि कहुय महु।

गत्रइ विरहिनि भिन्नइ देहु ॥

विष्णु भवक्कइ रक्तसि १३।

नमिहि त्रिगु सहि सदियइ क्व ॥

विनयचन्द्र सुरि का 'चउपई' हिंदी में जायसा आदि द्वारा प्रयुक्त तथा गिगला चाय द्वारा स्वाकृत चौपाइ हा है। ऐसा प्रतीत हाता है कि जिस प्रकार 'चौपड' शब्द में एक मात्रा बढ़ाकर 'चौपाइ' शब्द बना लिया गया, उसा प्रकार 'चौपई' छद्म क अंत में एक मात्रा बढ़ाकर चौपाइ छद्म गढ़ लिया गया। आरंभ म यह छद्म समयत 'चौपड' ही या परंतु गान के क्रम में समस्त यह लघ्वत से गुवन्न हा गया। आजसी में तो प्राय लेकिन तुलसी में कहीं-कहीं चौपाइयों क बीच में एकाध अधाला चौपई की मा आ जाता है। अबकी का लघ्वत प्रवृत्ति क अनुसार आरंभ में शायद उस भाषा में 'चौपई' का ही प्रचार रहा होगा।

हिंदी का दूसरा प्रिय छद्म काय छमवा रोला है। इस छद्म का प्रचलन अपभ्रंश में कम से कम धनपाल (१ वीं शतांदा ईस्वी) के समय से मिलता है—

दूमइ पिअ विअोय संतत्तउ मुन्दइ पत्तठ।

मायल मारुण वणि वारठ तणु अम्पाइउ ॥

१ हिंदी साहित्य की भूमिका पृ० ५६

करयलि नाययुद्ध संजोइवि पुणु पुणु जाइवि ।

तेण पहण पुणु रि सचल्लिउ विरहि सल्लिउ ॥

जिस प्रकार हिंदी में 'काय' अथवा 'रोला' के साथ अंत में उल्लाला छु जोड़कर छद्म चरणों का छुप्पय (पट्पद) बना लिया जाता है, उसी प्रकार अपभ्रंश में भी होता था। परंतु अपभ्रंश के आरम्भिक कालों में रोला और उल्लाला का मिला कर इस प्रकार का छुप्पय बनाने की प्रवृत्ति कम दिखाई पड़ती है। 'भविष्यत्त कथा' में अलग अलग रोला और उल्लाला दोनों हैं लेकिन इन दोनों से बना हुआ छुप्पय कहीं नहीं मिलता। परवर्ती अपभ्रंश में इस तरह के छुप्पय मिलने लगते हैं। 'सदेश रासक' में इस तरह के पांच छुप्पय दिखाई पड़ते हैं जिनमें से एक छुप्पय इस प्रकार है—

भूपवि तम वदलिय वसह दिशि छावउ अयक ।

उरुवियउ धुरधुरह धार धणु किसणाइवर ॥

गुहहमगि गइवल्लिय तरल तइवडि वि तइकइ ।

दधुर-रइणु रउइ, सइ, कुयि सइवि थ सकइ ॥

निवइ निरंतर नीरहर दुद्धर धरधारोह मरु ।

किम सइउ पहिय सिहरदियइ दुसइउ कीइल रसइ सइ ॥ (१४८)

हिंदी में इन अत्यधिक प्रचलित छद्मों के अतिरिक्त एक और प्रसिद्ध छद्म घनाक्षरी है जिसका कोई रूप अभी तक अपभ्रंश में प्राप्त नहीं हो सका है। हिंदी में भी यह छद्म बाद में आया। इतनी शताब्दियों तक निरंतर प्रचलित होते रहने के कारण 'पृथ्वीराज रासो' में भी इसके बरतन नहीं होते। इसका मतलब है कि चारणों और भाटों का जवान पर भी यह छद्म देर से आया। जब तक इसके मूल उत्स का पता नहीं चलता तब तक अटकलबाजी करना व्यर्थ है। बहुत संभव है, यह हिंदी की अपना ही सृष्टि हो।

संवेद्या स्पष्ट रूप से वार्षिक गणवृत्त है, इसलिए इसकी प्राचीनता अनुमान है और संस्कृत में ही इसका मूल उत्स मिलना चाहिए। यह तो सही है कि सात आठ गण के चार चरणों का ऐसा कार्य वार्षिक वृत्त संस्कृत में नहीं है, लेकिन इसकी लंबाई देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कृत के किसी वार्षिक वृत्त के गणों का द्विगुणित करके बनाया गया है। संस्कृत का जो वार्षिक वृत्त द्विगुणित किए जाने पर आसानी से दुर्भिल संवेद्या हो जाता है, वह है चार गण वाला घोटक छद्म। लेकिन यह स्पष्ट रहना चाहिए कि घोटक संस्कृत का लाल प्रिय छद्म नहीं है और इसका विकास निरिच्छत रूप से बहुत बाद का है। 'पृथ्वीराज रासो' में संवेद्या भी नहीं मिलता लेकिन घोटक छद्म काफी हैं। किस प्रकार एक घोटक छद्म

द्विगुणित करके मन्त्रिया बनाया जा सकता है, 'पृथ्वाराज रासा' के दो घाटक लेकर समझा जा सकता है—

जल सैसव मुद्र समान मय, रवि बल उदिक्रम लै अयय ।
 वर संसव जायन सधि अना मु मिले अनु न्विनह माल जना ॥
 तु गहा लगि संसव बुवनना मुमनों सधि रवन रात्रिठा ।
 तु चले मुरि माग्त्र भङ्गुरिता मु मना नुरवम मुरा मुरिता ॥
 (शशिव्रता निवाह)

कमा रह गया है वा केवल चारों चरणों के सम तुल्यता का । लेकिन वा कवि घाटक का दुगुना कर सकता है वह उसके चारों चरणों का तुल्यता बना सकता है । इस तरह जब एक सन्देश बन गया तो उसमें यादों का हर पर करके कई सन्देश बनाए जा सकते हैं और सचनुच बनाए जा गए ।

छन्द अनगिन हैं और अनभ्रश तथा हिदा छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन करने आन में बहुत बड़ा विषय है । यहाँ केवल कुछ ही छन्दों पर विचार करना समर्थ है ।

कहा जा चुका है कि छन्द काव्य-रूपों का निधारित और प्रभावित करते हैं । अतः अनेक छन्द कथानक काव्यों का रूप निधारित करते हैं और गद्य छन्द मुक्तक काव्यों का । अतः अनेक छन्दों में चौगाइ का उल्लेख किया जा चुका है । परन्तु निरन्तर चौगाइ में ही कहाना कथन से गद्य में एकस्यता आ जान का आशय रहता है । यदि

लगानार चौगाइ मुनन-मुनते भाता ऊवन लगगा ता उक्ता का हिरो में अनभ्रश भा सौम्य पूल जानगा । वक्ता और भाता दानों के लिए कुछ के काव्य-रूपों का चौगाइयाँ के बाद विभाम आरम्भ है । विभाम के लिए छन्द निर्वाह और सुधार बदलना सब न मु दर उपाय है । ऐसा मा देना जाता है कि

यदि कवि छन्द नहीं बदलता तो एक कथानक काव्यों का अनेक समय गानक आन स्वरों के द्वारा उनमें परिवर्तन कर लेते हैं । गावों में गाना जान वाला 'आलहा' ऐसा ही धारावाहिक के र है जिसमें आद्योक्त एक ही वार का प्रयोग किया गया है । परन्तु उन कहन और मुनन में सुन्दर बनान के लिए गानक नष्ट करना तो गद्य का तरह से समाप्त कइत समर्थ है और कना बरकर गाने जान हैं । जो समझदार हान हैं वे सच-साध कहन और गन बान् मयनों में विचार कर लेते हैं अर्थात् काव्य अतः अनेक प्रयोग का ना कहते जाते हैं लेकिन यहाँ यथा ना अतः अनेक स्थान आता है यहाँ बरकर वे गाने जान हैं ।

वक्ता और भाता का इसा सुविधा का आन में समर्थ हुए कथानक काव्यों के कवि कुछ चौगाइयाँ के बाद दूसरे छन्द के प्रयोग का आनना करते आते हैं ।

चौपाई के बाद जो छंद आखानी से इस कार्य के लिए मिल सकता था, वह दाहा है। दोहा एक तो सहज मुलभ और अत्यधिक लाफ प्रचलित था दूसरे वह छटा भी है। किसी बड़े छंद व प्रयाग से धारण-हिकता में बाधा पढ़ने का भा आश का रहती है। अग्रभ्रश में इस कार्य के लिए घत्ता दुवद, उल्लाला आदि अनेक छंद इस्तेमाल किये जाते थे। एगल गताई कि अतिम दिनों में इनमें से फिसा एक छंद का निश्चित कर देने का मनावृत्ति हा चला था। हिंदी तक आते आते चौपाइयों के बाद दोहा का घत्ता देन की परिपाटी निश्चित हा गयी। इस अवस्था में एक रूपता ले आने के लिए आग चलकर यह भी निश्चित कर दिया गया कि सात या आठ अधालियों के बाद हो दाहा रखा जाना चाहिए। कहीं कहीं इसके अन्वय भा मिलते हैं। इसके अन्वय तुलसीदास जैसे अत्यंत सतक और अवस्थित कवि में भा हैं। लेकिन ऐसा बही दुआ है जहाँ भाव प्रसार अथवा घटना-क्रम का द्वात हुए निश्चित चौपाइयों के बाद दोहा रखने से प्रवाह में बाधा पढ़ने की आश का है।

गेय काव्य व रूपों में अग्रभ्रश काव्य बहुत समृद्ध था। रास, पाग, चाँचर, रसायण, बुलक आदि अनेक प्रकार व गेय काव्य अग्रभ्रश में प्रचलित दिखाई पड़ते हैं। रास काव्य मूलत रास छंद का समुच्चय है। अग्रभ्रश में २१ मात्रा का एक रासा या रास छंद प्रचलित था और एस ही अनेक छंदों का गाने का परिपाटी समयत लाक में रही हागा। यहाँ भी एकरसता दूर करने के लिए रास छंदों व वाच इतर गेय छंदों का भी समन्वित कर लने का समाधान जान पड़ता है। 'संदेश रामक' से इस प्रकार के गेय और मुक्तक 'रासक काव्यों' व रूप का पता चलता है। निश्चय ही रास काव्य' मूलत रास-छंद प्रधान काव्य रहे होंगे जैसा कि 'संदेश रासक' है।

आगे चलकर 'रास काव्य' एक एका काव्यरूप निश्चित हा गया जिसमें किसी भी गेय छंद का प्रयाग किया जा सके। भाव का दृष्टि से ये फिर भी प्रेम भाव प्रधान रहे। हिंदी का 'वीसलदेय रास' ऐसा ही 'रास काव्य' है जिसमें किसी अन्य गेय छंद का इस्तेमाल किया गया है, फिर भी वह प्रेम भाव प्रधान ही है।

जय काव्य विरोध का एक रूप बन जाता है तो कभी-कभी उसे दूसरे भावों और विचारों का भी वाहन बना लिया जाता है। रास काव्य के साथ भा एगल ही दुआ। मूलत यह कोमल भावों के लिए प्रयुक्त होने वाला गेय मुक्तक था, लेकिन दूसरी ओर यह काव्यरूप यारों की गाथाओं के लिए भी काम में लाया गया। जिस तरह अंग्रेजी का 'सॉनेट' मूलत प्रेम भाषापन्न मुक्तक था, किन्तु आगे चलकर अन्य भावों का भी वाहन बना लिया गया उसी प्रकार अग्रभ्रश और हिंदी का 'रास काव्य' भी इतर भावों, विचारों और घटनाओं के लिए अपनाया गया।

अपभ्रंश में इस प्रकार के कई रास काव्य हैं जैसे बाहुबलि रास समर रास आदि । और हिंदी में ऐसे ही रास काव्यों का सिरताज 'पृष्कारान रासा' है ।

यही सब देखते हुए अपभ्रंश के आचार्यों ने दो प्रकार के रास काव्यों का उल्लेख किया है—कामल और उदत इन दोनों के मिश्रण से बनने वाले मिश्रित प्रकार के रास काव्य का मा चचा की गया है ।^१ य मद् क्रिये ता गय हैं रास रूपको क कितु रास-काव्यों के विषय में भा समान रूप से लागू होते हैं ।

प्रेम और युद्ध को एकदम अलग अलग वर्गों में बाँटना जितना कठिन जावन में है, उतना ही कठिन काव्य में भी । उदत रूप के युद्ध-प्रधान रास-काव्यों में प्रेम-भावना का समावेश अस्वाभाविक नहीं है । यही कारण है कि पृष्कारान रासा जैसे रास काव्य एक प्रकार से युद्ध और प्रेमयुक्त मिश्रित रास का काटि में आ जात हैं । एकदम युद्ध प्रधान रास-काव्य का उदाहरण अपभ्रंश में 'बाहुबलि रास' और हिंदी में 'हम्मर रासा' माना जा सकता है ।

एक मात्र के लिए निर्मित काव्य-रूप किस प्रकार दूसरे भाव या विचार के लिए प्रयुक्त होता है इसके लिए जिनदत्त सूरि के 'उपदेश रसायन रास' का दाना जा सकता है । इसमें युद्ध और प्रेम दोनों का हटाकर धमारदश दिया गया है ।

इस प्रकार रास अथवा रासक नामक एक सामान्य गद्य छंद ने अपने रूप बदले ।

अपभ्रंश के अन्य गद्य काव्य-रूपों में से चौचरि का केवल एक नमूना मिलता है—जिनदत्त सूरि का 'चौचरि' अथवा 'च-चरा' । इस 'चौचरि' में भी 'रासा' छंद का ही व्यवहार किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि 'चौचरि' कोई लोक गीत था और शायद उस गीत में विशयलय का छंद व्यवहृत होता था लेकिन लिखित साहित्य में वह काव्यरूप का तरह मान लिया गया । हिन्दी में कबीरदास के नाम से चलने वाले कुछ गीत 'चौचरि' के नाम से मिलते हैं । जिनदत्त सूरि की 'चौचरि' में नैऋतम के उपदेश हैं । जैसे—

अहि सावर त बसु न मस्यदि, निवि नय ।
अहि गाय हिय धरति, त सावर-मुद्धनन ॥
अहि मासु न सयसु न अगुनिउ बससपुउ ।
अह पहरति न पवेसु न दुहउ कुलपुउ ॥

१ हेमचन्द्र हउ के अंगुणामन ८१४

फिर भी उन रूढ़ियों को टोने वाले अतात के मन प्रवासी कवि आज भी मिल जाते हैं।

रूप विधान संबंधी इन रूढ़ियों के अतिरिक्त काव्य की कुछ ऐसी भी रूढ़ियाँ हैं जो मूलतः किसी न किसी भाव या विचार का प्रतीक थीं, किन्तु धारे धारे रूढ़ि ढाकर अपनी मौलिक भाव-सपदा को आर सकेत करने की शक्ति खा बैठी और परवर्ती काल के काव्यों में वे रूप विधान का ही एक अंग बन गयीं। नख शिख यगन, सध्या उपा यगन तथा किसी उद्यान के फूलों का यगन आदि कुछ ऐसी ही काव्य रूढ़ियाँ हैं। मध्य युग में किसी नारी के नख शिख यगन में प्रयुक्त होने वाली कुछ उपमाएँ ही नहीं, बल्कि सपूर्ण प्रक्रिया और यगन क्रम एक निश्चित ढाँचे पर डुआ करता है। 'पृथ्वीराज-रासो' में इक्षिणी और शशिव्रता का रूप-यगन और 'पद्मावत' में पद्मावती का निस्तृत नख शिख यगन इस प्रकार की चिराचरित परिपाटी का पता देते हैं। नख शिख यगन संबंधी यह रूढ़ियाँ स्वयंभू और पुष्पवन्त के काव्यों से ही मिलने लग जाती हैं।

इसी प्रकार यदि सदेश-रासक म वर्णित सामोर की पङ्क पुष्प-सूची को पद्मावत के वसंत-यगन में धाम हुये फूलों की सूची से मिलाकर देखा जाय तो इन फूल-पौधों के नाम में ही नहीं बल्कि उनके मम म भी एक सधो-बैधाई परिपाटी का आभाव मिलेगा। यही बात युद्ध-यगन के प्रसंग म शस्त्रों की तालिका आदि के बारे में दिखाई पड़ती है।

संस्कृत काव्य के आरम्भिक युग से कुछ पशु-पक्षियों तथा पुष्पों को लेकर कवियों के समाज में काल्पनिक धारणाएँ चल पड़ी थी जैसा इस का नीर-खीर विवेक अथवा मुद्दरियों क नुपुर शिखित चरणों क आघात से अशोक का खिलना। आचार्यों ने इन्हें कवि-समय नाम दे रखा है। यदि इन कवि-समयों के इतिहास का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि अशोक, कुरवक, निलक आदि फूलों-सम्बन्धी कवि-समयों का जितना प्रचलन कालिदास के युग में था, उतना परवर्ती युग के कवियों में कमी न रहा। अपभ्रंश काव्यों में ये कवि-समय क्वचित् कदाचित् हा दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण शायद यह है कि जैनों के बुद्धिवाद ने इन धारणाओं म विश्वास न जमने दिया। लेकिन हिंदी क काव्यों में भी फूल संबंधी ये कवि-समय कम अपनाप गये। वहाँ केवल इस, चकोर, चक्रवाक सर्वर्षी कवि-समयों का ही निर्वाह हुआ।

अशोक, इस संबंधी ये कवि-समय वस्तुतः एक प्रकार के 'मोटिफ' हैं जो छोटे हाते हुये मा अत्यन्त प्रसंग-नामी हैं। भारतीय चित्त में अशोक, इस, आदि

कवल पुष्प और पत्नी नहीं रह गये हैं, बल्कि ये ऐसे 'मोटिक' कथानक सच्यो : हैं जो निम्न कथा-खंडों का यजना करते हैं अशोक 'मोटिक' या रुद्रि कवल अशोक नहीं है, वह अपने आप में एक पूरा कहानी है।^१ भारताय कथाओं में ऐसे अनेक लघु कथा व्यञ्जक प्रताकों का प्रयोग किया गया है। कथाओं में प्रयुक्त होने वाले इन प्रताकों को कथात्मक 'माटिक' कहा जा सकता है। धार-धारे ऐसे अनेक सन्तानय कथात्मक प्रताकों के सयोग से कथात्मक टाक्ष बन जाते हैं।^२ 'दोहद' एक ऐसा ही कथामक 'माटिक' है। जिस प्रकार मूर्ति और चित्रकला में कुछ विशेष भावों के व्यञ्जक 'मोटिक' होते हैं, उसा प्रकार कथा काव्य के अपने विशिष्ट 'माटिक' हैं। इस विषय में साहित्यिक कथानकों की अपक्षा लाक-कथाएँ अधिक समृद्ध दिखाने पड़ता हैं। लाक-कथाओं में ये प्रताक क्रमश रुद्रि बन जाते हैं। कालान्तर में अनेक रुद्रियाँ अप्रचलित हाता रहता हैं और बहुत सा नया रुद्रियाँ स्थापित हाता चलता हैं। भारताय साहित्य क इतिहास में इन कथात्मक रुद्रियों को एक ही परम्परा पायी जाता है ना विभिन्न मत-मतान्तरो, धर्मों, सस्कारों, जातया प्रयाओं के बावजूद संस्कृत पाली, प्राकृत और अभ्रंश से हाता हुई हिंदी, बंगला आदि आधुनिक साहित्यों में ना बहुत कुछ सुरुचित है।

अभ्रंश क कथा-काव्यों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनमें संस्कृत कथाओं की अनेक कथानक-रुद्रियों का निवाह किया गया है। यहा संस्कृत काव्यों तथा अभ्रंश काव्यों में एक मौलिक अंतर दिखाने पड़ता है। कथानक-रुद्रियों का उपयोग संस्कृत काव्यों में उतना नहीं हुआ है, जितना अभ्रंश काव्यों में। बाल्माकि-रामायण और स्वयम्भू क 'पउमचरिउ' की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाता है। 'पउमचरिउ' का सारा विद्यावर काड आर अयोप्याकड का उत्तराद्ध ऐसे ही कथात्मक प्रताकों क लिए लिखा गया प्रतात हाता है उसमें विविध आनुपमिक प्रसङ्गों की याचना किसी न किसी 'माटिक' के लिए ही का गयी है। संस्कृत साहित्य में कथानक रुद्रियाँ हैं अक्षय सकिन उनका बहुलता पञ्चतत्र, कथा-सरित्सागर आदि आम्नायिकाओं तथा पुराणों में है। इसका कारण यह है कि ये आम्नायिकाएँ और पुराण मुम्मत लाक प्रचलित कथाओं पर

१ नि मोटिक इव नि स्मातेष्ट रिवायनिब्रुम एतिपेट दैट गात्र टु मेक अप ए कम्प्लीट स्टोरी—(दिव्य—दिविशनरी प्रैंड वलर लिटरचर फोक टन पृ २४७)

२ नि इम्पॉउअड नि टाक्ष इव टु शो नि वे इन हिव नैरटिव मोटिकस प्रम इन टु इन्वैशनस बनम्स (बहो प० २४८)

आधारित हैं और लोक-कथाएँ कथानक रूढ़ियों से भरी रहती हैं कथात्मक प्रतीकों के विषय में जितनी रूढ़िवादी लोक कथाएँ होती हैं, उतनी साहित्यिक कथाएँ नहीं। वहाँ हर कहानी में राजा के साथ ही रानियाँ होंगी और छोटी रानी को सभी उताही होंगी और उसी रानी का लड़का सबसे अधिक चतुर निकलेगा। रनिवास से निकाली हुई रानी के रोने पर धारे बने का राना और पत्तियाँ गिरा देना, फिर उधर से गौरा पार्वती और महादेवजी का निकलना सामान्य रूढ़ि है। यदि लोक-गीतों में सबसे 'सोने की थारी में ज्वाना' परासा जाता है, 'सोने के गड्ढा गगा-जल पानी' मरा रहता है, 'लॉंग खिली-खिली वीणा' लगाया जाता है और 'कलियाँ चुन चुन कर सेज' रची जाती है तो लोक-कथाओं में भी प्रायः हिरामन मुग्धा आता है गौरा पार्वती महादेव आते हैं, सात समुद्र पार और सात सिंधारे की भांति राजकन्या रहती है।

हिंदी के मध्ययुगीन आख्यानक काव्यों के वास्तविक मूल्यांकन के लिए उनमें व्यवहृत होने वाले कथात्मक प्रतीकों के मूल स्रोत का पता लगाना अत्यंत आवश्यक है। पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरित मानस आदि का अन्धरी तरह समझने के लिए उनमें प्रयुक्त कथानक प्रतीकों की दीर्घ परम्परा से परिचित होना जरूरी है। इस ओर ध्यान न देने के कारण ही कभी कभी इन काव्यों के बारे में विचित्र विचित्र बातें कह दी जाती हैं।

पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता को लेकर इतना बड़ा झंझाम खड़ा न होता यदि आख्यानक काव्यों की रचना में काम करने वाली कथात्मक प्रतीक योजना की प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखा जाता। उस युग में जब कि एकदम कल्पित आख्यान का आधार बनाकर काव्य-रचना की प्रवृत्ति नहीं थी और इतिहास प्रसिद्ध अथवा लोक विभूत चरित नायक के जीवन पर ही काव्य लिखने की प्रथा थी, लोक प्रचलित कथात्मक प्रतीकों का योजना में ही कवि-कल्पना का खुल खलने का अवसर मिलता था। ऐसे ही प्रसङ्गों में कवि का अपनी प्रतिभा के जोर दिखाने की छूट मिलती थी इसीलिए मध्य युग में प्रायः सभी सथाकथित ऐतिहासिक काव्यों में ऐसे काल्पनिक प्रसङ्गों का मिश्रण मिलेगा। जिस तरह आधुनिक युग में ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने अपना औपन्यासिक कौशल दिखाने के लिए कुछ मार्मिक प्रसङ्गों की कल्पना की है, उसी प्रकार प्राचीन युग में कवियों ने ऐतिहासिक काव्यों में चिराचरित कथात्मक प्रतीकों का सहारा लिया है। यह प्रवृत्ति एक ओर अपभ्रंश में जसहर चरित, शायकुमार चरित, करकड़ चरित आदि चरित काव्यों तथा श्रुपमदेव, बाहुबलि, मरत, नमिनाथ आदि क जायन से सम्बन्धित

काव्यों में देखी जा सकती है तो दूसरी ओर पृथ्वीराज रासो आदि हिंदी काव्यों में भी देखा जा सकता है।

शुक का दौलत-काय, नायिका को अप्सरा का अवतार कहना, महादेव का मन्दिर में नायक-नायिका का मिलना, सिंहल द्वीप, पल द्वारा सन्तान की उत्पत्ति, लिंग-परिवर्तन आदि बातें अनैतिहासिकता-स्रोतक नहीं बल्कि कथानक रूढ़ि के निर्वाह की सूचक हैं। पृथ्वीराज रासो ऐसी रूढ़ियों का कोश है। कभी-कभी इन रूढ़ियों के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' के मूल रूप का भी पता लगाने की चेष्टा का जाती है। लेकिन यह कार्य कितना कठिन है इसका पता इसी से चल सकता है कि इन रूढ़ियों के प्रयोग का कोई अन्त नहीं है—इनमें से कितनी चद द्वारा नियोजित हैं और कितनी दूसरों द्वारा, इसको अलगा लेना खेल नहीं है।

इसी तरह 'पद्मावत' में प्रयुक्त कथानक रूढ़ियों के विरलेपण से और भी मनोरञ्जक तथ्यों की प्राप्ति हो सकती है। मुग्धा का उपयोग कथात्मक प्रतीक के रूप में संस्कृत-साहित्य से ही होता आ रहा है, लेकिन वह मुग्धा 'हिरामन' है इसका प्रचलन अपभ्रंश से दिखाई पड़ता है। 'करकड-चरित' में पहली बार 'हिरामन मुग्धा' का नाम सुनाई पड़ता है और जायसी के यहाँ भी यह इसी नाम से परिचित कराया जाता है। मुग्धा-सम्बन्धी अन्य बातें अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती हुई मालूम पड़ती हैं अर्थात् यह कि मुग्धा पण्डित है और राज दरबार में आने से पहले यह क्रिच तरह बहेलिया द्वारा पकड़ा जाता है, और एक गुण प्राप्ति ब्राह्मण द्वारा खरीदा जाता है आदि। इस तरह 'सिंहल द्वार' भी एक 'माटिफ' है जो पता नहीं कब से कवियों के रोमांटिक देश का प्रतीक बन कर आ रहा है। वह इतना मनारम देश है कि उसमें सभी स्त्रियाँ पवित्री ही होती हैं। इसकी ऐतिहासिकता और भौगोलिकता का लेकर बहस करना बेकार है। पद्मावत में राजा रतनसेन का सालह हजार यात्रियों के साथ सात समुन्दर पार करना, महादेव का मन्दिर में पद्मावता से मिलने की प्रस्तावना करना, पद्मावती का आन पर राजा का मूर्छित हो जाना और उसके चले जान पर मूर्च्छा भङ्ग होना, महादेव का कोढ़ का रोग में आना (उस अलाकिक काढ़ो की छाया नहीं पड़ती, उस पर मक्खन नहीं बैठती, उसका पलकें नहीं गिरती), रतनसेन की बापसी में रामुद्र में तूफान का आना, पहाड़ का भङ्ग होना, एक तल्पे पर राजा और दुखरे पर रानी का बहना, अलग अलग जगहों में जाना और अन्त में अतिमानवाय शक्तियों की कृपा से मिलना आदि ऐसे 'माटिफ' हैं जो लोक-कथाओं में बहुत दिनों से चल आ रहे हैं और लोकन पर इनमें से कुछ का खान अपभ्रंश साहित्य में भी मिल जाता है। इनके दुसनात्मक अपभ्रंश से पता चलता है कि जैन-बौद्ध

ब्राह्मण आदि धार्मिक भेदों से प्रभावित काव्यों के ऊपरी भर्तों के नीचे लोक जीवन से उद्भूत एक ही चेतना अन्तःसलिला की तरह प्रवाहित थी और इनके प्रतीक लोकाभित 'मोटिक' हैं ।^१

-
- १ भारतीय साहित्य में 'मोटिक' के तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए पेंजर की टिप्पणियों से युक्त 'कथा सरिरसागर' के टानी वाले अनुवाद की और ब्लूमफील्ड द्वारा किये हुए काव्यों की । (विशय सूचना के लिए देखिए डा० दास गुप्त और दे का ससृत साहित्य का इतिहास पृ० २८-२९ की पाण्टिप्पणियों) मोटिक के सामान्य अध्ययन के लिए देखिए टामसन की 'मोटिक इडम ऑव फोक सिट्रेचर १९३२ ३७ एग० टी । हिन्दी में डा० हजारी प्रताप द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य का विकास ।'

उपसंहार

अपभ्रंश के अध्ययन और अनुशीलन का इतिहास सामान्य लोक चेतना के उदय और विकास के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। हमारी गणराज्य भावना जन्म लेने से लाफान्नुव्य होती गयी हमारा ध्यान प्राचीन और अवाचान साहित्य-भाषाओं तथा लोक-साहित्यों का आरंभ बढ़ता गया। जिस प्रकार संस्कृत भाषा और साहित्य सम्प्रदाय अनुशीलन का अभिनव उदाहरण आधुनिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का मंगलाचरण है, उसी प्रकार प्राकृत और अपभ्रंश में क्रमशः बढ़ती हुई गयी उस पुनरुत्थान की लाफान्नुव्यता का प्रमाण है। अपभ्रंश का अर्थ तब कितना साहित्य प्राप्त हुआ है उसका अधिकार निरन्तर केवल लिग्नर नेन बर्म से प्रेरित और प्रभावित है। फिर भी विभिन्न मत के आधुनिक विद्वानों की दिसलचस्पी अपभ्रंश भाषा और साहित्य में बढ़ती जा रही है क्योंकि धीरे धीरे यह मत प्रतिष्ठित होता जा रहा है कि अपभ्रंश ही वह आर्य भाषा है जो ईसा के लगभग सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण उत्तर भारत के सामान्य लोक-जीवन के परस्पर भाषा विनिमय और व्यवहार की बाली रही है। ऐसा स्थिति में जिन लोगों का अपनी मातृ भाषा, राष्ट्रभाषा तथा जातीय साहित्य के इतिहास में थोड़ी सा भी दिसलचस्पी है वह इन सब के आदि सात का पता लगाने के लिए अपभ्रंश भाषा और साहित्य की छान-बीन करते हैं। समझ है, सभी प्रादेशिक भाषाओं और साहित्यों के लिए अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य में एक समान उपादेय सामग्री न प्राप्त हो। फिर भी अनुशीलन की इस अवस्था में इसका समावनाएँ समाप्त नहीं हो जाती। कदा नहीं जा सकता कि अपभ्रंश का अभी कितना साहित्य पुस्तक भंडारों तथा विश्वरे हुए व्यक्तियों के पास दिया पड़ा है। अपभ्रंश के जा प्राय प्राप्त हुए हैं, उनमें से भी किस में कितने यह तथ्य का प्रकाशित करने का शक्ति है, यह भी अनुसंधान का विषय है। विद्वाने पचास-साठ वर्षों के अपभ्रंश सम्बन्धी अध्ययन के दृष्टान्त इतिहास का देखकर यह जा यह विश्वास बंधता है कि इस भाषा में लिखित साहित्य के पास अभी बहुत सामग्री है जो आधुनिक भाषाओं और साहित्यों के आदि काल पर प्रकाश डाल सकती है।

संस्कृत और हिंदी के तुलनात्मक अध्ययन से हिंदी भाषा और साहित्य का कितना लाभ हुआ है, उससे कम लाभ की समावना अपभ्रंश और हिंदी के तुलनात्मक अध्ययन में नहीं है। समावना ही अन्वेषण का प्रेरक शक्ति है, लेकिन

इससे आगे बढ़कर जब वह पू्यग्रह का रूप धारण कर लेती है तो वैज्ञानिक अनुशीलन में भाषा पहुँचती है। इन्हीं सब बातों का ध्यान मस्खकर इन पृष्ठों में अपभ्रंश और हिंदी का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। अध्ययन के क्रम में कहीं-कहीं पूर्ववर्ती विद्वानों की रचनाओं से उत्तर धारणा को धक्का लगा ले कन अधिकांशतः अपभ्रंश और हिंदी के घनिष्ठ सम्बन्ध की पुष्टि ही हुई है।

जहाँ तक भाषा विषयक सम्बन्धों की बात है, इस अध्ययन-क्रम में यह स्पष्ट हुआ है कि हिंदी शब्दों तथा पदों को व्युत्पत्ति का पता लगाने में अपभ्रंश का महत्व बहुत बड़ा है। पहले के भाषावैज्ञानिक जहाँ संस्कृत और हिंदी अथवा प्राकृत और हिंदी के बीच की रिक्त अस्थिति को या तो छोड़ देते थे अथवा नाना प्रकार के अनुमानों से काम लेते थे, यहाँ अपभ्रंश से उस रिक्त की पूर्ति की जा सकती है। भले ही प्रत्येक दशा में अपभ्रंश द्वारा की गयी यह पूर्ति विकास की ही सूचक न हो किन्तु उससे भी एक तथ्य की पुष्टि होती है। जैसे, शब्द काश के क्षेत्र में अपभ्रंश ने प्रायः प्राकृत का ही निधि का प्रयोग किया है, शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन करके उन्हें विशिष्ट रूप अपभ्रंश ने कम दिया है, फिर भी इससे उस युग में प्रचलित आर्य भाषा की सामान्य प्रवृत्ति का पता चलता है। इसके विपरीत हिंदी में अनेक ऐसी शब्द ज्यों के त्यों अपभ्रंश में भी मिल जाते हैं। इससे उन शब्दों की व्युत्पत्ति का पता भले ही न चल सके किन्तु इतना तो मालूम हो ही जाता है कि लोक में ऐसे शब्दों का प्रचलन काफी पुराना है। देशी शब्दों की व्युत्पत्ति का पता लगाने के लिए ध्वनिसाम्य पर संस्कृत का शब्द गढ़ने अथवा खान निकालने से कहीं शब्दा है, उसका प्राकृत और अपभ्रंश प्रयोगों का धैय-सूचक ढूँढ़ना। यही समझ कर भाषा वाले प्रकरण में कुछ ऐसे ऐसी शब्दों की सूची दी गयी है।

जहाँ तक हिंदी नाकरण का सम्बन्ध है, कुछ विद्वानों को अपभ्रंश का योग पर संदेह है। उनका कहना है कि “हिंदी की अधिकांश क्रियाएँ पृथक् पृथक् हैं, तिङन्त नहीं। ये पृथक् क्रियाएँ संस्कृत से और संस्कृत व्याकरण से बिल्कुल मिल गयी हैं, जब कि प्राकृत अपभ्रंशों से मिल नहीं पाती। वहाँ (प्राकृत और अपभ्रंश में) तिङन्त क्रियाओं का ज्ञार है। जब कि प्राकृत अपभ्रंशों का साथ हिंदी का यह मौलिक भद्र है तब उनसे इसकी उत्पत्ति कैसे!” ऐसे सन्नेहों का दूर करन के लिए तथ्यों का आधार पर दिखलाने की काशिश की गयी है कि अपभ्रंश में प्राकृत-जि क्रियाएँ प्रचलित हो गयी थीं इतक अतिरिक्त क्रियाएँ पृथक् रूपों का ज्ञार हिंदी में शुरू से ही नहीं रहा है। जायसी और तुलसी की भाषा में क्रिया के उतने ही पृथक् रूप नहीं मिलते जितने प्रसन्न और प्रसाद का भाषा में मिलते

हैं। क्रिया-रूपों की यह अस्तित्वा बहुत लम्बे विकास क्रम का परिणाम है।

यही बात हिंदी के विकारी कारक-पदों और परसगों के बारे में भी समझनी चाहिए। विविध कारकों में प्रयुक्त होने वाले हिंदी की विकारी विभक्तियाँ तथा परसग भी क्रमिक विकास के परिणाम हैं। हिंदी विभक्तियों और परसगों का इतिहास जानने के लिए अपभ्रंश का अध्ययन अनिवार्य है। हिंदी के सभी विकारी कारक-रूप तथा अधिकांश कारक परसग अपभ्रंश की ही अवस्था से होकर आये हैं।

जहाँ तक अपभ्रंश और हिंदी के साहित्यिक संबंध की बात है उसमें प्रवेश करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपभ्रंश ने उस सन्नान्त युग में भी लोक-जीवन को अपनाकर जो युगान्तरकारी कार्य किया हिंदी ने उसा को अनेक ढंग से बहुत बड़े पैमाने पर संत-भक्ति काव्य के द्वारा आगे बढ़ाया। उस युग में लोक-जीवन ने अपभ्रंश के माध्यम से अपनी गिन भावनाओं को व्यक्त किया वे कालान्तर में और भी प्रबल हुई तथा गौरवशाली प्राचीन भार-संपदा का महारा पाकर संत-भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई। हिंदी साहित्य का उदय लोक जीवन के उसी उन्मुखास की अभिव्यक्ति है और इस विषय में अपभ्रंश साहित्य उसका अपभ्रंश है। इसमें आगे बढ़कर दोनों में अनुरूपता स्थापित करने का प्रयत्न अपभ्रंश के प्रति अतिशय मोह का प्रतीक है। हिंदी साहित्य के मूल उत्स फड़ हैं उसने अनेक स्रोतों से जीवन धारा ग्रहण की है और अपभ्रंश भी उनमें से एक है। जिस हिंदी साहित्य के अन्मुखास पर संस्कृत साहित्य और ब्राह्मण संस्कृति के पुनरुत्थान को गहरी छाप है, उसे एकमात्र जैन धर्मानुमोदित अपभ्रंश साहित्य ने उत्पन्न हुआ बतलाना बहुत बड़े मत्व पर पर्दा डालना होगा।

अपभ्रंश साहित्य की जावत भावधारा के साथ-साथ उसकी कुट्ट रूप भावनाओं और प्रवृत्तियों की भी हिंदी साहित्य ने रत्ता की और धारे धारे फिर उन्हें छोड़ दिया।

भावधारा के विषय में अपभ्रंश में हिंदी का जहाँ प्रबल ऐतिहासिक संबंध है वहाँ काव्य-रूपों और छंदों के क्षेत्र में उस पर अपभ्रंश की गहरी छाप है। रूपविधान विषय-वस्तु का अपेक्षा धारे धारे बदलता है और इस विषय में रूढ़ियों का पालन अधिक दिपाई पड़ता है। यही कारण है कि हिंदी ने अपभ्रंश की काव्य-रूप-संबंधी अनेक परिपाटियों का ज्यों का त्यों और कुछ का थोड़ा सा सुधार कर स्वाकार कर लिया।

इस तरह हिंदी ने अपभ्रंश की जीवित परंपरा का, माया और साहित्य दोनों क्षेत्रों में, ऐतिहासिक विकास किया।



परिशिष्ट

अपभ्रंश-दोहा संग्रह

कालिदास (विक्रमोवशीयम्)

मद् जाणिञ्चं मिश्र-सोअणी सिंसिअरु कोइ हरेइ ।

जाव सु खव-तडि सामलो धराइरु वरिमेइ ॥ १ ॥

सरहपा (दोहाकोष)

जाव सु आय जखिज्जइ, ताव सु सिस्त करेइ ।

अर्धा अघ क्ताव तिम वेण्य वि क्व पडेइ ॥ २ ॥

खउ त बाअहि गुरु कहइ, खउ त बुअइ सीस ।

सहजामिअ-रसु सअल गु, कासु कहिज्जइ कास ॥ ३ ॥

जहि मय पवण सु सचरइ, रवि सति ग्राह पथेस ।

तहि बन् ! चित्त विसाम करु सरहँ कहिउ उपस ॥ ४ ॥

आइ सु अत सु मअ खउ, खउ मव खउ खिन्वाण ।

एहु सो परममहासुइ, खउ पर खउ अण्णाण ॥ ५ ॥

- १ जब तक मव तड़ित से मुक्त न्यामल धारापर बरसने न लगा तब तक मैंने यही जाना था कि मेरी मृगसोचनी [प्रिया] को सायब कोई निगिचर हरण शिय जा रहा है ।
- २ जब तक आप न जानिए तब तक गिण्य मत कीजिए (बनाइये) अघा अघे को निकासने का प्रयत्न करे तो दोनों ही रूप में पड़ेंगे ।
- ३ वह बचन न तो गुरु कहता है और न गिण्य ब्रह्मता है [वह] सहजामृत रस सखत जग में है; जिससे कहें और कैसे [कहें] ।
- ४ जहाँ मन और पवन [मौ] सपार नहीं करते रवि और गणि का भी प्रवेग नहीं है, हे मूढ़ धित, वहाँ विधाम करो । सरहने [यहे] उपदेग कहा है ।
- ५ [इमका] न आदि है, न मय है, और न घन है । इमका अम और निर्वाण भी नहीं है । यह वह परम महासख है [जिससे लिए] न को^२ पराया है और न अणना ।

विसत्र विसुद्धे षड रमद्, केवल सुण्य चरेद् ।
 उद्धी माह्रिअ काउ जिम, पलुटिअ तह रि पडेह ॥ ६ ॥
 जत्त वि चित्तह विष्फुरह, तत्त वि खाह सरुअ ।
 अरण तरग कि अरण जल्लु, भव सम र स म सरुअ ॥ ७ ॥
 सुण्यहि सग म करहि वुहु, जहि तहि सम चिन्तस्स ।
 तिल-नुस मत्त वि सल्लता, वेअणु करह अवस्स ॥ ८ ॥
 अक्खर बादा सअन जगु, खाहि थिरक्खर फाह ।
 ताव से अक्खर घोलिया जाव थिरक्खर हाह ॥ ९ ॥
 घरह म थक्कु म जाहि वणे, जहि तहि मण परिआण ।
 सअल्लु थिरन्तर बादि ठिअ, फहि भव कहि थिन्माय ॥ १० ॥
 अहअ चित्त-तरुअरह, गउ तिहुंघणे विरयार ।
 करुणा फुल्ली फल धरह, खाउ पत्त उअर ॥ ११ ॥

- ६ जो विशुद्ध विषयों में नहीं रमता और केवल शून्य में विचरण करता है, वह बोधित [जहाम] के काग की तरह पलट कर वहीं पड़ता है ।
- ७ जहाँ चित्त में विस्फुरण होता है वहाँ स्वरूप नहीं है । क्या तरङ्ग प्राय है और जल प्राय है ? भय के समान क्ष (शून्य) का स्वरूप होता है । पर्यात् चंचल चित्त और धारम-रूप में वही संबन्ध है जो तरङ्ग और जल में तथा भय और शून्य में है ।
- ८ तुम शून्य का संग मत करो, वस जहाँ सहाँ समता का चित्तन करो, तिल और तुप मात्र जो शक्यता भी वेदना करती है ।
वेदना (१) व्यथा (२) अनुभूति (३) ज्ञान ।
- ९ सकल जग [अति] अक्षर से बाधित है । निरक्षर कोई नहीं है । इसलिये उतना ही अक्षर घोसो जिससे निरक्षरता प्राप्त हो ।
अक्षर = शीरा नास्त्र ज्ञान ।
- १० न घर रहो न वन में जाओ । जहाँ सहाँ [रहकर] मन का परिज्ञान करो । सकल [विधातुओं में] निरक्षर [अक्षरिण प्रवाह से] बोधि स्थित है । [इसके बाहर] जहाँ जन्म है और वहाँ निर्वाण ?
- ११ [योगियों के] अद्वय चित्त क सरवर का विस्तार त्रिद्वय में है । [जसमें] बदला का फूल फल पारण करता है । [इसके अतिरिक्त] दूसरा उद्वार नहीं है ।

काण्डपा (दोहा कोष)

लाश्रह गन्ध समुन्वहद, हठ परमत्ये पयाण ।
 काटिह मग्गे एकदु जइ, हाइ शिरजण-लाण ॥ १२ ॥
 आगम-वेश्र पुराणेही परिडअ माण वहन्ति ।
 पइ विरीपले अलिअ जिम, बाड़ेगाअ भमन्ति ॥ १३ ॥
 सहने शिबल जण किअ, समरसे निअ-मण राअ ।
 सिडे सो पुण तक्खणे णउ जरमणह स माअ ॥ १४ ॥
 पइ सा गिरियर कहिअ मई, एहु सो महसुह ठाव ।
 एकदु रअणी सइज-खण, सभइ महसुह जाव ॥ १५ ॥
 जिम लाण विनिउजइ पाणिपइ, तिम धरिणी लइ चित्त ।
 समरस जाई तक्खणे, जइ पुण ते सम शित्त ॥ १६ ॥

द्वेषसेन (सावयधम्म दोहा)

ज दिज्जह तं पाविअइ, एउ ण वयण निमुदु ।
 गाइ पइएणइ खडमुसई कि ण पयच्छइ दुदु ॥ १७ ॥
 काई बहुत्तइ जपिअइ, ज अण्णणु पडिक्खु ।
 काई मि परदु ण त करइ, एहु जु वग्गह मूछु ॥ १८ ॥

- १२ लोग गर्व करते हैं कि हम परमार्थ में प्रवीण हैं [पर] करोड़ों के बीच कोई एक ही निर्जन-सोन होता है ।
- १३ आगम, वेद पुराण की ही [सर्वस्व] मानकर पंडित जन उन्हें बहम करते हैं जिस प्रकार पके हुए धीपल के बाहर ही भीरे घूमने रह जाते हैं ।
- १४ समरस में अपना मन अनुरक्त करके जिन्होंने सहज में निश्चल किया वह तत्पराणात् तिष्ठ है और उसे जरा-मरण का भय नहीं ।
- १५ मैं कहा कि यही वह गिरिवर है और यही वह महासुप्त का ठाव है । सहज क्षण की एक ही रजनी है जिससे महासुप्त प्राप्त होना है ।
- १६ जिस प्रकार पानी से सबल बिलीन हो जाता है उसी प्रकार पति [ज्ञान करिणी] गृहिणी को लेकर विस्र को समरस [भाव में] से प्राप्य तो उसी क्षण से निरथ समरस में अवस्थित हो जाय ।
- १७ जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है वह वचन क्या विगड नहीं है ? गाय को सती भूसा खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नहीं बेती ?
- १८ बहुत जल्पना करने से क्या ? जो अपने प्रतिद्वन्द्व हो उसे दूसरों के प्रति कभी न करो । यही धर्म का मूल है ।

गह्यहँ पन्थिहँ मूढ पर, तालू सुक्कह जेण ।
 एककुजि अक्खरु त पन्हु, सिवपुरि गम्मह जेण ॥३३॥
 इठ सुगुणी पिउ गिग्गुणउ, गिल्लक्खणुणीसगु ।
 एकहि अग्नि वसंतयहँ, मिलिउण्य अग्नि अगु ॥३४॥
 मूछु छुडि जो डाल षडि, कइ तह जोयामासि ।
 चीफगु पुण्यहँ जाइ बढ, विगु उट्टिय ई कयासि ॥३५॥
 छह दसण धंधह पडिय, मणहँ य किट्टिय मति ।
 एककु देउ छह मेउ किउ, तेण य माक्खह जति ॥३६॥

अब्दुर्रहमान (संदश रासक)

जसु पयसत य पयसिआ, मुइअ विओइ य जासु ।
 लज्जिज्जउ सदेसइउ, दिती पहिय पियासु ॥३७॥
 लज्जवि पंथिय जइ रहउँ, हियउ न घरणउ जाइ ।
 गाह पदिज्जसु इक्क पिय, कर लेविणु मत्ताइ ॥३८॥
 पिअ विरहानल-संतविअ, जइ यच्चउ मुरलीइ ।
 तुअ छुडिपि, हिय अट्टियह, त परिवाडि य होइ ॥३९॥

- ३ मूढ होने बहुत पड़ा जिससे तालु सुखता है । एक ही वह बसर पड़ो जिससे सिवपुरी पहुँचा जाता है ।
- ४ मैं सुगुणी हूँ और प्रिय निगुणी निर्लक्षण तथा नितंग । एक ही भंग में बंधा हुए भी भग से भग नहीं मिला ।
- ५ मूल छोड़ कर जो डाल पर चढ़ता है, उसके लिए योगाभ्यास नहीं । हे प्रिय बिना कपास छोटे खीर नहीं सुना आता ।
- ६ पट्ट वगान के धाँचे में पड़कर मन की भ्रंति नहीं दूनी । एक वेव के छ भेद किये । इसलिए भोग नहीं मिला ।
- ७ हे पयिक, जिसके प्रवास करते प्रवास नहीं किया और न जिसके वियोग में मिला ही उस प्रिय को सदन देती हुई सज्जित हो रही है ।
- ८ हे पयिक, सज्जित होकर यदि रह जाऊँ तो दुःख भी कारण नहीं किया जाता । प्रिय के सम्मुख एक गाथा पढ़ना और हाथ पकड़ कर मना लेना ।
- ९ प्रिय के विरह के घनल में सतापित होती हुई मैं यदि हृदय में स्थित तुम छोड़कर सुरलोक चली जाऊँ तो भी उचित न हो ।

कत तु तइ हिअ-यदियह, विरह विडयह फाउ ।
 सपुनिसइ मरग्याअहिउ, परपरिइव सताउ ॥४०॥
 गरुअउ परिहसु कि न सहउ, पइ पोरिस निलएण ।
 जिहि अगिहि तू विलसियउ, ते ददा विरहएण ॥४१॥
 विरह परिगह छावडइ, पहराविउ निरवभिल ।
 तुनी देह ए इउ हियउ, तुअ समाणिय भिखिल ॥४२॥
 मह ए समतिपम विरह सउ, ता अण्डुउ विलवति ।
 पाला रूअ पमाण पर, धण सार्मिदि दुम्मति ॥४३॥
 सदेसडउ सवित्यरउ, पर मइ कहणु न जाइ ।
 भो कालगुलि मूदडउ, सो बाहडी समाइ ॥४४॥
 सुन्नारह निम मइ हियउ, मिय-उकिकल करेइ ।
 विरह दुयासि । देहेवि करि, आसाजलि सिचेइ ॥४५॥
 नामिणि ज वयणिअ तुअ, त तिहुयणि णहु माइ ।
 दुक्खिहि छोइ चउग्गणी, भिज्जइ सुइसगाइ ॥४६॥

- ४० हे कत, यदि हृदय में तुम्हारे रहते हुए भी विरह काया की विडम्बना करता है (कष्ट बेता है) [तो तुम्हारे लिए सज्जा की बात है] सत्यरूपों के लिए शत्रुओं द्वारा परिभव का संताप मरण से भी अधिक होता है ।
- ४१ तुम्हारे जैसे पौंस्य क नित्य के रहते हुए यह कठोर परिभव कैसे न सहें । जिन भगों के साथ तुमने विलास किया वे विरह से राग हो रहे हैं ।
- ४२ विरह के परिग्रह (सैन्य दल आदि) ने छावड़ी (शरीर) पर निरपेक्ष भाव से (धनदेख ही) प्रहार कर दिया [जिससे] देह तो टूट गयी परन्तु तुमसे संमानित (मुक्त) देख कर हृदय घायल नहीं हुआ ।
- ४३ विरह के साथ [सघर्ष करने में] मेरा सामर्थ्य नहीं है । इसी से विलास करती रहती है । क्योंकि गोपालों का रान ही प्रमाण है, धन्या स्वामी से ही पुमाई जाती है, [धन्य से नहीं] ।
- ४४ संदेशा सविस्तर है पर मुझे कहा नहीं जाता । जो बनगुरिया की मुदरी थी वह बाह में समा जाती है ।
- ४५ मेरे हृदय को प्रिय सुनार की भांति उन्मीलित करता है, विरह के हुताग्नि में जसाकर घारा जल से सीबना है ।
- ४६ हे यामिनि तुम्हारी जो वचनीयता (निदानाश्रय) है वह त्रिभुवन में [भी] नहीं घँतो । इन्म में तो [तुम] धौगुनी हो जाती हो पर सुखसग में खीण हो जाती हो ।

सोमप्रभ (कुमारपाल प्रसिधोष)

माणि पण्डइ जर न ठणु, तो देसडा चइज्ज ।
 मा दुज्जन-कर पल्लविहि, वसिज्जतु ममिज ॥४०॥
 वेस विसिठइ धारिअइ, जइ वि मणोहर-गत ।
 गगाजल-पनलालिअनि, सुणिहि कि होइ पवित्त ॥४१॥
 रिद्धि विहूणइ माणुसइ न कुणइ कुवि संमाणु ।
 सउणिहि मुच्चउ फल रहिउ तरुवर इत्थु पमाणु ॥४६॥
 हियडा संकुद्धि मिरिय जिम, इदिय-पसर निवारि ।
 जित्तिउ पुज्जइ पगुरणु तित्तिउ पाउ पसारि ॥५०॥
 निग्मल-मुत्तिअ-हार मिसि, रइय चउक्कि पहिठ ।
 पढमु पविठइ हिय नुसु, पच्छा भवणि पविठ ॥५१॥
 पिउ हउ थक्किय सयलु दिणु नुइ विहरणि किलंत ।
 थोइइ जलि जिम मच्छलिय सल्लाविहिलि करत ॥५२॥
 मई जाणित्तं पिय विरहियइ, फवि धर होइ वियालि ।
 थयर मयकु वि तिह तवइ थिह दिणयय खयकालि ॥५३॥

- ४७ मान मष्ट होने पर यदि तन नहीं तो देना [अथवा] त्याग दीजिए । दुजन के कर-पस्तवों से बिलताए जाते हुए मत घूमिए ।
- ४८ वेशाणियों अथवा विणिणवर्याओं को धारण कीजिए, भन्ने ही वे मनोहर मात्र की हों । गंगाजल में प्रक्षालित कुतिया क्या पवित्र हो जाती है ।
- ४९ ऋद्धि विहीन मनुष्यों का कोई भी सम्मान नहीं करता । पक्षियों द्वारा छोड़ा हुआ फलरहित तद्वर इतना प्रमाण है ।
- ५० हृदय मृग को तरह इन्द्रियों का प्रसार निवारण कर तिरुडो । प्रावरण (चादर) बिना पूरा पडे जतना ही पाँच फलाओ ।
- ५१ निर्मल भोतो के हार के मिस (बहाने) प्रदृष्ट चतुष्क (चौक) रचित है । पहले उसके हृदय में पठो, पीछे भवन में प्रवेश करो ।
- ५२ प्रिय तुम्हारी विरहानि में सारे दिन तिसरती हुई मैं धर गई जैसे थोड़े जल में छापटानी हुई मछली ।
- ५३ प्रिय, मैंने समझा कि विरहणियों को विकास (संस्था) में कुछ सहारा होगा, पर यह चाद्रमा बने ही तप रहा है जैसे क्षय (प्रसय) काल में दिनकर ।

मरगय बन्नह गियह उरि गिय चंपय-मह देह ।
 कमबहद दिन्निय सहइ नाद सुबन्नह रेह ॥५४॥
 चूडउ चुना हाइसइ मुदि कवालि निहत्तु ।
 सासानलिय भलक्कियउ बाह-समिल-ससित्तु ॥५५॥
 श्रमह याडा रिउ बहुअ इउ कायर विवति ।
 मुदि निहानहि गयपनछु कइ उ-चोउ करति ॥५६॥

प्रबंध-चिंतामणि

भाला तुद्वनि कि न मुउ, कि हूउ न छारह पुउ ।
 हिरडर दारी दारियउ, जिम मकडु तिम मुउ ॥५७॥
 चित्ति विमाउ न चिनियइ, रयग्यादर गुय-पुउ ।
 जिम निम बायइ विहियडडु, तिम नचि-उर मुउ ॥५८॥
 सायक पाइ लंक गडु, गवइ दसशिर राउ ।
 मग्य पइ सो मति गउ, मुउ म करसि विमाउ ॥५९॥

- १४ मरकत वर्ण वाले प्रिय के रूप पर सपन प्रभा की दृष्टि वाली प्रिया [वैसी ही सुगोमित हो रही है] जैसी कलौगी पर बी हुई सुवर्ण की रेखा सुगोमित होनी है ।]
- १५ मुग्धा के कपोल पर आसों की छाया से सतत झोर बाध्यसत्तिल से यकन होकर चरियां बुझी (धूल बबूण) हो जायेंगी ।
- १६ हम पाठे हैं झोर गत्र बहुत हैं यह बापर ही सोचन हैं । हे मुग्धे ! देखो, गगन तन को कितने जन प्रकाशित करते हैं ।
- १७ यह मुत्र जो हम प्रकार रस्मी में बया हृषा मर्कट की तरह घुमाया जा रहा है वह [बचपन में ही] भोषी के टूट जाने से [गिरकर] क्यों न मर गया या प्राय में अपहर रास क्यों म हा गया ।
- १८ हे रत्नाकर की तरह गुण-पुत्र मुत्र ! चित्त में [हम प्रकार] शिवाद मन करो, क्योंकि द्वित प्रकार विजाना का पगह (दोष) बजाना है उमी प्रकार मनुष्य को नाशना पड़ना है ।
- १९ शार् स्वय सागर था, गढ़ सजा जैसा था और गढ़ का मातिक स्वय दस गिरवाता राबल था फिर भी भाग्य लय होने पर नज हो गया । हे मुत्र, शिवात् मन करो ।

गय गय रह गय सुरय गय, पायकडानि भिच्च ।
 सगादिय करि मतणउ, मुहुँता रुदाश्च ॥६०॥
 भाली मुधि मा गच्छु करि, विन्निवनि पडुरुवाइँ ।
 चउदह-सइ छहुत्तरइँ, मुंजह गयह गयाइ ॥६१॥
 च्यारि बइल्ला घेनु दुइ, भिडा बुलजी नारि ।
 काहुँ मुज कुडनियाइ गयपर यभइ थारि ॥६२॥
 जा मति पच्छह मग्जमइ, सा मति पभिला हाइ ।
 मुंज भणइ मुणालवर, निघन न बेणइ काइ ॥६३॥
 सउ विचह सही भणइ, बत्तीसडा हियाइ ।
 अग्गी ते नर दइदसी जे वाससइ तियाइ ॥६४॥
 उग्या साविठ जिहि न फिठ, लक्कउ भणइ तिणइ ।
 गणिया लभइ दीहडा, के दइ अहवा छड ॥ ६५ ॥
 फवणहि विरहकरालिअइ उडुविणउ वराउ ।
 सहि अच्च-मुन दिह मरं कंठि विजुलनइ फाउ ॥ ६६ ॥

- ६० गज गये, रथ गये, सुरग गये, पायक और भूय भी खने गये । महना (महामात्य) द्वापरिय भी स्वर्ग में बड़ा सामन्त दे रहा है, भयना है द्वापरिय सेहता, स्वग त्यक्त होते हुए भी सयरा दो ।
- ६१ हे भाली मुधे, इन छोटे से पाइँ (भँस के बन्धों) को देखकर गय न करो । मुंज के तो चौदह सी और दिहतर हायो प, पर वे भी खल गये ।
- ६२ जिसके घर घर बल, दो गाये और मोडा घोखने वाली ली हो, उस कुडुम्बी (जिमान) को अपने घर पर हायो बाँधने की बया जरूरत है ?
- ६३ मुज कहता है कि हे मुणालवती ! जो बुद्धि पीछे उत्पन्न होती है, वह अगर पहले ही हो जाय तो कोर विचन धाकर घेर नहीं सकता ।
- ६४ सो बित, साठ मन और बत्तीस हृदमों वाली छिपों पर जो मनुष्य विन्वात करते हैं वे दण्य होने हैं (भयना, वे मूर्ख हैं) ।
- ६५ जगे हुए [भूय] ने जो प्रताप नहीं यताया तो हे नाला यह दिन निरृष्ट रहा जाता है । गिननी करने से तो घाठ कि नस दिन मिल सकता है ।
- ६६ पति के विरह से कराद बनो हुई जितो छी ने उस बेचारे कीये को उड़ाया तो बड़ा माउघर्य मीने, है सनि, यह बेचा कि वह काक उतारे बठ में सगक रर है ।

['काक' पर इत्येय । कंठ' के काक द्वारा देह की क्षीरणा का संकेत]

एहु उम्हु नग्न गिवउ मड-निरि खगु न भग्नु ।
 निस्वर्वा तुरिन न मागिग गारी गनि न खग्नु ॥ ६७ ॥
 मान एहु गनि कंडलउ भग केहुउ पडिहाइ ।
 उरि खच्छिदि मुहि सरभतिदि राम निवड्ढा कार ॥ ६८ ॥
 मागुमडा दस दस दसा तुणियइ सोप-पमिद्ध ॥
 मह कन्तइ दक्क ज दसा श्रवरि ते चारहि लिद्ध ॥ ६९ ॥
 आसगुमद प्रभु हाश्यइ कद प्रभु कीजइ इत्थि ।
 कात्र करेवा मागुमह ताउउ मागु न अत्थि ॥ ७० ॥
 गहिवीण्ड सचराचरह जिखि निरि दिहा पाय ।
 तमु अत्यमखु शिणोसरह हाउउ होउ चिराय ॥ ७१ ॥

हेमचन्द्र (प्राकृत-व्याकरण)

दोल्ला मइ तुह थारिया मा कुरु दाहा मारु ।
 निदए गमिहा रत्तडा दडवड होइ विहाणु ॥ ७२ ॥
 विट्टीए मई मखिय तुहु मा कुरु बड्डी दिदि ।
 पुत्ति नकण्णी मल्लि जिर् मारइ हियइ पइदि ॥ ७३ ॥

- ६७ यह जन्म भागा (धर्म) गया, न के तिर पर खड्ग भान नहीं किया न तोले घाँटे पर सवारों की घोर न गौरों को गल ही लगाया ।
- ६८ भोज, बहो इसके गले में बठा कसा प्रतीत होता है । उर में सम्प्री घोर मुँह में सरस्वती की क्या सीमा धीप धी गयी है ।
- ६९ मनुष्य की दस दगायें लोक में प्रतिद्ध सुनी जाती हैं । परन्तु मेरे पति की एह ही दगा है घोर तो खोरों ने ले ली ।
- ७० या तो स्वयं घपने ही प्रभु हों या प्रभु को घपने हाय न करे । काय करने वाल मनुष्य के लिए तीतरा माग नहीं है ।
- ७१ सचराचर महीषोठ क तिर पर जित मूष ने घपने पाद (निरण) डाल उत दिनडवर का घस्त हो जाता है । होनी होकर रहनी है ।
- ७२ ह इल्हा, मैंने तुम्हें घरजा रि दीर्घ मान मन कर । रात नौड में ही खनी जायगो घोर भ्रष्ट विज्ञ हो जायगा ।
- ७३ हे बिडिया, मैंने तुमने कहा या रि इच्छि धीरी मत कर । ह पुत्रि वह घनीहार धर्षों की तरह दुश्म में प्रविष्ट होकर मारती है ।

एह ति घोड़ा एह यलि एह ति निमिआ खग ।
 एतु मखासिम जाखिअइ जो नवि बालइ वग ॥ ७४ ॥
 अगलिअ नेह निवट्टाई जोअण लकसु वि जाउ ।
 वरिस सएण वि जो मिलाइ सहि सोखइ सो ठाउ ॥ ७५ ॥
 अइहिं अइ न मिलिउ हलि अहरे अहण न पत्तु ।
 पिअ जाअन्तिदे मुह-कमलु एम्बइ सुगउ समत्तु ॥ ७६ ॥
 जे मः दिण्णा दिअहना दइए परसन्तेण ।
 ताण गणन्तिअ अंगुलिउ ज-जरिआउ नहेण ॥ ७७ ॥
 सायइ उप्परि तणु धरइ तनि धरुलइ रयणाइ ।
 सामि सुभिन्नु वि परिहरइ समाणेइ पलाइ ॥ ७८ ॥
 गुणहिं न संपइ किति पर फल लिहिआ मुजति ।
 कसरि न लहइ बाडिआवि गय लकखहिं घण्णति ॥ ७९ ॥
 वन्धहे एहइ फलई जणु फडु-पल्लव व-जेइ ।
 ता वि महदुसु सुप्रणु जिवं त उच्छणि घरेइ ॥ ८० ॥
 दूरुआणे पडिउ रल्लु अप्पणु अणु मारेइ ।
 जिह गिरि सिगहु पडिअ सिल अन्नु वि चूर करेइ ॥ ८१ ॥

- ७४ वे वे घोड़े हैं, यह वह स्वामी है, वे वे निर्मित (पैने) जाइंग हैं। यहाँ यदि [घोड़े को] बाग न मोड़े तो मनुसाई (पौरव) जानिए।
- ७५ प्रगलिन स्नेह में नियटे (पके) हुए [लोम] सालों धोवन भी जाएं और सो वर्ष में भी यदि मिलें तो हे सखि, सोख्य (मैत्री) का स्थान वही रहता है।
- ७६ हे सखि, प्रगों से प्रग नहीं मिला; प्रपर से प्रपर प्राप्त नहीं हुआ; प्रिय का मुख-कमल देखते देखते यों ही सुरत समाप्त हो गया।
- ७७ प्रवास करत हुए प्रिय ने मुझे जो दिन बिये व उन्हें गिाने हुए मेरी प्रगुत्तियां नख से जर्जरित हो गयी।
- ७८ सागर तिनके को [जल के] ऊपर धरता (रराना) है और ररनों को तल में डाल देता है। स्वामी सुभूय को भी छोड़ देता है और छतों का सम्मान करता है।
- ७९ गुणों से सम्पत्ति नहीं, परन्तु कीर्ति [मिलती है]; फल तो तिले हुए ही भोग्ये हैं। सिंह का मूसय एक बीड़ी भी नहीं मिलता, गज लानो में लरीद जाते हैं।
- ८० लोम वृक्ष से फलों को ग्रहण करत हैं और बद्ध पहलवों को छोड़ देने हैं; तो भी महान द्रम सजजन की तरह उन्हें उत्पग (गोद) में धारण किये रहता है।
- ८१ ऊँची उड़ान सेवर गिरा हुआ बल घपने ही जलों को मारता है, जैसे गिरि शू गों से गिरी हुई गिला प्रय [निसासों] को भी धर करती है।

जो गुण गोवह अप्पणा पयडा करइ परस्तु ।
 तमु इउं कलि-भुगि दुल्लनहहो बलि किज्जउ सुअणस्तु ॥ ८२ ॥
 तण्हें तरुज्जी भगि ननि तें अबड-यडि वसति ।
 अह अणु लागिवि उत्तरइ अह सह सह मज्जति ॥ ८३ ॥
 दहखु घडावइ वणि तरुहु सउण्हिह पक्क फलाइ ।
 सो वरि सुक्खु पइह गधि कण्हिह खल-ययणाइ ॥ ८४ ॥
 धवल्लु विसुरइ सामिअहो गरुआ मर पिक्खेवि ।
 इउ कि न जुत्तउ दुहुं दिशिहि खण्डइं दाण्हि करेवि ॥ ८५ ॥
 गिरिहे सिलायल्लु तरुहे फलु घेप्पइ नासावेंनु ।
 धरु मेत्तलपिण्णु माणुसह तो वि न रुच्चइ रनु ॥ ८६ ॥
 तरुहु वि वक्कल्लु फल मुण्हि परिहणु असणु लहन्ति ।
 सामिहु एत्तिउ अगलउ आयइ मिच्चु ग्हति ॥ ८७ ॥
 अगिण्णं उण्हउ होइ जगु वाए साअल्लु तव ।
 जो पुणु अगि साअला वसु उण्हतणु करं ॥ ८८ ॥

- ८२ जो अपना गुण गोवे (दियाए) घोर पराये वा [गुण] प्रकट करे कलिगुण में दुर्लभ उस सञ्जन पर मैं बलि जाऊ ।
- ८३ मूर्खों की तीसरी भगी (दशा) नहीं है; वे भ्रष्ट तट में बसते हैं । या तो लोग उनसे सागर (उनको पकड़कर) [पार] उतरते हैं या वे उनके साथ स्वयं डूब जाते हैं ।
- ८४ दय वन में शकुतियों (पक्षियों) के लिए तरुओं के पत्ते फल गड़ता है । [उनके सेवन वा] यह सुख उत्तम है, लहिन कानों में सतों के बबनों का पठना नहीं ।
- ८५ स्वामी के गुरु भार को बेचकर धवल [बल] विमूर्खा है कि मैं ही दो सख्त करके दोनों घोर क्यों नहीं जोत दिया जाता ।
- ८६ पहाड़ों से गिलातल [घोर] तरुओं से फल नि सामाण्य (बिना भेर भाव वा) प्राप्त होते हैं, तो भी मनुष्यों का घर छोड़कर घरण्य नहीं रुचना ।
- ८७ तरुओं से बल्लक घोर फल [के रूप में] परिधान घोर ध्यान (भोजन) तो मुनि भी पाते हैं, स्वामियों से भूय घादर भी पाते हैं—इनकी अविज्ञता है ।
- ८८ अग्नि से अणत् उण्य होता है घोर उसी प्रकार वायु से शीतल । पर जो अग्नि से शीतल हो उसकी उण्यता कैसे हो ?

त्रिष्विद्यं श्रारुतं जइ नि पिठ ता नि त श्राणहि अज्जु ।
 श्रग्गिणु दइत्ता जइनि । यव तो रें श्रग्गि कज्जु ॥ ८६ ॥
 त्रिष्वं जिउ उकिम लाग्रणह शिउ सामलि सिक्खेइ ।
 तिय तिरें उम्महु निअय सर खर-यत्थरि तिक्खेइ ॥ ६० ॥
 सगर-सुयहिं जु वरिणुअइ देक्खु अमहारा कंठु ।
 अइमत्तह चरंकुसइ गय कुम्मह पारन्तु ॥ ६१ ॥
 भल्ला इत्था जु मारिअा वइहिणु महारा कंठु ।
 लजेउज्जु वयसिअहु जइ मग्गा घर पुंनु ॥ ६२ ॥
 वायसु उज्जावतिअए पिउ णिठउ सइस ति ।
 अदा उलया महिहिं गय अदा पुट्ट तइ ति ॥ ६३ ॥
 कमलइ मल्लवि अलि-उलउं करि गण्डाईं महंति ।
 अमुलहमंअण जाह भलि ते । य वि दूर गणति ॥ ६४ ॥
 मग्गउ दंकिरवि निअय-वल्लु बहु पसरिअउं परस ।
 उग्गिमल्लइ सहि रेह जिउ करि कग्गालु पियसु ॥ ६५ ॥

- ८६ प्रिय यद्यपि अप्रिय-कारक है तो भी ध्यान उसे ला। ध्यान से यद्यपि धर भल जाता है तो भी उस भाग से काज है। (काम पड़ना हो है)।
- ६० श्यों-श्यों श्यामा (पीड़नी) अधिकारिक सोचनों की यक्तिमा सिलगती है श्यों-श्यों म-मथ अपने गरीं को खरे पत्थर पर तोला करता है।
- ६१ जो सकडों सुडों में बलाना जाता है उस प्रति मल-रपकांकु गगनों के कुम्भस्थलों को त्रिहीर्ण करने वाले मरे कत को देखो।
- ६२ हे बहिन, भला हुआ जो मेरा कत मारा गया। यदि भागा हुआ धर धाता तो मैं यदस्याघों (सत्वियों) में बनाती।
- ६३ वायस उड़ाती हुई [प्रिया] ने सहसा प्रिय का देखा; [देखते ही] उसके आगे बलय शूम्बी पर गिरे और आगे तइ-तइ दूर गये।
(विरह-जनित कृशना के कारण कुछ सुडियां टोमी होकर गिर पड़ीं, लेकिन पति को देखने की गुनी में सहवा वह इतनी मोी हो गई कि धारी सुडियां टूट गयीं।)
- ६४ कमलों को छोड़कर भीरे हाथियों के क म-स्थलों की इच्छा करते हैं। त्रिहें दुर्लभ को इच्छा मली लगती है वे दूरी नहीं गिनते।
- ६५ अपनी सना को भागते हुए तथा शत्रु की सेना को बढ़ते हुए देखकर मेरे प्रिय के हाथों में करवाय गति-अपना की तरह धनक उठती है।

जद तहे दुम्भ नेहदा भई नई न वि विन-तार ।
 त जिहे वझई तअरेहे जदजदः स-वग
 जई कोणजद मरिउ सर डिअड खरिउ मगु ।
 तई वहर मड-वड-निवदि कुतु पातर नगु ॥ ६७ ॥
 हिणदा एउटे सुतड वि करे कानस्वेवै कर ।
 दन्तउ हन-विदि कर्म ठवर पई विगु दुन्ध-काद ॥ ६८ ॥
 कतु नहारउ हनि मदिए निन्दर रुम्द जानु ।
 अयिदि स-पा हई हविदि वि ठाउ वि पउर वासु ॥ ६९ ॥
 जाविउ कतु न बल्लहउ घणु पगु कानु न इटडु ।
 कारिउ वि अवरर निवदिअद विर-सन मरुद किठिहु ॥ ७० ॥
 एह कुमारा एही नर एहु मारह-ठासु ।
 एहउ वर चिन्तन्ताह पच्छर हा विहासु ॥ १०१ ॥
 जद पुच्छह घर बडउर ता बझा घर आद ।
 विहनिअ-नर-अम्मुदरगु कुतु कुणार पाद ॥ १०२ ॥

- ६६ यदि उसका स्नेह टूट गया है और मेरे साथ विन-तार (हृष्टि मेन) नहीं है, तो मैं बकि सोचनों द्वारा सैकड़ों बार क्यों देखा जाता हूँ ।
- ६७ नहीं दार से दार काग जा रहा है और लडग से लडग दिग्ग हो रहा है, यहाँ भर्ने की घटा के घसे समूह में मेरा कत माग प्रकल्पित करता है ।
- ६८ हे हृदय, तबक कर पट जा । जाल क्षेत्र (देर) करने स क्या [तान] ? फिर देख कि यह हनविदि (मुषा विघाता) इन सैकड़ों दुर्षों को तेरे बिना कहां रखता है ?
- ६९ हे सला, हमारा कत निचय करके तिसमे लुट होना है उसके ठाँव लरु को पखों, दाखों, और हायों से भी तोड़-खोड़ देना है ।
- १०० सोचन जिसे प्यारा कहीं ? यन किसे इष्ट नहीं ? [विगु] परवर घा पड़ने पर विशिष्ट [पुरय] दोनों को ही वृण-सन विनता है ।
- १०१ 'यह कुमारी है, यह नर है, यह मनोरथों का स्थान है।' ऐसे सोचने-सोचने घन में मुझों का विहान हो जाता है ।
- १०२ यदि बड़े घरों को पूजने हो तो बड़े घर से रहे । विगु गिद्धनिन (दुलो) कनों का उदार करने वाले [मेरे] कत को [वर] कत में देखो ।

आयाईं लाश्रहा लोअणइ जाईं सरईं न मति ।
 अपिए दिइइ मडलिअहि पिण दिइइ विइसति ॥ १०३ ॥
 माहु वि लोउ तडणइइ यडुत्तणहो तणेण ।
 यडुण्णु परि पायिअइ हसिय माक्कलडेण ॥ १०४ ॥
 मुपुरिम क्कुह अणुहरहि भण फज्जे फवणेण ।
 पिच जिउं यडुत्तणु सहहि तिउं तिय नवहिं सिरेण ॥ १०५ ॥
 अइ ससणेही ता मुइअ अइ जीवइ निन्नेइ ।
 विहि वि पयारेहि गइअ घणु कि गजहि खल मेइ ॥ १०६ ॥
 ममर न रुण्णुणिय रण्णइइ सा दिसि जोइ म रोइ ।
 सा मासइ देसतयिअ जमु तुहुं मरहि विआइ ॥ १०७ ॥
 पइ मइ वेहि वि रणु-गयहि को णयमिदि तक्केइ ।
 केसहि लेण्णु जम-परिणिय भण मुहु का यक्केइ ॥ १०८ ॥
 पइ मल्लन्तिदे महु मरणु मईं मेल्नन्तहो तुण्णु ।
 सारस जमु णी येगला सा वि वृदन्तहा सण्णु ॥ १०९ ॥

- १०३ लोगों के ये लोचन जाति-स्मर (वृष जन्म की याद करने वाले) हैं, इसमें आन्ति नहीं; क्योंकि ये अप्रिय को देखकर सुकुलिन (बंद) हो जाते हैं और प्रिय को देखकर बिहसने लगते हैं ।
- १०४ सभी लोग घटपन के लिए तड़कड़ाते हैं, पर घटपन मुक्त हाथ (मोक्ष) से मिलता है ।
- १०५ कहो, किस प्रयोजन से सुपुण्य कर्ण (धान गिण्य) का अनुसरण करते हैं ? ज्यों-ज्यों ये घटपन पाते हैं त्यों-त्यों फिर से भुक्त होते हैं ।
- १०६ यदि वह सनेहा है तो मर गयी; अथवा यदि जावित है तो निःस्नेह है । पन्था दोनों ही प्रकार म गयी, हे खल मेघ, अब क्यों गरमते हो ?
- १०७ हे भ्रमर, धरण्य में रुनभुन मन कर और उस और देखकर मत रो । यह मासती श्वांतवित हो गयी जिसके वियोग में तू मर रहा है ।
- १०८ तारे और मेरे दोनों के रण में जाने पर जयप्री को कौन ताऊ सकता है ? यम की धरती को क्यों स परकृकर, बहो, कौन सुन से रह सकता है ?
- १०९ तुम्हें छोड़न हुये मेरा मरण है और तुम्हें छोड़ने हुये तेरा । सारस के समान जो दूर रहेगा वह वृजान्त (यम) का साध्य होगा ।

दुःखे दुःखे च किं किं बहुल-परे ।
 ५ दुःखं नान्य नैव एक नार ॥ ११० ॥
 ६ दुःखं दुःखं नरे दुःखं दुःखं सति ।
 ७ दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ॥ १११ ॥
 ८ दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ।
 ९ दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ॥ ११२ ॥
 १० दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ।
 ११ दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ॥ ११३ ॥
 १२ दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ।
 १३ दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ॥ ११४ ॥
 १४ दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ।
 १५ दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ॥ ११५ ॥
 १६ दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ।
 १७ दुःखं दुःखं नरे नरे नरे नरे ॥ ११६ ॥

- ११० तुमने हमने जो किया उसे बहुत जनों में देया । वह जनता बड़ा समर एक हो सारा में जान लिया गया ।
- १११ बाग, सुगहारी गुला-सम्पत्ति सुगहारी मनि घोर सुगहारी अनुतर (साबबाव) समा जो महिमबल में जन्म सेकर प्रत्य ना सीत सेने ।
- ११२ अपनपन लगाकर जो कोई पथिक पराये की तरह खने गये वे भी अपनप हो मुख-गैः पर न सोते होंगे, जैसे हम हैं धत वे भी ।
- ११३ मेरे कत के दो दोष हैं, हे सखी भूठ मत बोल । दान देते हूँ केवल में उबरी (बचो) हैं घोर कृभने हूँ करवात ।
- ११४ हे सखी, यदि गनु भागे हैं तो मेरे प्रिय से, घोर यदि हमारे [लोग] भाने हैं तो उसक धारे जान से ।
- ११५ हे पपीहा, पी रो घोलकर हनाग मितना रोएगा ? सुगहारी जल में (जल के विषय में) घोर मेरी बहवम में (बहलभ के विषय में)—दोनों की घागा पुरी न होगी ।
- ११६ हे पपीहा ! हे निदध ! धारंवार घोलने से क्या [साभ] ? विमल जल से सागर के भरने पर भी तू एक भी धार न पायेगा ।

आग्रहि जग्महि अग्रहि वि गारि सु दिज्जहि कंतु ।
 गय मत्तहं चत्तकुसह जा अग्मिद्ध हसतु ॥ ११७ ॥
 वलि अमत्यणि महु महणु लहुर्हूआ साइ ।
 जइ इच्छहु वहुत्तणउं देहु म मगाहु फोइ ॥ ११८ ॥
 रिहि विण्णउ पीदतु गह म धणि करहि विसाउ ।
 सइ कहदउ वेस जिव छुहु अग्घं ववसाउ ॥ ११९ ॥
 खग्ग विसाहिउ जहि लहुहुं प्रिय तहि देसहि जाहुं ।
 रण हुमिक्खे मगाए रिणु जुक्खे न वसाहुं ॥ १० ॥
 जुजर सुमरि म सल्लइउ सरला सार म मल्लि ।
 कयल जि पाविय रिहि-वसिण ते चरिमाणु म मेल्लि ॥ १२१ ॥
 ममरा एत्थु वि लिम्बइइ व वि दियहडा विलम्बु ।
 घण-अत्तलु छाया-बहुलु कुल्लइ जाम कयम्बु ॥ १२२ ॥
 प्रिय एग्गहि करे सेल्लु करि छुहुं तुहुं करवालु ।
 जं कावालयि बप्पुडा लहि अमग्गु कयालु ॥ १२३ ॥
 दिअहा जति भइप्पइहि वइहिं मनारह पच्चि ।
 ज अच्छइ त माणिअइ होसं फरतु म अच्चि ॥ १२४ ॥

- ११७ हे गौरा, इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी वह कत डोमिये जो मतवाले और त्यक्तोक्तुग (निरंकुश) गनी से हंसता हुआ था मिके ।
- ११८ बलि की अभ्यथना करने से ये मधु मय (विष्णु) भी लघु हो गये । यदि यदुष्पन चाहते हो तो दो, किसी से मांगो मत ।
- ११९ विधि बिनट जाय, ग्रह पीड़ा दे, [फिर भी] हे घग्गा, विवाद मत कर । यदि व्यवसाय मिल जाय तो सपत्ति को योग की तरह खींच लू ।
- १२० हे प्रिय, जहाँ लहूग का व्यवसाय मिले उसी देश में चलें । रण-दुर्भंग में हम भान (क्षीण) हो गये हैं, बिना युद्ध के नहीं संभलेंगे (स्वल्प होंगे) ।
- १२१ हे कुजर, सल्लखियों को मत सुमिर, और सम्बो सति मत छोड़, विधि-योग जो कबल प्राप्त हैं उन्हें घर और मान मत छोड़ ।
- १२२ हे भौरा, यहीं नीम पर कुछ दिन निरम जब तक घने पत्तों वाला छाया-बहुत कदब नहीं फूलता ।
- १२३ हे प्रिय, धन तु हाथ में सेल (भाता) धारण कर, बरपाल छोड़ दे जिसमे थापुरे वापासिक अमन्न रूपाल (लप्पर) से ।
- १२४ दिन भग्पट घले जाते हैं, मनोत्प पीछे पड़े (रह) जाते हैं । [इसलिए] जो है, उसी को मानिये, 'हीगा' वह करते हुए मत रहिए ।

इत्तर्त्तं ब्राह्मिण्यु सतसि ठित पुणु दूषासणु ब्राह्मि ।
तो हउ णाणउ एहो हरि जइ महु अगइ ब्राह्मि ॥ ११५ ॥

अिव तिर्वे निक्खा लेवि कर जइ सधि छोलिअन्नु ।
सा जइ गारिहे मुह-कमलि सरिसिम का वि लह तु ॥ १२६ ॥

अन्मडवचिउ व पयइ पेम्मु नियत्तइ जाव ।
सञ्चासण रिउ-सभवहा कर परिअत्ता वान ॥ १२७ ॥

हिअइ खुडुअइ गोरडी गयणि घुडुअइ मेहु ।
वासा-रत्ति-नवासुअइ विसमा सकहु एहु ॥ १२८ ॥

पुत्ते जाएँ कवणु गुणु अवणुणु कवणु मुपणु ।
जा मप्या की मुहडी चम्मिअइ अचरेण ॥ १२९ ॥

त तत्तिउ जल सायरहो सा तेवहु वित्थार ।
तिसइ निवारणु पणु वि न वि पर घुट्टुअइ असाक ॥ १३० ॥

अ दिट्ठउँ साम-गइणु असइहि हसिउ निसकु ।
विअ माणुस विच्छोहणक गिलि गिलि राहु मयकु ॥ १३१ ॥

- १२५ इतना धोल कर शकुनि ठहर गया; पुन दुःशासन बोलकर एह गया, "तब मैं जानू कि यह हरि है यदि मेरे भागे से बोलकर "
- १२६ जैसे जैसे तीली फिरलें लेकर यदि दागि धोला जाता तो वहाँ गोरी क मुह कमल का कुछ सादश्य पाता ।
- १२७ दो पग साथ चलकर प्रिय जब तक लौटता है (अथवा प्रेम निवाहना है) तब तक सर्वांगन (अग्नि) के रिपु (समुद्र) क पुत्र (अद्रमा) की फिरलें कल जाती हैं ।
- १२८ हृदय में गोरी खुडुअती है, गगन में मेघ घुडुअता है, बर्षा की रात में प्रवासियों क लिए यह विषम सकट है ।
- १२९ पून क जनमने से क्या लाभ और [उतरे] मरने स क्या हानि यदि धाप की भूमि गत्र स धाप सो जाय ।
- १३० सागर में वह उतना जल है और उतना उतना विस्तार है, पर [फिर भी] तथा का निवारण जरा भी नहीं होता, कबल निम्तार धू धू करता है ।
- १३१ जब सोम ग्रहण शब्दा तो अमर्त्या (कुसर्गों) निगक [होकर] हम पशों [और कहने लगें] कि प्रिय जनों का विद्रोह करने वाले को हे राहु, निगत निगत ।

श्रमीए सत्यावत्येहिं मुधिं चिर्तिजइ माणु ।
 पिए दिट्ठे इल्लाहलेण को चेअइ श्रप्पाणु ॥ १२२ ॥
 सबधु करेपिणु कधिडु मइ तसु पर समलउँ जम्मु ।
 जासु न चाउ न चारइडि न य पम्हइउ धम्मु ॥ १२३ ॥
 जइ केईइ पावीसु पिउ अकिआ कुइडु करीसु ।
 पाण्ड नवइ सरावि जिणँ सव्वगेँ पइसाणु ॥ १२४ ॥
 उअ कण्णिआर पकुल्लिअउ कचण-कति-पयाणु ।
 गोरी-वयण-विण्णिअअउ नं सेवइ वण-वाणु ॥ १२५ ॥
 ब्रासु महारिसि एउ मण्णइ जइ सुइ-सधु पमाणु ।
 मायहँ चलण नरंताह दिवि-दिवि गगा-ग्हाणु ॥ १२६ ॥
 फम समप्यउ दुइ विणु किण रयणा छुडु होइ ।
 नव-वहु वसण-लालसउ यइइ मणोरइ सोइ ॥ १२७ ॥
 आ गोरी-मुह निज्जिअउ षडलि लुक्कु मियडु ।
 अन्नु वि जो परिहविय-सणु सो क्रिणँ भवहँ निरकु ॥ १२८ ॥

- ३२ री अम्मा ! स्वस्य अक्षया-वाली सुख से मान का चिन्तन करें, प्रिय के विलाई पड़ने पर हड़बड़ी में अपान (अपनापन) कौन घेनना है !
- ३३ शपथ करके मैंने कहा कि केवल उसी का जन्म सफल है जिसका न तो त्याग न शौर्य भी न धम नष्ट हुआ है ।
- ३४ यदि किसी प्रकार प्रिय को वा सुंगी तो अकृत (अदुर्व) कौतुक बर्हंगी । पानी नये गराव (पुरवा) में जैसे [प्रविष्ट हो जाता है] मैं भी सर्वा व से प्रवेण कर जाऊंगी ।
- ३५ ओ देव ! कचन की वांति का-सा प्रराग वासा कलिबार प्रकुलित हो गया । गोरी के घदन से विनिजित (पराजित) होकर मानों धनवात सेवन कर रहा है ।
- ३६ अ्यास महर्षि यह कहते हैं कि यदि अति-गात्र प्रमाण है तो माताओं के अरणों में नवन करने वासों का दिन दिन गया एमान है ।
- ३७ दुष्ट दिन कसे समाप्त हो ? रजनी कसे शीघ्र हो ! नव वधू क बर्न की सातसा वासा वह (नायक) ये धनोरय वहन करता है ।
- ३८ ओ देव ! गोरी के मुह से पराजित होकर मयक वावस में लुक गया । और भी जो कोई [इस प्रकार] परामुन-तनु वासा है वह निगरक कसे अमण कर सकता है !

विम्याहरि तपु रपु-नगु किह टिउ मिरि आरुद ।
 निरुवम-रसु निए निअवि उरु सेमहा दिरुगु मुह ॥ १८ ॥
 मगु सहि निहुअउ तवें मरें नइ निउ दिट्ठु मदासु ।
 पव न गारुद म-मु मगु पक्खावडिअ तानु ॥ १४० ॥
 मरें मगिअउ बलिराय तुहुं फउ मगारु णु ।
 जहु तहु न वि हाद वरु सरु नारायणु एहु ॥ १४१ ॥
 जद सो घडदि प्रयावदा कयु वि लपिगु मिकुवु ।
 जेषु वि तयु वि णयु जणि मरु ता तदि मारिकुवु ॥ १४२ ॥
 जाम न निवउद कुम्म-चडि सह-चवेद-चरु ।
 ताम समत्तह मयगलहँ पर पर वज्जद ररु ॥ १४३ ॥
 विनहँ निजत्तु ताउँ पर जाउ न नह गलन्ति ।
 नेहि पणुहइ तं जि विन निल निट्ठवि खल हौति ॥ १४४ ॥
 जामहि विममा कज्ज-गइ पावह मरु एरु ।
 तामहि अउउ इयरु जगु मुअगु वि अतरु दरु ॥ १४५ ॥

- १३६ तन्वो के विवापर पर रदन-मण (दत्त लन) की धानदथी कसो स्थित है ।
 निरुवम रन पोहर प्रिय ने मानो गेव पर मुद्रा दे दो है (मुहर लगा दो है) ।
- १४० हे सखी, यदि विय सजोय रिताई पडा है तो धुन्ने निभूत (एकांन) में इस प्रकार कहो कि उसका पन्पातो मेरा मन न जान सक ।
- १४१ हे बलिराज, मैंने सुमसे कहा या कि यह कैसा मगन है ? हे मुद, यह ऐमा-सैसा नहीं है यह स्वय नारायण है ।
 गुरुकार्य का कपन ।
- १४२ यदि प्रजापति जहाँ से सीस लेकर उभे गढ़ें तो यहाँ जहाँ (जहाँ भी) इस धगन में उसके सरोवां बहो ।
- १४३ जब तक कु म-सट पर सिंह के अने की धगरु (मापान) नहीं पड़नी, तभी तब समस्त मयगलों (मनवाते गजों) के पग पग पर इरुवा (दोन) बजना है ।
- १४४ जितों का नितत्व तभी तक है जब तक स्नेह नहीं निरस जाना । स्नेह के नष्ट हो जाने पर वे ही नित नित से फटकर धन (सखी और कुष्ट) ही माने हैं ।
 निवष्ट धन्योक्ति ।
- १४५ जब नियम कार्य-यनि जीवों के मध्य में धानी है तो इनर धन तो [इनर] रहें, स्वयन भी इनर देने हैं (बचने हैं) ।

ते मुग्धा हराविभ्रा ज परिनिहा ताह ।
 अररोप्यह जोअन्ताह सामिड गमिड जाह ॥ १४६ ॥
 यम्म तं प्रिरला क वि नर जे सवरा छइल्ल ।
 ज बह्हा ते बचयर ज उअुअ तं यइल्ल ॥ १४७ ॥
 प्राइव मुणिहँ पि भतही ते मणिअह्हा गगति ।
 अत्वइ निरामइ पगम-यइ अत्र वि लउ न सहति ॥ १४८ ॥
 एसी पिउ रुसमु इउँ रुही महँ अणुणइ ।
 पगिगय एइ मणारहइ डुककक दइउ करेइ ॥ १४९ ॥
 महु कतहो गुठ डिअहा कउ मुम्भडा बलन्ति ।
 अइ रिउ-रुहिरेँ उलहवइ अइ अणगौँ न मन्ति ॥ १५० ॥
 मिय-सङ्गमि कउ निह्हा पिअहा पराक्वहो केव ।
 मई विन्नि पि विन्नासिअा निह न एम्ब न तम्ब ॥ १५१ ॥
 कन्दु शु साइहा उरमिअइ त महु खण्डिउ माणु ।
 सांहु निरक्वय गय हणइ पिउ पय-रक्व-समाणु ॥ १५२ ॥

- १४६ ये मूग व्यय गये जो जनको परोसे गये जिनके परस्पर (एक दूसरे का) जोहते हुए स्वामी पराजित हुआ ।
 जोअन्ताह = मुष्ममानाने (बेघ) ।
- १४७ हे प्रह्वर, वे नर कोई किरले ही होते हैं जो सर्वांग छल हों । जो बाँके हैं, वे बचरतर होते हैं और जो अस्तुत (सरल) हैं वे बल होते हैं ।
- १४८ प्राय मुनियों को भी प्राप्त हो जाती है, वे मजिया गिनते रहते हैं । अजय निरामय परम पद में प्राप्त भी ये लौ नहीं लगाने (लप नहीं होते)
- १४९ प्रिय माएगा, मैं रुठूँगी, सुक रुठो को वह अतुनय करेगा (मानेगा) । प्राय य मनोरथ दुक्कर (कठोर) दमित (प्रिय) करवाता है ।
- १५० मेरे कतक गोठ में रहन हुए भोवड़े कसे जलत हैं ? या तो वह रिपु व रपिर से युष्मा देता है या अपने [रुपिर] से, इसमें भ्रान्ति नहीं है ।
- १५१ प्रिय के सगम में नींद नहीं । प्रिय के परोक्ष में भी (नींद) कसो । मैं दोनों ही प्रकार जितल हूँ, नींद म यों म र्यों ।
- १५२ कंत जो सिंह से उपमित हुआ उससे मेरा मान खडित हुआ । सिंह नीरसक (रसक रहिन) गजों को मारता है [जब कि] प्रिय पररसकों-सहित [गज को] ।

चन्नु नाविउ धुवु मरगु मिश्र न्विज्जइ काई ।
 हासहि दिअहा रुसया निव्वई वरिस सदाद ॥ १५ ॥
 लाणु विलिज्जद पाणिएरा अरि खल नइ म गज्जु ।
 वालिउ गनइ नु मुम्मटा गारा निम्मद अज्जु ॥ १५४ ॥
 निहवि पण्डइ वड्डणउ रिद्धिहि जण-सामन्नु ।
 कि नि मयाउ महु विअहा सवि अणुहरइ न अन्नु ॥ १५५ ॥
 पादअद ठहि दसइद लम्मद विवहो पमागु ।
 नद आनद वा आणिएअइ अइना व वि निगागु ॥ १५६ ॥
 उउ पवसन्तो सहुं न गव न मुअ िआए तल्लु ।
 लज्जिअइ सदेसडा दिन्तहि नुअ वणुल्लु ॥ १५७ ॥
 जाण म गनउ पल्लनइ तेकनउ कइ पद दंद ।
 हिअउ विरिच्छा हउं वि पर िउ इगगरइ करेइ ॥ १५८ ॥
 हरि नचाविण पगणुद विअइ पाडिउ लाउ ।
 एम्वहि राइ-पआहणु अ भावद ठं हाउ ॥ १५९ ॥

- १५३ जीविन (प्रण) चक्षुष है, मरण प्रव है। हे प्रिय कृपिए क्यों ? कृत्तना (कृत्तने का) दिन तो तो दिव्य (दक्षनाओं के) क्यों का होगा ।
- १५४ सान पानी मे दिवा रहा है, धरे लस मेघ मन गरज । जना हुआ वह भौंवरु गल रहा है धीरे गोपे घास तीन (भोज) रही है ।
- १५५ विमत्र क नष्ट होने पर बाँपुरा धीरे श्रद्धि में जन-सामान्य [की तरह] मेरे प्रिय का मनहार बुध घोडा सा गति करना है धन नहीं ।
- १५६ उम देग में जाइए जहाँ प्रिय का प्रमाण (पना) मिन । यदि धावे तो धानिए (साइए) अथवा वह [मग] निर्वाण (सुणु) हो ।
- १५७ जो प्रवस करत हुए क सान नरो गरी धीरे न उमके विजोग में मुर् (मतो) हो, तो सद्ब्रजन को सदेग देरी हुई सजानी है ।
- १५८ आओ (जाने दो); आने हुए को मन पामो (रोरो) । दगु जितने पग देना है । दूरग में तो मैं ही निरदो होकर परो है प्रिय सेवक [जाने का] धाइवद कर रहा है ।
- १५९ हरि को प्रणय में नचाया, सोनों को विमय में कस दिया । धन राधा क पयोधरों को जो भावे सो हा ।

साव-सलोखी गारडी नखला फ वि विस-गंठि ।
 महु पचलिआ सा मरइ जासु न लगद कंठि ॥१६०॥
 मर बुत्तउं तुहुं धुव भरहि कसरहिं निगुत्ताइं ।
 पइ विगु घवल न नडइ मर एम्यइ बुन्नउ काइं ॥१६१॥
 एनकु कइअह वि न आवही अनु घइल्लउ जाहि ।
 मइं मित्तहा प्रमाणिअउ पइं जेहउ खलु नाहिं ॥१६२॥
 जिव सुपुरिस तिवैं घघलइ जिव नइ तिवैं बलग्गइ ।
 तिव डोगर तिवैं कोटरइ हिन्ना नियुरहिं काइ ॥१६३॥
 जे छुइवेविगु रम्यनिहि अप्पउ तडि घल्लति ।
 तइ सउहं विटाल पर पुक्किअन्त ममति ॥१६४॥
 निवेहि वित्तउं खाहि घत्त सचि म एनकु वि द्रम्मु ।
 का वि प्रवचउं सा पइ जेण समप्पइ जम्मु ॥१६५॥
 विहव कस्मु गिरत्तणउ जाव्णि कस्मु मरटुं ।
 सो सेखउ पठाअइ जो लग्गइ निन्वट ॥ १६६ ॥

- १६० सर्व सलोनी गोरी कोई नोखी विय की गंठ है। भट प्रत्युन (बल्कि) यह मरता है जिसके कंठ में (स) यह नहीं लगती।
- १६१ मैंने कहा सु पुरी घर; कसर (गरियार) बसों से हम तग हैं। तुम्हारे बिना ह घवल, मर नहीं चढ़ता; अब उबास क्यों हो ?
- १६२ एक तो कभी भी घाता नहीं, दूसरे [घाता है तो] तरन्त घसा जाना है। हे मित्तऊ, मैंने प्रमाणित किया कि तुम्हारे जता तत नहीं है।
- १६३ जसे सुपुरय बने म्गइल्लु जसी तदियां बसे मोइ, जसे डू गर (पहाड़) बसे कोटर। हे हृदय, यिमुरते क्यों हो ?
- १६४ जो रत्नों की निधि (सागर) को छोड़ कर अपने आपकी तर पर फँक देने हैं व गल अस्तरयों के संगम में पड़ कर फूँके जाने हुए भटवते हैं।
- १६५ हे धूर्त, दिन दिन बमाये [धन] को ला एक भो दास संघिन मत कर। कोई भी ऐसरा मय (सच) था पदेगा जिससे जम (जीवन) ही समाप्त हो जायगा।
- १६६ विभव में जिसके स्थिरता है। जीवन में जिसके मरागपन (गर्व) है। यह सख पठाया (भेजा) जाय जो निवा (प्रगाड़ भाव से) सगे।

कहि ससङ्कर कहि मयरहक कहि वरिहिणु कहि मेहु ।
 दूर ठिआहँ वि सजगहँ क्षर अमङ्गलु नेहु ॥ १६७ ॥
 कुजर अन्नहँ नर-अरहँ कुङ्कडेण घल्लइ हयु ।
 मणु पुणु एककहि सल्लइहि जइ पुच्छइ परमयु ॥ १६८ ॥
 सरिहिँ न सरेहि न सरवरेहि न नि उज्जाण-यणेहि ।
 देस खण्णा होति वत् निवसन्नेहि मुअणेहि ॥ १६९ ॥
 द्वियडा पई एहु योल्लिअओ महु अग्गइ सय-वार ।
 फुट्टिमु पिण पवसति हउ मण्डय टक्करि-आर ॥ १७० ॥
 चलेहिँ चलन्तेहि लोअणेहिँ जे तँ दिट्ठा बालि ।
 तहिँ मयरदय दडनडउ पडइ अपूरइ कालि ॥ १७१ ॥
 गयउ सु केसरि पिअहु जलु निधिन्तइ हरिणइ ।
 जसु केरए हुँकारइएँ मुहइँ पडन्ति तूणइँ ॥ १७२ ॥
 सत्यावत्यहँ आलवणु साहु वि लोउ करेइ ।
 आदन्नहँ मभासडी जो सजगु सो देइ ॥ १७३ ॥
 जइ रचसि जाइट्ठिअए द्वियडा मुद्ध-सहाव ।
 लोहँ फुट्टणएण जिअँ घणा सहेसइ ताव ॥ १७४ ॥

- १६७ कहीं गंगपर (चंद्रमा) और वहाँ मकरपर (समुद्र) । वहाँ बर्हिनु (मोर) और कहीं मेघ । दूर रहने पर भी सजगनों का प्रसाधारण स्नेह होता है ।
- १६८ कुजर घन्य तरुनों में कौतुक से हाथ (मूँड़) डालता है, यदि सब पुष्टो तो मन एक सल्लको में ही है ।
- १६९ हे मूँड़, न सरिताओं से, न सरों से, न सरोवरों से, और न उद्यानों और बनों से भी किन्तु वसते हुए सजगनों से देग रमणीय होते हैं ।
- १७० हे हृदय, तूने मेरे आगे सरुड़ों पर यह कहा था कि प्रिय के प्रवास करते समय मैं फट जाऊंगा । घरे घद्मत बठोर । घरे भएइ ।
- १७१ हे बाले, जिनको तूने बलायमान खचल सोचनों से देखा, उन पर समय के न पूरे होने पर ही (पहले ही) मकरध्वज का घाटमण हो जाता है ।
- १७२ वह केसरो गया हे हरिणो, निर्दिचन होकर जल पियो, जिसको ठूँकार [माय] से मुहों से तल गिर पडने हैं ।
- १७३ स्वस्य व्यवस्था वालों से ध्यानपन (सत्ताप) समी लोप करते हैं । लेकिन धार्त जनों को मा भयो' (धर्मय दान) जो सजगन है वही देता है ।
- १७४ हे मुग्ध स्वभाव वाले हृदय, जो जो देना उसी पर यदि रच गया (धनुरत्त हो गया) तो पटने वाले लोहे के समान घना ताप सहना पड़ेगा ।

मई जाणितैं बुझीसु हउँ पेम्म-अहि हुहुव त्ति ।
 नवरि अचिन्तिय सपडिय विप्रिय-नाय भइ त्ति ॥ १७५ ॥
 खजर नउ फसरककेहिं पिअइ नउ घुटेहिं ।
 एगवइ होइ सुहच्छडी पिणें दिटे नयणेहिं ॥ १७६ ॥
 अज वि नाहु महुजि घरि सिद्धथा वदेइ ।
 ताउ जि विरहु गवकमेहिं मस्कइ-धुग्घउ देइ ॥ १७७ ॥
 सिरि जग-खडी लोअडी गलि मणियडा न वीस ।
 तो वि गोइडा कराथिआ मुदए उट-अइंस ॥ १७८ ॥
 अम्महि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि ।
 घइ विवरीरी मुदडी होइ विण्णसहो कालि ॥ १७९ ॥
 दोल्ला एह परिहासडी अइ मण फवणहिं देसि ।
 हउ भिअउं तउ केहि पिअ ठुहुं पुणु अन्नहि रेसि ॥ १८० ॥
 सुमिरिअइ त वल्लहउं ज वीसरइ मणाउ ।
 जहि पुणु सुमरणु जाउ गउ सहो नेइहो फइ नाउ ॥ १८१ ॥
 एकसि सील-कलफिअह देअहि पच्छित्ताइ ।
 जो पुणु खयइइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें फाई ॥ १८२ ॥

- १७५ मैंने जाना था कि प्रेम के हुं (सरोवर) में मैं बूढ़ (बूढ़) जाऊँगे लेकिन विप्रिय (विरह) की नाव भट से घबडित [हप से] आ पड़ी ।
- १७६ कचर कचर थापा नहीं जाता, घूट घूट पिया नहीं जाता । ऐसी ही सुख की स्थिति होती है प्रिय के नयनों से बोल जाने पर ।
- १७७ धाम भी नाथ मेरे ही घर में सिद्धाचों (त वरों) की बदना कर रहे हैं तित पर भी विरह गवालों से भर्कट घुडकी (बदर घुडकी) दे रहा है ।
- १७८ तिर पर बरा भीण सुगरी और गल में बीस मनिया भी नहीं है, तो भी मोठ में सुग्घा ने [घटे लोगों की] उट्ट-वईस (उठक घटक) करा दिया ।
- १७९ रो धम्मा, पट्टताया हो रहा है कि विकास बेला (सग्घा समय) प्रिय से कलह कर लिया, बिनाग के समय बुद्धि विपरीत हो जाती है ।
- १८० हे बूढ़ा, ऐसा परिहास, घरे बह, किस वेग में होता है? हे प्रिय, मैं तो तुम्हारे लिए सील होती हूँ और तुम अय के लिए ।
- १८१ सुमिरिण उस यत्न की जो घोड़ा सा भूल जाय । पर जिसका सुमिरण (स्मरण) बला गया उसके स्नेह का क्या नाम ।
- १८२ एक बार नील बसबित करने वालों को प्रायश्चित्त दिये आत हूँ और जो धनुदिन तपिष्ठ करता है उसके प्रायश्चित्त से क्या ।

सामि-मनाठ सलजु पिठ सीमा-मविहि वामु ।
 पक्किमवि बाहु-बलुल्लडा घण मल्लद तासामु ॥१८॥
 पहिया णिहा गारडा णिहा मग्गु निअत ।
 अम्मसासेहि कजुआ निवुव्वाण करत ॥१९॥
 पिठ आण्ड मुअ वत्तडा मुणि कनइइ परट्टि ।
 तहा विरहहा नामउअहा घूलाट्टियावि न दिट्ट ॥२०॥
 एत्तहे तत्तहे वारि परि लब्धि विमडुल धार ।
 णिअ-वम्मह व गारटा निच्चल काह वि न ठाइ ॥२१॥
 देमुच्चाडणु मिदि-कण्णु घण-कुट्टणु न लाद ।
 मपिणए अररतिए सव्वु सइउउं हा ॥२२॥
 द्वियहा जद वरिय घणा ता कि अम्मि चडा ॥
 अम्हाहिं व हत्यहा नद पुरु मारि मराहुं ॥ २३ ॥
 रक्खइ सा पिस-हारिणा व फर पुम्मिणि जाउ ।
 पडिबिम्मिउ-मुजालु जलु जदि अडाहिउ पाउ ॥ २४ ॥

- १८३ स्वाधी का प्रसा (कृपा) है, प्रिय सनम (सखीची) है शी [शर्मों का] सीमाओं के सपि-स्वय में निवास है, इसलिये [प्रिय के] बाहुबल को देण कर घन्या नि-वास छोडती है ।
- १८४ "वयिक, गारी शीली ? " "शिली, माग जोहना हुई और आंमू सीनों से व सुट को गीला और सूना करती हुई । "
- १८५ प्रिय घाया, [यह] बात सुनी, ध्वनि कान में पडी । उसके नए हाव (भावने) विरह को घल भी न रिखी ।
- १८६ यहाँ बहो घेर द्वार पर लज्जी अस्तिर होकर दीड रही है, प्रिय से प्रअष्ट (विमुक्त) गीरी की तरह बहो भी नि-घत नहीं रहनी ।
- १-७ [अपने] देण स उघामन (उग्राडा जाना) गिनि (माग) में उबाना जाना, घन से डूटा जाना [घारि] जो लोव में होता है वट तब मनि [घनु] रक्त मबोड सही सहा जाना है ।
- १८८ हे हृदय, यदि धेरी घने (बहल) हैं तो क्या अन्न (बावत) पर अइ जाऊ ? हमारे भी हो हाव हैं, मार कर [तो] मरेंगे ।
- १८९ वह पतिहारिन [उन] दोनो हार्यों को भूमकर जोव रगनी है (जो रही है), जिनमे मूब प्रतिबिम्बित जल प्रिय को रिताया था ।

मई जाण्डिँ बुझुसु हउँ पम्म-द्रदि हुहुय त्ति ।
 नवरि अचिन्तिय सपडिय विणिय-नाय भड त्ति ॥ १७५ ॥
 खजइ नउ फसरक्केहि पिजइ नउ घुटेहि ।
 एग्वइ होइ सुहन्छडी पिए दिटे नयणहि ॥१७६॥
 अज वि नाहु महुजि घरि सिद्धत्या व-देइ ।
 ताउँ जि विरहु गवक्खेहि मक्कड-घुग्घिउ देइ ॥१७७॥
 सिरि जर-खडी लोअडी गलि मणियटा न घास ।
 तो वि गोठडा कराविआ मुदए उड-पइस ॥१७८॥
 अम्मडि पन्छायावडा पिउ कलहिअउ विशालि ।
 घई विषरीरी मुदडी होइ विणासहो कालि ॥१७९॥
 दोरुला एइ परिहासडी अइ मण कवणहि देखि ।
 हउँ भिजउ वउ केहिँ पिअ सुहुँ पुणु अ-नहि रेखि ॥१८०॥
 मुमिरिअइ तं वल्लहउँ जं धीसरइ मणाउ ।
 जहि पुणु मुमरणु जाउ गउ तहो नेइहा फइ नाउ ॥१८१॥
 एकसि धीस-कलकिअई देअहि पच्छिआइ ।
 जो पुणु खण्डइ अणुविअहु तसु पच्छिँ काइ ॥१८२॥

- १७५ मैंने जाना था कि प्रेम के हृद (सरोवर) में मैं मूड (दूर) जाऊँगे लेकिन विप्रिय (विरह) की भाव भट से प्रवर्तित [रूप से] था पड़ी ।
- १७६ बचर बचर आया नहीं जाता, घूँट घूँट पिया नहीं जाता । ऐसी ही सुख की स्थिति होती है प्रिय के भयनों से शोक जाने पर ।
- १७७ आज भी नाथ मेरे ही घर में सिद्धायों (तोषकों) की बदनाम कर रहे हैं तिस पर भी विरह गवालों से मर्कट छुडकी (बदर छुडकी) दे रहा है ।
- १७८ तिर पर नरा नीए सुगरी और गल में बीस मनिवा भी नहीं है, तो भी मोठ में सुग्गा ने [घटे लोगों को] उठ-बईस (उठक घेठक) करा दिया ।
- १७९ री अम्मा, पछतावा हो रहा है कि विकाल बेसा (खप्या समय) प्रिय से बसह कर लिया, विनाग के समय मुट्टि विपरीत हो जाती है ।
- १८० हे बूझा, ऐसा परिहास, करे बह, जिस देग में होता है? हे प्रिय मैं तो तुम्हारे लिए लीए होती हूँ और तुम अण्य के लिए ।
- १८१ मुमिरिए उस कालम जो भी घोश सा भूस जाय । पर जिसका मुमिरम (स्मरण) धसा गया उससे स्नेह का क्या नाम ।
- १८२ एक बार दोस कलकित करने वालों को प्रायश्चित्त दिये जात हैं और जो अनुदिन अपिठत करता है उससे प्रायश्चित्त तो क्या ।

सामि-पनाठ सलजु निउ सामा-सधिदि वानु ।
 पन्निवति थाहु-बलुन्लडा घउ मल्लर नासानु ॥१८॥
 पहिया दिहा गारटा निहा मग्गु निअव ।
 अमूसालेदि क्कुआ निनुवाउ करत ॥१८१॥
 निउ आरउ मुअ वत्तडा मुग्गि कन्नइर पददि ।
 तहा विरहहा नामवअहा घूलटिआवि न दिह ॥१८२॥
 एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विवदुल घा ।
 निअ-म्मह व गारहा निच्चल कह वि न ठार ॥१८३॥
 दनुन्नागु तिहि-क्कणु घण-कुट्टु न लाद ।
 मनिदुए अदरत्तिए मग्गु सह-वउँ हाइ ॥१८४॥
 द्वियडा उइ वरिअ घग्गु ता कि अन्नि चडाइ ।
 अम्हादि व हत्यडा न पुग्गु मारि मगहुँ ॥१८५॥
 रक्खद सा विम-हाग्गिया व कर चुम्बिनि पाउ ।
 पदिविग्गिउ-मुजालु जलु नदि अन्निदिउ पाउ ॥१८६॥

- १८३ स्वामी का प्रसाद (कृपा) है, प्रिय सतगुरु (सखीचो) हैं, दो [राग्यों का] सीमापारों के सधि-स्पर्ध में निवृत्त है, इसलिये [प्रिय क] बाहुबल को दण्ड कर पन्था निम्नवात छोड़नी है ।
- १८४ "वधिक, मोरी दोली" "शेखी, माग जोहना हुई और कामू सानों से कसुद को गोसा और सुआ करती हुई ।"
- १८५ प्रिय माया, [यह] बात सुनी, ध्वनि कान में पडी । उत्तर नष्ट होन (मागने) विरह की घल भी न सिखी ।
- १८६ यहाँ वहाँ घर द्वार पर लज्जो अम्बिर होकर शीघ्र रही ह; प्रिय से प्रभ्रष्ट (विमुक्त) गारी की तरह कहीं भी निम्नत मर्या रहती ।
- १-७ [अपने] देग स उषान्त (ज्वाला जाता) निनि (प्राण) में उठाना जाना, घन स कुण जाना [प्रादि] जो लोक में होना है वह सब घनि [घनु] एक मन्नीड स ही सहा जाना है ।
- १८८ हे दुःख, यदि बतौ घने (यूस) हैं तो क्या अन्न (बास्त) पर बड़ बऊ ? हमारे नो दो हाथ हैं, मार कर [तो] मरेंगे ।
- १८९ वह पतिहारिन [उन] दानो हाथों को भूमरर जीव रपनी है (जो रही ह), मिनते मूँद प्रतिविम्बिन अन् प्रिय को विलाया पा ।

गह गिछोदनि जाहि तुहुँ इउ तवेंद को दोसु ।
 द्विअय छिउ जइ नीसरहि जाणउँ मुज सरोसु ॥ १६०
 जेपि असेसु कसाय यतु देपिणु अमय जयस्सु ।
 लेनि महव्वय सिवु लइहि भाएविणु तत्तम्सु ॥ १६१
 दम दुक्कइ निअय धणु करण न तउ पडिहाइ ।
 एम्बइ सुहु मुअणइ मणु पर भुजणहिँ न जाइ ॥ १६२
 जेपि चएपिणु समय घर लेनिणु तहु पालेवि ।
 विणु सत्तेँ नित्यसरेण को सक्कइ मुअणे वि ॥ १६३
 गभिणु बाणारसिहिँ नर अइ उजेणिहि गपि ।
 मुअा परावहिँ परम-पद दिव्वंतरइ म जपि ॥ १६४
 रनि अत्यमणि समाउलेण कठि विइएणु न छियणु ।
 चक्केँ राएहु मुणालिअइ नउ जीवग्गलु दिएणु ॥ १६५
 पलयावलि निवइण भएण धण उद-मुअ जाइ ।
 वल्लइ विरइ-महादइइा थाइ गवेसइ नाइ ॥ १६६

- १६० वह छोड़कर तु जाता है तो वैसा ही हो, क्या शेष है। हृदय में दि
(हृदय में) यदि निकल जाओ तो हे मुंन, सरोप जानूँ ।
- ११ अंगप (संपूर्ण) कृपाओं (पापों) की सेना को जीतकर, जगत
[ज्ञान] देकर, महान व्रत लेकर और तत्व का ध्यान कर शिव
करत हैं ।
- १६२ अथवा धन बेना हुएकर (कठिन) है और तप करना नहीं जाता । ।
भोगने का मन [करता] है पर भोगा नहीं जाता ।
- १६३ सकल धरा का जीतना [और फिर जीतकर] श्वागता, तप को से
लेकर] प्राप्त करना — बिना शक्ति तोयेंकर (तोयकर) के [इ
में जीत [कर] सकता है ।
- १६४ धाराएसी में आकर अथवा उज्जयिनी में जाकर लोग मर कर परम
हैं, दिव्यागतों (धर्म लोगों) को व्रत कहो ।
- १६५ यदि क धत्त होने पर समानुल चक्रवाक ने मृगाल के सण्ड की का
पर दिख नहीं किया मानो [निकलते हुए] जीव के लिए धर्गता
१६६ [श्वागता क कारण] अथवाकनी के तिरने के भय से धर्मा उज्ज
(भुजा ऊपर उठाकर) जा रही है, धत्तम के विरह के महा इह (

पक्वेष्विणु मुहु चिय वरहो दाहर-नयण सलोणु ।
 णायइ गुह-मन्धुर भरिउ जलगि पयोसइ लोणु ॥ १६७ ॥
 श्र-भा लग्गा दुगरिदि पद्विउ रडन्तउ जाइ ।
 जो पहा गिरि गिलण मणु सो किं घणइ घणइ ॥ १६८ ॥
 पाइ विलगगी अन्त्रडी सिरु ल्हमिउ म्-धस्सु ।
 तो वि फटारइ हत्पडउ बलि किञ्चउ फतस्सु ॥ १६९ ॥
 सिरि च्चडिआ खंति प्फलइ पुणु डालइ मोडति ।
 तो थि महद्दुम सउणइ अवरहिउ न करति ॥ ७० ॥



- १६७ जिनवर का बीच नयनों वाला सलोना मुह देखकर भागो भरपन्त मरसर (ईर्ष्या) से भरकर सोन ज्वलन (अग्नि) में प्रवेश करता है ।
- १६८ अपभ्रंश गुरों से लगे हैं (दाघ हैं), पचिक रण्टा (रोग) हुआ जाता है कि जो इस गिरि को भी निगलने का मनवाला (इच्छुक) है वह क्या घण्टा पर कृपा करेगा ?
- १६९ पाँव में प्रतडियाँ लगी हैं, तिर शंघे से लटक गया है, तो भी हाथ बटारो पर है । [ऐसे] बल को मैं बलि जाऊँ ।
- २०० तिर पर चढ़कर फल लागू हैं, फिर डामों को मरोड़ते हैं, तो भी महान प्रम दाहुनियों (विद्वियों) का अपराध नहीं करते ।

सहायक साहित्य

संस्कृत

लालचन्द्र गांधी अथर्वश काव्यनयी, गायकवाङ् आरिष्टन
सारीज, बड़ौदा, १९२७ ई०

हिंदी

अगरचंद नाहटा वीर गाथा काल का जैन साहित्य (नागरी
प्रचारिणी पत्रिका वष ४६, अंक ३, सं०
१९६८ वि)

आचार्यप्रवर तरुणप्रभ सरि (जनल अथ दि
यू० पा हिस्टोरिकल सासायटी, वष २२,
सं० १२, १९४६ ई)

कामनाप्रसाद गुरु हिंदी व्याकरण, संशोधित संस्करण (नागरी
प्रचारिणी सभा, २००६ वि)

किशारीदास वाजपया ब्रजभाषा का व्याकरण, कनकन १९४३ ई०
हिंदी शानुशासन, नागरी प्रचारिणी
सभा, १९५६ ई

चंद्रधर शर्मा गुलेरी पुराना हिंदी (नागरी प्रचारिणी प्रचारिणी
सभा, पनमुद्रण २००५ वि०)

धारेन्द्र घमा ब्रजभाषा व्याकरण, रामनारायण लाल
इलाहाबाद, १९३७ ई०

हिंदी भाषा का इतिहास, तृतीय संस्करण,
१९४६ ई० (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद)

नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९४२ ई०
नामवर सिंह पुराना राजस्थानी (अनुवाद) नागरी
प्रचारिणी सभा १९५७ ई०

याधूराम सक्सेना दक्खिनी हिंदी हिंदुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद, १९५२ ई०

रामकुमार शर्मा	हिंदा साहित्य का आलाचनात्मक इतिहास, द्वितीय संस्करण इलाहाबाद, १९४८ ई०
रामचंद्र शुक्ल	हिंदा साहित्य का इतिहास, पंचम संस्करण, २०२ वि० (नागरी प्रचारिणा समा, काशी)
रामविलास शर्मा	भाषा और समाज, पापुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९६१ ई०
राहुल साहू-याजन	पुरातत्व निबन्धावली इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३७ ई०
	हिंदी काव्य धारा, कितान महल, इलाहाबाद, १८४५ ई०
सुनाविक्रुमार चटर्जी	राजस्थाना भाषा, उदयपुर १९४९ ई०
हजारा प्रसाद द्विवेदी	हिंदी साहित्य का भूमिका, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, यम्बई १९४१ ई
	हिंदी साहित्य का आदिकाल, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५० ई०
	हिंदा साहित्य, लिल्ला, १९५२ ई०
हजारा प्रसाद द्विवेदी एव मिश्रनाथ त्रिपाठी	सदेश रावक, हिंदा ग्रंथ रत्नाकर, यम्बई १९६० ई०
हरिवंश काल्डे	अपभ्रंश साहित्य १९५६ ई
हरालाल जैन	साययधम्मदाहा, करजा जैन ग्रंथमाला, १९५२ ई०
	पाहुङ्ग दाहा करजा, १९३३ ई०
	गुजराती
केशव का० शास्त्री	अपभ्रंश व्याकरण, अहमदाबाद, २००५ वि०
मधुसूदन चिमनलाल मादो	अपभ्रंश-वाग्जली, अहमदाबाद, १९९२ वि
	अग्नेनी और जर्मन
Alsдорफ, L	.. Apabhramsa Studien, Leipzig, 1907
Barua and Mitra	Prakrit Dhammapad, Calcutta University 1921
Bhayani, H C	Paumeariu of Sravambhu SJS Bombay 1903

- Bhayani and Sandes Rasak of Abdal Rahma
 Jin Vijaya Muni SJS Bombay, 1940
- Chatterji S K The Origin and Development of
 Bangali Language Calcutta 1926
- Ukti Vyakti Prakaran of Dima-
 der SJS Bombay 1953
- Chatterji and Varna Ratnakar of Jyotirivara
 Babuaji Misra Bibliotheca Indica 1940
- Dalal C D and Bhavisatta Kaha of Dhaupal
 Gune, P D GOS Baroda 1923
- Dasgupta S N and A History of Sanskrit Literature
 De S K (Classical period) Vol I, Cal
 cutta Univer ity 1947
- Divatia, N B Gujarati Language and Litera
 ture Poona, 1921
- Ghosh C M Prakrit Paingalam Bibliotheca
 Indica 1902
- Ghosal, S N Controversy over the significance
 of Apabhramsa & a compro
 mi e between the views of
 Jacob and Grier on
 An Enquiry into Eastern Apabh
 ramsa
 (Journal of Asiatic Society, Cal
 cutta, vol XXII, No 1 1956)
- Grierson G A Linguistic survey of India Vol I
 Part I
 On the Modern Indo Aryan Vern
 acular (Indian Antiquary LX
 LXI LXII—1931 33)
 Prakrit Dhatvadesas (Memoirs of

- the Asiatic society of P ng l
Vol VIII, No 2 1925)
- Apabhram a according to Markan
dey (JRAS B 1913)
- Hoernle R** A Comparative Grammar of the
Gaudian Languages with spe
cial reference to Eastern Hindi,
London 1880
- A collection of Hindi Root with
remarks of their Derivation and
classification. (JRASB, Vol
XLIX, Part I, 1880)
- Prakrit Lakshanam of Canda
1880
- Jacobi H** Bhavisatta kaha Von Dhanvala
Muehen, 1918
- Jain Hiralal** Navakumar caru of Puspasant
karanja 1933
Karakand caru of Kankamar
Karanja 1934
- Katre S M** Prakrit Languages, and their con
tribution to Indian Culture
Bhartiya Vidya Bhavan
Bombay 1945
- Master Alfred** Gleanings from Kubalaymala
kaha, BSOAS Vol XIII Pt 2
4 1950-51
- Mehendale M A** Historical Grammer of Inscripti
onal Prakrit DCRI Poona
1943
- Mitra K. P** Keith on Apabhramsa (Ind Ant
1930)
- Panac, M G** Linguistic Peculiarities of Jnanca
vari BDCRI Poona 1951
- Pischel R** Grammatik der Prakrit Sprachen,
Strassburg 1900

- Materialien Zur Kenntnis des
Apabhramsa, Berlin, 1902
- De : Nānamāla Von Hemchan
dia, 1880
- axena, B R Evolution of Avadhi Allahabad
1938
- n, Sukumar Comparative Grammar of Middle
Indo Aryan, (Indian Linguistics
Cl 1951)
- agare G V Historical Grammar of Apabh
ramsa DCRI, Poona 1948,
- essitori L P Notes on the Grammar of the Old
Western Rajasthan with Spe
cial reference to Apabhramsa
and to Gujarati and Marwari
Indian Antiquary 1914-16
- padhye A N Parmatm Prakas and yogsars of
Jaindu SJS 1937
Lilavati Kaha of Kouhal SJS
1949
Prakrit Literature (Encyclopedia
of Literature-Shriker, Vol I
1946)
- aidya P L Hemachandras Prakrit Gram
mar Poona 1928
Jasahar Charit of Puspadanta,
Varanasi 1931
Mahapurana of Puspadanta
MJJG Bombay, 1937-41
- ale R N Verbal Composition in Indo
Aryan DCRI, Poona 1948
- elant ar H D Jina Ratnakosa Vol I, Poona
1941
- reese K De Apabhramsa Studies (Journal
of American Oriental Society
1954, 1959)

